

[एम० ए० संस्कृतपरीक्षानिर्धारितम्]

संस्कृत-व्याकरणम्

श्रीवरदराजाचार्यकृतलघुकौमुदीस्थसमासकृदन्ततद्धित-

स्त्रीप्रत्ययतिङन्तप्रक्रियाप्रकरणैः

सहितम्

श्रीभट्टोजिदीक्षितप्रणीतसिद्धान्तकौमुदीस्थकारकप्रकरणम

तच्च

गुरुपादानां नवतीर्थ-वेद व्याकरणाचार्य डाक्तरेशाधिधारिणाम्

श्रीहरिदत्तशास्त्रिणाम्

निर्देशमनुसृत्य

सांख्यवेदान्तव्याकरणतीर्थ डॉ० श्रीनिवास शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी.

प्रो० कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी, कुरुक्षेत्र

इत्येतेन रचितया

सरलहिन्दीव्याख्यया समेतम्

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित



साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य प्रकाशक

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ—२
दूरभाष : ७७९५४ ।

प्रथम संस्करण, १९५८
संशोधित द्वितीय संस्करण, १९६५
संशोधित तृतीय संस्करण, १९६८
पुनः संशोधित चतुर्थ संस्करण, १९७३
संशोधित पञ्चम संस्करण, १९७७
संशोधित षष्ठ संस्करण, १९८०
संशोधित सप्तम संस्करण, १९८३

सरकार द्वारा निर्धारित
मूल्य अठारह रुपये पन्द्रह पैसे (१८.१५)

मुद्रक :
सर्वोदय प्रेस, मेरठ
दूरभाष : ७४३५२ ।



प्राक्कथन

व्याकरण की यह पुस्तक एम० ए० के छात्रों के लिये लिखी गई है। इसमे वयाकरणसिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी का विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे निर्धारित अंश संकलित किया गया है तथा उसकी सरल हिन्दी भाषा में व्याख्या की गई है। प्रारम्भ मे संस्कृत व्याकरण का सामान्य परिचय देकर व्याकरण सम्बन्धी विशेष संज्ञा, परिभाषा तथा शास्त्रीय शब्दों का विवेचन किया गया है। हिन्दी व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है कि सूत्रवृत्ति का अनुवाद करके उसके उदाहरण की पूर्ण प्रक्रिया संक्षेप में दिखलाई गई है। यहाँ मूल पुस्तक के मूलानुवर्ती अनुवाद की ओर इतना ध्यान नही दिया गया जितना उसकी व्याख्या पर। प्रयोगों की सिद्धि में प्रक्रिया स्पष्टतः दिखलाई गई है। सूत्रों का उद्धरण कम दिया गया है, जहाँ आवश्यक जान पड़ा वहाँ पादटिप्पणी (फुट नोट) में सूत्र दे दिया गया है। पूर्व प्रयोगों में बार-बार दिखलाई गई प्रक्रिया को प्रायेण अग्रिम प्रयोगों मे नही दिखलाया गया। संक्षेपतः इस व्याकरण में पाणिनि व्याकरण की पद्धति को सुरक्षित रखते हुए उसे नवीन ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यत्र-तत्र आधुनिक विद्वानों के मत को भी दिखलाया गया है।

यह व्याकरण व्याख्यामात्र है। इसमे जो भी तथ्य है वह उन्ही गुरुजनों की कृपा का प्रसाद है जिन्होने अद्यपर्यन्त अपने विलक्षण त्याग, तपस्या एवं प्रयास से पाणिनि की अद्भुत कृति को जीवित रक्खा है। उनके द्वारा साक्षात् या उनकी कृतियों के माध्यम से ज्ञान के कुछ कणों को प्राप्त करके इसमे संचित भर कर दिया गया है। इसमें जो दोष या अशुद्धियाँ रह गई है वह लेखक का बुद्धि-दोष ही कहा जा सकता है।

इस व्याख्या में अनेक ग्रन्थों की सहायता ली गई है कही-कही पादटिप्पणी में उनका संकेत भी दे दिया गया है। विशेषतया काशिका वृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी तथा उसकी टीका तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा का सहारा लिया गया है। आधुनिक ग्रन्थों में श्री वामन शिवराम आप्टेकृत The student guide to Sanskrit Composition. श्री मोरेश्वर रामचन्द्र काले की Higher Sanskrit Grammar, श्रीधरानन्द शास्त्री की लघुकौमुदी हिन्दी व्याख्या तथा डा० बाबूराम सक्सेना की संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका आदि ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। इनके

अतिरिक्त अन्य भी कुछ ग्रन्थों तथा विद्वानों से सहायता मिली है। गुरुवर्य श्री डा० हरिदत्त शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालिज कानपुर के निर्देश से ही मैं इस गुरु कार्य का भार वहन कर सका हूँ। साथ ही श्री डा० शिवराज शास्त्री अध्यक्ष संस्कृत-विभाग मेरठ कालिज के सत्परामर्शों ने भी समय-समय पर मेरा मार्ग प्रदर्शन किया है। इन सभी विद्वानों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इसके प्रकाशन आदि का प्रबन्ध साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री ने किया है वे भी साधुवाद के भाजन हैं।

मुद्रण की शुद्धता की ओर बहुत ध्यान दिया गया है किन्तु फिर भी कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हें विद्वानों के निर्देश से ठीक करने का प्रयास किया जायेगा। आशा है इस पुस्तक से छात्रों का यथायोग्य उपकार हो सकेगा।

गुरुपूर्णिमा वि० सं० २०१५

ब्रह्मपुरी, मेरठ

—श्रीनिवास शा[illegible]

षष्ठ, सप्तम संस्करण के विषय में

संस्कृत-प्रेमी छात्रों तथा विद्वानों ने प्रस्तुत पुस्तक का जो स्वागत किया है, तदर्थ यह लेखक उनका अत्यन्त कृतज्ञ है। जिन महानुभावों ने संशोधन, परिवर्धन आदि का परामर्श देकर अनुगृहीत किया है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही सर्वोदय प्रेस के व्यवस्थापक प्रिय राजकिशोर शर्मा भी साधुवाद के भाजन हैं, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तक को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक परामर्श दिये हैं। इस संस्करण में आवश्यक संशोधनों तथा परिवर्धनों के साथ-साथ पाणिनीय व्याकरण के इतिहास का कुछ अंश भी बढ़ा दिया गया है साथ ही कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित तिङन्तप्रकरण भी रख दिया गया है। आशा है, प्रस्तुत संस्करण छात्रों के लिये अधिक उपयोगी हो सकेगा।

मकर सङ्क्रान्ति २०३७ तथा २०३९ वि०

—श्रीनिवास शास्त्री



अथ संस्कृतव्याकरणस्थविषयाणामनुक्रमः

विषय	पृष्ठाङ्कः
१. विषय-प्रवेश	१–१६
२. कारकप्रकरणम्	१–७६
१. प्रथमा विभक्तिः	१
२. द्वितीया विभक्तिः	३
३. तृतीया विभक्तिः	२५
४. चतुर्थी विभक्तिः	३०
५. पञ्चमी विभक्तिः	४०
६. षष्ठी विभक्तिः	५२
७. सप्तमी विभक्तिः	६७
३. समासप्रकरणम्	७७–१२७
१. केवलसमासः	७९
२. अव्ययीभावः	८२
३. तत्पुरुषः	९०
४. बहुव्रीहिः	१११
५. द्वन्द्वः	१२०
६. समासान्ताः	१२५
४. कृदन्तप्रकरणम्	१२८–१८०
१. कृत्यप्रक्रिया	१२८
२. पूर्वकृदन्तम्	१३४
३. उणादयः	१५६
४. उत्तरकृदन्तम्	१६०
५. तद्धितप्रकरणम्	१८१–२७०
१. साधारणप्रत्ययाः	१८१
२. अपत्याधिकारः	१८४
३. रक्ताद्यर्थकाः	१९५
४. चातुरर्थिकाः	२०३
५. शैषिकाः	२०७
६. विकारार्थकाः	२२१
७. ठगधिकारः	२२४
८. यदधिकारः	२२७
९. छयतोरधिकारः	२३०

१० ठञधिकार २३२
११ त्वतलोरधिकार २३५
१२ भवनाद्यर्थका २४०
१३ मत्वर्थीया २४६
१४. प्राग्दिशीया २५१
१५ प्रागिवीया २५८
१६ स्वार्थिका २६५

स्त्रीप्रत्यया २७१–२९१

७ तिङन्तप्रकरणम् २९२–३७९

१ भ्वादिगण २९२
२ अदादिगण ३४५
३ जुहोत्यादिगण ३५७
४ दिवादिगण ३६४
५ स्वादिगण ३६५
६ तुदादिगण ३६७
७ रुधादय ३६९
८ तनादय ३७२
९ क्र्यादय ३७६
१० चुरादय ३७८

८ ण्यन्तादिप्रकरणम् ३८०–४३१

१ ण्यन्तप्रक्रिया ३८०
२ सन्नन्तप्रक्रिया ३८४
३ यङन्तप्रक्रिया ३८८
४. यङ्लुक्प्रक्रिया ३९३
५ नामधातव ३९७
६. कण्ड्वादय ४०४
७ आत्मनेपदप्रक्रिया ४०५
८. परस्मैपदप्रक्रिया ४१२
९. भावकर्मप्रक्रिया ४१३
१०. कर्मकर्तृप्रक्रिया ४२५
११. लकारार्थप्रक्रिया ४२७

९. सूत्राणाम् अकारादिवर्णानुक्रम ४३३–४४६

विषय-प्रवेश

१. संस्कृत भाषा तथा व्याकरण—

संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिये व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है, यह सर्वविदित ही है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में व्याकरण को अधिक महत्त्व भी दिया गया है। इसी हेतु संस्कृत में विविध पद्धतियों में अनेक व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई थी। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण ऐन्द्र-व्याकरण था। डाक्टर बर्नेल ने भी इस मत की पुष्टि की है।[1] इसके अतिरिक्त पाणिनि से पूर्व आपिशलि काशकृत्स्न, शाकल्य तथा शाकटायन आदि आचार्यों के भी व्याकरण थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे इन आचार्यों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। पाणिनि-व्याकरण का उदय होने पर उस समय तक के प्रायः सभी व्याकरणों की स्मृति-मात्र शेष रह गई। आगे चलकर पाणिनि-व्याकरण का व्यापक साम्राज्य होने पर भी कुछ नवीन व्याकरण पद्धतियाँ प्रचलित हुई। वे पाणिनि-व्याकरण की जटिलता तथा विस्तार के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र थीं। उनमें शर्ववर्मा का ऐन्द्र-व्याकरण के आधार पर रचा हुआ 'कातन्त्रव्याकरण' (प्रथम शताब्दी) तथा बौद्धपण्डित चन्द्रगोमी का 'चान्द्रव्याकरण' (४८० ई०) प्राचीन हैं। इनके पश्चात्, जैनव्याकरण का समय है किन्तु इन व्याकरणों का पठन-पाठन में विशेष स्थान न रहा। मध्ययुग (१२, १३वीं शताब्दी) की केवल दो व्याकरण पद्धतियाँ ही ऐसी हैं जिन्होंने पाणिनि व्याकरण के संशोधन का प्रयास किया, इसे अत्यन्त सरल और संक्षिप्त करने में कोई प्रयत्न उठा न रक्खा। उनमें से एक 'सारस्वत व्याकरण' है जिसमें ७०० सूत्र हैं और दूसरा बोपदेव का 'मुग्धबोध व्याकरण' है जिसमें १२०० सूत्र हैं। सारस्वत व्याकरण की सारस्वत-चन्द्रिका टीका विशेष महत्त्व की है। इन दोनों पद्धतियों का प्रचलन बहुत से प्रदेशों में रहा और अब भी जहाँ-तहाँ इनका पठन-पाठन प्रचलित है।

२. पाणिनि व्याकरण का सामान्य परिचय—

संस्कृत व्याकरण की समस्त पद्धतियों में पाणिनि व्याकरण का सर्वोपरि स्थान है। विकास क्रम की दृष्टि से इसके तीन युग माने जा सकते हैं—

(१) प्रथम युग—(लगभग ५०० ई० पू० से ईसा की प्रथम शताब्दी तक) मौलिक रचना तथा विवेचन का समय।

(२) द्वितीय युग—(१३०० ई० तक) टीकाओं का समय।

---

१. बाबूराम सक्सेना, प्राक्कथन, संस्कृत व्याकरण-प्रवेशिका।

(३) तृतीय युग—(१३०० ई० से आगे) प्रक्रिया तथा शास्त्रार्थ का समय ।

प्रथम युग पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का समय है। इन तीनो के द्वारा ही पाणिनि व्याकरण का ढांचा तैयार हुआ था। इन तीनो को ही व्याकरण शास्त्र मे 'मुनित्रय' कहा जाता है।[1]

प्रथम युग मुनित्रय

आचार्य पाणिनि (७०० ई० पू० तथा ३५० ई० पू० के मध्य)—पाणिनि के समय के विषय मे विद्वानो का मतभेद है। वेबर तथा मैक्समुलर के अनुसार पाणिनि का समय ३५० ई० पू० है। डा० गोल्डस्टुकर तथा भण्डारकर ने उनका समय ५०० ई० पू० माना है। प० सत्यव्रत सामश्रमी ने २४०० ई० पू० बतलाया है तो प० युधिष्ठिर मीमासक २८०० वि० पू० बतलाते हैं। सभी विद्वानो ने अपने मत की पुष्टि के लिये युक्ति तथा प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। फिर भी यह निश्चित रूप मे कहना कठिन है कि पाणिनि का समय क्या है।

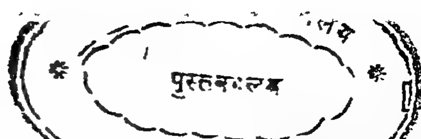
त्रिकाण्डशेष कोश मे पाणिनि के ६ नामो का उल्लेख किया गया है ? पाणिनि पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय तथा आहिक। इनमे से पाणिनि नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिने) तथा शालातुरीय शब्दो का भी प्रयोग मिलता है। दाक्षीपुत्र, शब्द से विदित होता है कि उनकी माता का नाम दाक्षी था। शालातुरीय शब्द से पता चलता है कि पाणिनि या उनके पूर्वज शालातुर नामक ग्राम के रहने वाले थे। विद्वानो का कथन है कि पश्चिमी पञ्जाब के अटक जिले मे विद्यमान 'लाहुर' नामक ग्राम ही प्राचीनकाल मे शालातुर कहलाता था। पाणिनि के जीवन वृत्त के विषय मे अधिक ज्ञात नही है। पञ्चतन्त्र के एक श्लोक के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि उनकी मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी। परम्परा के आधार पर यह भी माना जाता है कि उनकी निधन तिथि त्रयोदशी है।

पाणिनि की प्रतिभा अनूठी थी। वे संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा पर उनका अनुपम अधिकार था। वे तात्कालिक भूगोल तथा इतिहास आदि के भी पण्डित थे। मुनियो तथा विद्वानो ने उनके प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है। महाभाष्यकार का कथन है कि उनके सूत्रो मे एक वर्ण भी अनर्थक नहीं। काशिकाकार कहते हैं कि सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है—सूक्ष्मेक्षिका सूत्रकारस्य।

पाणिनि की रचनाओं मे अष्टाध्यायी या पाणिनीयाष्टक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का अनुपम रत्न है। विश्व की किसी भाषा मे इसके जोड़ का व्याकरण नही बना। इसमे आठ अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय का विभाजन चार-चार पादों मे किया गया है तथा समस्त ग्रन्थ मे ३९९५ सूत्र हैं। पाणिनि ने इस लघुकाय ग्रन्थ मे संस्कृत जैसी विस्तृत भाषा का पूर्णतया विश्लेषण करने का प्रयास किया है। उनकी विवेचना वैज्ञानिक है, शैली संक्षिप्त, सांकेतिक तथा संयत है। इस

---

1. मुनित्रय नमस्कृत्य। सिद्धान्तकौमुदी पृ० १



ग्रन्य का क्रम भी अनूठा है। प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा और परिभाषा प्रकरण हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा विभक्तिप्रकरण, तृतीय में कृदन्तप्रकरण, चतुर्थ तथा पञ्चम में स्त्रीप्रत्यय और तद्धितप्रकरण हैं। षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में सन्धि, आदेश तथा स्वरप्रक्रिया आदि के विविध प्रकरण हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ तथा गणपाठ भी आचार्य पाणिनि की कृतियाँ हैं। यास्काचार्य ने पाणिनि से पूर्व सभी शब्दों को धातुज मानकर उनके निर्वचन का जो प्रयास किया था, उसी मत का अनुसरण करते हुए पाणिनि ने लगभग २००० मूल शब्दांशों (Verbal root) की उद्भावना की थी जो धातु कहलाती हैं। धातुपाठ में इन्हीं का संग्रह है जिन्हें भ्वादिगण आदि १० गणों में विभक्त किया गया है। संक्षिप्त सूत्रों से काम चलाने के लिए गणपाठ की रचना की गई है। जब अनेक शब्दों के विषय में एक ही बात, संज्ञा, प्रत्यय विधान आदि कहनी हुई तो एक गण या समूह गणपाठ में दे दिया गया तथा गण के प्रथम शब्द से 'आदि' जोड़कर सूत्र बना दिया, जैसे—सर्वादीनि सर्वनामानि १/१/२७, यहाँ 'सर्व' से लेकर 'किम्' तक सर्वादिगण प्रस्तुत किया गया है। (देखिये गणपाठ)

उणादिसूत्र को भी पाणिनिकृत बतलाया जाता है। वस्तुत. यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् ३/३/१' सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना विवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने पाताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत भाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों की समीक्षा करके एक ऐसे व्यवस्थित व्याकरण की रचना की है जिसमें संस्कृत भाषा के टकसाली रूप का विश्लेषण किया गया है। पाणिनि ने व्याकरण के सर्वसम्मत नियमों के साथ-साथ पूर्ववर्ती वैयाकरणों के विशिष्ट मतों का भी उल्लेख किया है जैसे 'लोपः शाकल्यस्य ८/३/१९, अवङ् स्फोटायनस्य ६/१/१२३' इत्यादि। पाणिनि-व्याकरण संस्कृत भाषा की अमूल्य निधि है। इस विचित्र रचना का उदय होने पर प्राचीन व्याकरण लुप्तप्राय हो गये। कोई उत्तरवर्ती व्याकरण भी पाणिनि व्याकरण के समक्ष ठहर न सका।

कात्यायन (५०० ई० पू० से ३०० ई० पू० के मध्य)

कात्यायन मुनि व्याकरण शास्त्र में वार्त्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें वररुचि नाम से भी जाना जाता है। उनके समय का निर्धारण भी विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। प्रायः आधुनिक विद्वानों ने उनका समय ५०० ई० पू० तथा ३०० ई० पू० के मध्य माना है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि उनका समय

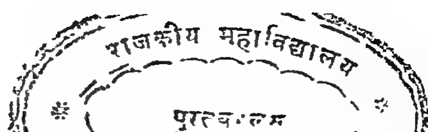
विक्रम पूर्व २७०० वर्ष है। एक वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं। 'प्रियतद्धिता. दाक्षिणात्या'। इस कथन से यह अनुमान किया जाता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

कात्यायन का भाषाविषयक ज्ञान अगाध था। उनकी दृष्टि एक समीक्षक की दृष्टि थी। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करके उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है तथा अष्टाध्यायी के लगभग १५०० सूत्रों पर लगभग ४००० वार्तिक लिखे हैं। इस आलोचना में कहीं दृष्टि भेद मात्र है कहीं केवल प्रौढिवाद है और कहीं भूल भी सम्भव है जिसकी ओर महाभाष्य पतञ्जलि ने संकेत भी किया है। उदाहरणार्थ, वार्त्तिककार ने 'ऋलृक्' प्रत्याहार सूत्र में लृकार (लृवर्ण) का रखना अनावश्यक बतलाया है—लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान किया है; किन्तु महाभाष्यकार ने वार्त्तिककार की युक्तियों की समीक्षा करके यह निर्णय किया है कि लृकार का प्रत्याख्यान अनेक प्रकार की कल्पना करके ही किया जा सकता है। फलत महाभाष्यकार ने वार्त्तिककार का उपहास करते हुए उनकी भूल की ओर संकेत किया है।

पाणिनि व्याकरण के विकास और परिष्कार में कात्यायन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को अधिक तथ्यानुकूल एवं समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है तथा इसकी अपूर्णता को दूर किया है। वार्त्तिककार के वचनों में भाषा के विकास की झलक देखी जा सकती है। उनकी आलोचना में अनुसन्धान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वार्त्तिककार की इस प्रवृत्ति में किसी दुर्भावना की खोज करना उचित नहीं प्रतीत होता। डा० बेलवल्कर का यह मन्तव्य नितान्त सत्य है कि 'कात्यायन के वार्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है।'

पतञ्जलि (२०० ई० पू० तथा प्रथम ई० शती के मध्य)

पतञ्जलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अत वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डा० बेलवल्कर ने उनका समय १५० ई० पू० माना जाता है। इस मत का आधार यह है—महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्र याजयाम' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। फलत वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय १५० ई० पू० माना है। अत पतञ्जलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय १२०० ई० पू० के लगभग होना चाहिये। इसलिये पतञ्जलि का समय भी यही होगा।



विषय-प्रवेश

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः कहीं-कहीं उनके लिये फणिभृत्, अहिपति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपने मत प्रकट करते हुए 'गोनर्दीय' शब्द का प्रयोग किया है—'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय-बैल अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं अतः विशेष रूप से नाद करते हैं (आधुनिक पञ्जाब तथा हरयाणा आदि) सम्भवतः यही प्रदेश पतञ्जलि का निवास स्थान रहा होगा।

पतञ्जलि ने पाणिनि के मुख्य-मुख्य सूत्रों तथा कात्ययन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतञ्जलि के मतानुसार जिस भगवान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष-दर्शन का दुस्साहस कैसे किया जा सकता है? वार्त्तिककार के वार्त्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है। साथ ही सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुये अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों से भी अधिक पतञ्जलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतञ्जलि का ही कार्य है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ही पतञ्जलि का कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्युत शैली की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वोपरि है। उन्होंने रोचक शैली तथा प्रवाहमयी भाषा में व्याकरण के सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण जैसे नीरस माने गये विषय को इतनी सरल एवं सरस शैली में स्पष्ट रूप से समझाना पतञ्जलि की अद्वितीय विशेषता है। इनकी शैली में नाटकीयता है, यत्र-तत्र रोचक सम्वादों के दर्शन होते हैं। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का लालित्य उपलब्ध होता है। हाँ, शैली की सरसता एवं रोचकता में कभी-कभी यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि महाभाष्यकार का स्वमन्तव्य वस्तुतः क्या है।

व्याकरण के अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अनेक विषयों के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। उससे भारतीय इतिहास के कितने ही विवादास्पद सन्दर्भों पर नवीन प्रकाश पड़ता है, तत्कालीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का परिचय मिलता है। किञ्च, व्याकरण-दर्शन के विशिष्ट मन्तव्यों का बीज भी महाभाष्य में विद्यमान है। इसी के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन का विशद विवेचन किया है। महाभाष्य व्याकरण का आकर ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ सरल भाषा में सूक्ष्म एवं गहन अर्थ को प्रकट किया गया है। अतः चिरकाल से गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा महाभाष्य के मर्म

को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं। उनमें से कतिपय टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध रही हैं। भर्तृहरि ने 'महाभाष्य दीपिका' नामक एक टीका लिखी थी जिसका कुछ अंश ही उपलब्ध हो सका है। आज तो महाभाष्य के मर्म को समझने के लिये कैयटकृत 'प्रदीप' तथा नागेशकृत 'प्रदीपोद्योत' नामक टीकाएँ ही विशेष सहायक समझी जाती हैं।

द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ-साथ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरल टीका-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिये। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गये। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी। वामन तथा जयादित्य (६६० ई०) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक वृत्ति लिखी। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्या की। इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन भी प्रारम्भ हो गया। भर्तृहरि (६५० ई०) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया। इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है।

भर्तृहरि—(सप्तम शताब्दी)

भर्तृहरि का संस्कृत-व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है। व्याकरण के मुनि-त्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है। फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है। अनेक विद्वान् इत्सिंग नामक चीनी-यात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तमी शती ई० का उत्तरार्ध मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिंग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिये।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तृहरि के गुरु वसुरात थे। 'प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागम-सग्रह' इस श्लोक की अवतरणिका में पुण्यराज ने लिखा है—'तत्र भगवता वसुरात-गुरुणा ममायमागम सज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत।' इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तृहरि बौद्ध था उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि वैदिक मत के अनुयायी थे।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्' इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में भी उनकी वेद के प्रति आस्था दिखलायी देती है।

भर्तृहरि की रचनाएँ—संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त 'वेदान्तसूत्रवृत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तृहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के रचयिता एक ही भर्तृहरि हैं, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न हैं, किञ्च भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तृहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तृहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका—महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण २५००० श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है—'संहितसूत्र-भाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्'। आधुनिक युग में डा० कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय—यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं—ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दृष्टि से विवेचन किया गया है [वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।]

इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं हैं। उनका विशिष्ट महत्त्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण-दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण-दर्शन के मन्तव्य यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप में तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

तृतीय युग

तृतीय युग मे पाणिनि व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषय-विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रो की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव मे इस युग मे शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रो के विवेचन पर कम। इस दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास विमल सरस्वती (१३५० ई०) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (१५ वी शती) ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी। प्रक्रिया-युग मे सब से महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजिदीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थो मे 'वैयाकरण भूषण' उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजिदीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजिदीक्षित—(१६ वी शताब्दी ई० के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ-मनोरमा की टीका 'शब्दरत्न' के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'प्रौढमनोरमा-खण्डन' नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' मे शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थल पर इन्होने अप्पय्य दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या० शा० का इतिहास पृ० ४४७)।

वेलवल्कर ने भट्टोजिदीक्षित का समय १६००–१६५० ई० माना है। कुछ विद्वान् इनका समय १५८० ई० (१६३७ वि० स०) के लगभग मानते हैं। प० युधिष्ठिर मीमासक ने कतिपय प्रमाणो के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म-काल वि० स० की सोलहवी शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिये।

भट्टोजिदीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजिदीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर 'शब्दकौस्तुभ' नामक एक वृत्ति लिखी थी। आज इस वृत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्यायी ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसीलिये इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई थीं। सम्भवत पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कौस्तुभ-खण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी—भट्टोजिदीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह 'शब्द कौस्तुभ' के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजिदीक्षित ने स्वय ही इस पर प्रौढमनोरमा नाम की टीका लिखी है। सिद्धान्त-कौमुदी को प्रक्रिया-पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व जो प्रक्रिया

ग्रन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है, इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरण का विश्लेषण करके वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमञ्जरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिभाषाओं, वार्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामञ्जस्य दिखाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गई। कालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्तकौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे न छोड़ सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजिदीक्षित की ३४ कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठनिर्णय" नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि-व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित है :—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में नव्य-न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट—(१७ वीं तथा १८ वीं शती ई०)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन वृत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनश्रुति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। शब्देन्दुशेखर के मङ्गल से विदित होता है कि उनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था— शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भज'। नागेश भट्ट के पूर्वज 'उपाध्याय' कहलाते थे। मङ्गल श्लोक में बतलाया गया है कि नागेशभट्ट शृङ्गवेरपुर के राजा राम के आश्रित थे—शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविक.। विद्वानों का विचार है कि शृङ्गवेरपुर को आजकल सिंगरौरा कहा जाता है, यह प्रयाग से कुछ मील पर स्थित है। (परमलघुमञ्जूषा बड़ौदा १९६१ भूमिका)। लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि उनके कोई सन्तान न थी, शब्देन्दुशेखर को पुत्र और मञ्जूषा को कन्या मानकर उन्होंने शिव को अर्पित किया था—

शब्देन्दुशेखर पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥

जनश्रुति है कि वे षोडश वर्ष की आयु तक अशिक्षित रहे। एक बार अपनी अशिष्टता के कारण उन्हे पण्डितो की भर्त्सना सहन करनी पड़ी, जिससे उनके जीवन की दिशा बदल गई। तभी वे सरस्वती देवी की भक्ति म लग गये और सरस्वती के वरदान से विद्वान् हो गय। उन्होंने हरिदीक्षित (भट्टोजि के पौत्र) से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था और 'राम-राम' नामक विद्वान् से—जो वादी रूपी राक्षसो के संहार म राम के समान थे—न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था—

अधीत्य फणिभाष्याब्धि सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्।
न्यायतन्त्र रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामत॥

वैयाकरणो मे किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का १८ बार गुरमुख से अध्ययन किया था (स० व्या० का इतिहास)। नागेश विविध विषयो के विद्वान् थे—व्याकरण, दर्शन, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र सभी के प्रकाण्ड पण्डित थे।

समय—आश्चर्य की बात है कि आज से लगभग २५० वर्ष पूर्व विद्यमान नागेश भट्ट का समय भी निश्चित नहीं है। उनके समय का निम्न आधारों पर अनुमान किया जाता है—(i) जनश्रुति है कि जयपुर के महाराज जयसिंह ने एक अश्वमेघ यज्ञ किया था और उसम नागेश भट्ट को (१७१४ ई० मे) निमन्त्रित किया था, किन्तु नागेश भट्ट न उस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे इस समय तक सन्यास ग्रहण कर चुके थे। (ii) भानुदत्तकृत रसमञ्जरी पर नागेश भट्ट की एक

टीका है, जिसकी हस्तलिपि इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका लेखन काल सं० १७६६ (१७१२ ई०) है। (iii) वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र बाल शर्मा जो नागेश भट्ट का शिष्य था उसने हेनरी टामस कोलब्रूक की प्रेरणा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। कोलब्रूक १७८३–१८१५ ई० तक भारत में रहा। फलतः नागेश भट्ट का समय १७वीं शताब्दी ई० के अन्त तथा १८वी शताब्दी ई० के आरम्भ में है। (विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० का इतिहास)।

नागेश भट्ट की कृतियाँ—

नागेश भट्ट की व्याकरण-सम्बन्धी रचनायें हैं—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा और स्फोटवाद।

डा० वेलवल्कर का विचार है कि प्रौढ़मनोरमा की टीका शब्दरत्न जो हरिदीक्षित के नाम से प्रसिद्ध है वह भी नागेश भट्ट की ही कृति है। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी नागेश भट्ट के ग्रन्थ हैं, जैसे काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर उद्योत नाम की टीका है, रसगङ्गाधर तथा योगसूत्र पर भी व्याख्यायें हैं।

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय विशेषकर व्याकरण शास्त्र नागेश भट्ट के द्वारा गौरवान्वित हुआ है। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के मर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है, उन्होंने मञ्जूषा ग्रन्थ में व्याकरण दर्शन का विशद विवेचन किया है। इस विवेचन में वेदान्त की हृदयग्राह्यता है और न्याय की तर्कप्रवणता।

सिद्धान्तकौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गईं। उनमें परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है। पाणिनि-व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिये भट्टोजि के शिष्य वरदराजाचार्य के लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया। लघुकौमुदी में व्याकरण-प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है यह सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कृति है।

३—पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ ज्ञातव्य बातें—

पाणिनि व्याकरण के सामान्य परिचय के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि संक्षेप की ओर पाणिनि का विशेष ध्यान रहा। इसके लिये उन्हें अनेक उपायों को काम में लाना पड़ा। जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) प्रत्याहार—जब आदि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण

किया जाता है उसके द्वारा आदि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।[1] ये प्रत्याहार विशेषकर वर्णमाला के वर्णों का बोध कराने के लिये माहेश्वरसूत्रों के आधार पर बनाये गये हैं, जैसे—

अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। ।

ये १४ माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर अण् आदि-४२ प्रत्याहार बनते हैं। इन सूत्रों में अन्तिम हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती है।[2] आदि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिलाकर प्रत्याहार बनता है, जैसे 'अइउण्' में अण् प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ, का बोध कराता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में भी जानना चाहिये, जैसे तिङ् प्रत्याहार है, यहाँ आदि 'ति'[3] को अन्तिम इत् संज्ञक ङ् के साथ मिला कर तिङ्' बनता है और इससे क्रिया में लगने वाले १८ (९ परस्मैपद + ९ आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है। वर्णमाला के ४२ प्रत्याहार ये हैं—(अकारादि क्रम से)।

१ अक्	८ अश्	१५ ऐच्	२२ जश्	२९ भष्	३६ रल्
२ अच्	९ इक्	१६ खय्	२३ झय्	३० मय्	३७ वल्
३ अट्	१० इच्	१७ खर्	२४ झर्	३१ यञ्	३८ वश्
४ अण्	११ इण्	१८ ङम्	२५ झल्	३२ यण्	३९ शर्
५ अण्	१२ उक्	१९ चय्	२६ झश्	३३ यम्	४० शल्
६ अम्	१३ एङ्	२० चर्	२७ झष्	३४ यय्	४१ हल्
७ अल्	१४ एच्	२१ छव्	२८ बश्	३५ यर्	४२ हश्

(२) इत्संज्ञक—अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है—(I) अन्त का हल्[4], (II) उपदेश[5] में अनुनासिक अच् (स्वर)[6], (III) प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग, टवर्ग[7], तथा षकार[8] (IV) तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदि में आने वाला

१. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१।

२. हलन्त्यम् १।३।३, ३. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथां-ध्वमिड्वहिमहिङ् ३।४।७८, ४ हलन्त्यम् १।३।३

५ धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्यादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

६. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२, ७. चुटू १।३।७; ८. षःप्रत्ययस्य १।३।६

लकार, शकार तथा क वर्ग ।[1] (V) धातु के आदि ञि, टु, डु ।[2] इत्संज्ञक का लोप हो जाता है ।[3] किन्तु लोप हो जाने पर भी उसको उपलक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है । जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५' से यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ञ् इत् संज्ञक है अतः यञ् प्रत्यय ञित् है, इसके ञित् होने से आदि को वृद्धि होती है और 'गार्ग्यः' रूप बनता है । ये इत्सञ्ज्ञक 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण में बड़ा लाघव हो गया है ।

(३) अधिकार—कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बतलाते है कि अमुक सूत्र से अमुक सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा । ये अधिकार सूत्र कहे जाते हैं । जैसे—'कारके ३' अथवा 'प्राग्दिशो विभक्तिः ५२८' इत्यादि ।

(४) अनुवृत्ति - लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व) सूत्र में कोई एक पद रख दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता हुई पूर्वसूत्र से लेकर अन्वय कर लिया गया । पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में पद के इस अनुवर्तन को ही अनुवृत्ति कहते हैं । सामान्यतः यह अनुवृत्ति एक सूत्र से निकट वाले अग्रिम सूत्र में जाती है और फिर क्रमशः आगे के सूत्रों में की जाती है किन्तु कभी-कभी बीच के सूत्रों में किसी पद की अनुवृत्ति नहीं होती तथा एकदम आगे के (व्यवहित) सूत्र में हो जाती है । उसे मण्डूकप्लुति या मण्डूकप्लुत्या अनुवृत्ति कहते हैं । (देखिये सूत्र १२) ।

(५) अपकर्ष—जहाँ आगे के सूत्र से पूर्व सूत्र में किसी पद को खींच लिया जाता है अर्थात् अन्वित किया जाता है, वहाँ अपकर्ष कहा जाता है (देखिये सूत्र २८४) ।

(६) सन्धिविषयक शब्द—(i) एकादेश—जहाँ दो वर्णों को मिलाकर एक रूप हो जाता है वह एकादेश कहलाता है जैसे अ + इ = ए एकादेश होता है । (ii) पररूप—जहाँ पूर्व तथा पर अक्षर को मिलाकर परवर्ण हो जाता है वहाँ पररूप कहलाता है, जैसे—प्र + एजते = प्रेजते, यहाँ अ ए = ए होता है । (iii) पूर्वरूप—जहाँ पूर्व तथा पर वर्ण के मिलने पर पूर्ववर्ण हो जाता है वह पूर्वरूप कहलाता है; जैसे—हरे + अव = हरेऽव, यहाँ ए + अ = ए होता है । (iv) प्रकृतिभाव—जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे—गो + अग्रम् = गो अग्रम्; यहाँ विकल्प से ओ + अ = ओ + अ ही रहता है; पूर्वरूप आदि नहीं होता ।

---

१. लशक्वतद्धिते १।३।८ २. आदिर्ञिटुडवः १।३।५

३. तस्य लोपः १।३।९

(७) कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ (i) अङ्ग—जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे अङ्ग कहते हैं।[1] जैसे—कर्ता, यहाँ कृ (प्रकृति) से तृच् प्रत्यय कहा गया है। कृ अङ्ग है।

(ii) प्रातिपदिक—धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्तों) को छोडकर सभी अर्थयुक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[2] प्रत्ययान्तों में भी कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[3] प्रातिपदिक संज्ञक शब्द से सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

(iii) पद—(क) सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है,[4] जैसे—राम+सु=राम यह सुबन्त है और पठ्+अ+ति=पठति यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातो विभक्तियों के २१ प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले १८ प्रत्यय तिङ् कहे जाते हैं। ये सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं। (ख) सित् (जिसमे स् की इत्संज्ञा हो) प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है।[5] (ग) सर्वनाम स्थान[6] को छोडकर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है।[7] पद संज्ञा हो जाने से राजत्वम्=(राजन्+त्व) मे न लोप होता है।

(iv) भ संज्ञा—(क) जिस प्रत्यय के आरम्भ मे यकार या अच् (स्वर) होता है उसके परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं[8]। (ख) तकारान्त और सकारान्त शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय परे होने पर भ संज्ञा होती है।[9]

(v) विभाषा—प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है (नवेति विभाषा १।१।४४) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विकल्प से होना। 'वा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी विभाषा शब्द के अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। वह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे १ प्राप्तविभाषा—किसी नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, २ अप्राप्तविभाषा—किसी नियम से अप्राप्त कार्य का विकल्प से

---

१. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३

२ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

३. कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६

४ सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४ ५ सिति च १।४।१६

६. नपुंसक-भिन्न प्रथमा विभक्ति के तीन प्रत्यय सु, औ, जस् तथा द्वितीया के दो प्रत्यय (अम्, औट्) सर्वनामस्थान कहलाते हैं (सुडनपुंसकस्य १।१।४३)।

७. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७

८. यचि भम् १।४।१८

९ तसौ मत्वर्थे १।४।१९

विधान, ३. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त विभाषा)—कहीं प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधि का विकल्प, ४. व्यवस्थित विभाशा—व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना कहीं न होना (देखिये सूत्र १२)

(Vi) उपधा—अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। (अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५)। जैसे—पठ् में पकार से अगले अकार की उपधा संज्ञा है।

(Vii) टि—किसी शब्द का अन्तिम स्वर-सहित आगे वाला अंश टि कहलाता है (अचोऽन्त्यादि टि १।१।४) जैसे पठ् में अठ् टि संज्ञक है।

(Viii) संयोग—जब व्यञ्जनों (हल्) के बीच में स्वर नहीं होते तो यह व्यञ्जनों का संयोग कहलाता है (हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७)। जैसे अल्प में ल् और प् का संयोग है।

(iX) सम्प्रसारण—य् व् र् ल्, के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ तथा लृ की सम्प्रसारण संज्ञा होती है (इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५)।

(X) गुण—अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेङ् गुणः १।१।२)।

(Xi) वृद्धि—आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादैज् १।१।१)।

(Xii) लोप—प्राप्त हुए प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोपः १।१।६०)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थलों पर लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है। (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १ १।६१) अर्थात् जिस संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(Xiv) आगम—किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, कित् तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त में होता है।[1] मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।[2]

टिप्पणी—आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

(८) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय—(i) योग-विभाग—कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से नहीं होता

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

२. मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

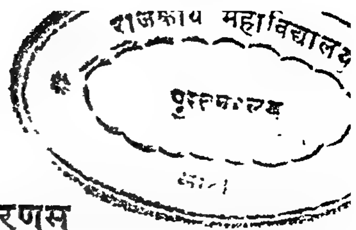
ऐसी दशा मे महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो अश (योग विभाग) करके शब्दो की सिद्धि दिखलाई है यही योग विभाग कहलाता है। (देखिये सूत्र ६८) आदि)।

(ii) ज्ञापक—कभी-कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नही होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग स उसकी साधुता सिद्ध होती है यह ज्ञापक सिद्ध प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के भी ज्ञापक होते हैं (देखिये सूत्र ६४)।

(iii) इष्टि—महाभाष्यकार ने कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली बातों को अभीष्ट माना है वे भाष्येष्टि या इष्टि नाम स प्रसिद्ध हैं।

(६) इसके अतिरिक्त विविध प्रकरणा मे यत्र तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दा का प्रसङ्ग भी आ गया है। जैसे—निपातन [सूत्र ३७८] आकृतिगण आदि। इनकी व्याख्या यथास्थान करने का प्रयास किया गया है। इन सब बातो का ध्यान रखना सस्कृत व्याकरण के अध्ययन म विशेष सहायक है।





अथ कारकप्रकरणम्

१। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६॥

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदा-

---

अथ कारकप्रकरणम्—'कारक' शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला[1]। किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—"देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति" (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से; इसलिये 'यज्ञदत्त' यहाँ कारक नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते। संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥

वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है सुप् प्रत्ययों में तीन-तीन (सु औ जस्) आदि की विभक्ति संज्ञा है। ये विभक्तियाँ प्रथमा इत्यादि सात हैं किस विभक्ति का प्रयोग किस अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है, इसका वर्णन यहाँ किया गया है।

प्रथमा विभक्ति। १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्गमात्र एवं परिमाणमात्र अधिक होने पर तथा संख्यामात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

(१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्गमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ,
(३) परिमाणमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचनमात्र।

प्रातिपदिकार्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही प्रातिपदिक समझना चाहिये। जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। शब्द

---

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।

हरणम् अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य । तटः । तटी । तटम् । परिमाण-मात्रे, द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम् प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरि-

---

के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत मे पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुञ्जीत तथा न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः) और सुबन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम्)। प्रातिपदिकार्थ मे प्रथमा विभक्ति होती है। जो शब्द अलिङ्ग हैं अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नही कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं अर्थात् जिनके अर्थ के साथ-साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण हैं। जैसे—उच्चैस्, नीचैस् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं। इनमे प्रथमा विभक्ति होकर उच्चैस् + सु→सु लोप (अव्ययो मे सुप् का लोप हो जाता है) और पद हो जाने से स् को विसर्ग उच्चैः आदि रूप होते हैं।* कृष्ण शब्द से पुंलिङ्ग की 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है। अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम् रूप होते हैं।

लिङ्गमात्राधिक्ये—प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति तो होती नही अतः लिङ्गमात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है, यह अर्थ समझना चाहिये। अनियत लिङ्ग वाले शब्द इस के उदाहरण हैं। जैसे—तट, तटी, तटम् ये शब्द 'किनारा' अर्थ के साथ-साथ क्रमशः पुंलिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नही। तट शब्द अनियत लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नही। कभी पुंलिङ्ग कभी स्त्रीलिङ्ग, कभी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'तट' आदि शब्द का नियत अर्थ तटत्व (किनारा) है। उससे अधिक पुंस्त्व आदि का ज्ञान भी यहाँ होता है। अतः ये लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण हैं। यहाँ प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है।

परिमाणमात्राधिक्ये—(उपर्युक्त रीति से) परिमाणमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे द्रोणो व्रीहिः—द्रोणरूप जो परिमाण उससे मापा गया व्रीहि, यह अर्थ है। 'द्रोण' एक परिमाण (माप) का नाम है। यदि यहाँ 'द्रोण' शब्द मे प्रातिपदिकार्थ मे प्रथमा विभक्ति होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अभिन्न व्रीहि' यह अर्थ प्रतीत होता। क्योंकि यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक) का अर्थ होता, और नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदो के अर्थों का

---

*व्याकरण के अनुसार अव्यय शब्दो से भी प्रथमा विभक्ति आती है किन्तु उसका लोप हो जाता है। विभक्ति लगने पर ही अव्यय शब्द पद (सुबन्त) कहलाते हैं और प्रयोग के योग्य होते हैं। अव्ययादाप्सुपः २।४।८२॥

च्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ॥

२। संबोधने च।२।३।४७॥

इह प्रथमा स्यात्। हे राम ॥ इति प्रथमा ॥

३। कारके।१।४।२३॥

इत्यधिकृत्य ॥

४। कर्तुरीप्सिततमं कर्म।१।४।४९॥

अभेदान्वय हुआ करता है। (नामार्थयोरभेदान्वय)। किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मापा हुआ व्रीहि' यह अर्थ अभीष्ट है। अत. परिमाणमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। फलतः—यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथमा सामान्य-परिमाण अर्थ को प्रकट करती है। द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोणनामक परिमाण-विशेष। इसलिये द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण-विशेष) प्रथमा के अर्थ परिमाण-सामान्य में अभेद सम्बन्ध से अन्वित हो जाता है और "द्रोण रूप परिमाण" यह अर्थ हो जाता है। अब परिमाण प्रत्यय का अर्थ है अतः इस अर्थ का परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध से व्रीहि के साथ अन्वय होता है[1] और "द्रोण रूप परिमाण से मापा हुआ व्रीहि" यह अर्थ हो जाता है।

वचनमात्रे--वचन कहते हैं संख्या को। केवल संख्या को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व आदि अर्थ शब्दों से ही प्रकट है। किन्च प्रथमा विभक्ति के जो प्रत्यय सु, औ, जस् हैं उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थ होता है। अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) इस न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

२ सम्बोधन इति—सम्बोधन में अर्थात् प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा सम्बोधन मात्र अर्थ अधिक होने पर भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में सम्बोधन के लिये पृथक् विभक्ति नहीं है। जैसे—हे राम! यहाँ राम शब्द से प्रथमा विभक्ति होकर (राम + सु), सम्बोधन में सु का लोप हो जाता है।

इति प्रथमा।

द्वितीया विभक्ति। ३ कारके—इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है। यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र हैं उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है।

४ कर्तुरिति—कर्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की अधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसंज्ञक होता है।

---

१. जिससे कोई चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेदक कहलाता है और जो चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेद्य।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मणा ईप्सिता माषा न तु कर्तुः। [तमब्ग्रहणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्, अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्।

५। अनभिहिते ।२।३।१॥

इत्यधिकृत्य॥

कर्तुः क्रियेति—जो कर्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वह कर्मसंज्ञक होता है। ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्म आदि को अभीष्ट हो और कर्ता को अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे 'माषेष्वश्वं बध्नाति'—उड़दों (माष) में घोड़े को बांधता है।' यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है। कर्ता के उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बांधना ही है। इस हेतु अश्व की कर्म संज्ञा होगी माष की नहीं। 'माष' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः माषेषु में सप्तमी विभक्ति है।

तमब् इति—ईप्सित शब्द से तमप् प्रत्यय क्यों लगाया? इसलिये कि जो वस्तु कर्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा होनी चाहिये, अन्य की नहीं। जैसे 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है)। यहाँ कर्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है। यद्यपि वह दूध भी प्राप्त करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है, वह भोजन का उद्देश्य नहीं है। इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः की नहीं।

कर्म इति—यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है—आधारोऽधिकरणम् १।४।४५, अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६, अभिनिविशश्च १।४।४७, उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८, कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९। इस प्रकार 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' १।४।४६ सूत्र से आ ही रहा था (अनुवृत्ति हो रही थी) फिर 'कर्म' का ग्रहण आधार-निवृत्ति के लिये किया गया है। नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'गेह' की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरिं भजति' आदि में हरि की नहीं। 'कर्म' ग्रहण करने पर तो वहाँ से किसी शब्द की भी अनुवृत्ति नहीं होती और 'हरिं भजति' आदि में भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

५ अनभिहित इति—'अनभिहित अर्थ में' इसका अधिकार करके। अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त। जिस अर्थ में कोई प्रत्यय आदि होता है वह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सेव्यते' में कर्म में (तिङ्) प्रत्यय हुआ है, वहाँ कर्म उक्त हो जाता है। उक्त के अर्थ से भिन्न अनुक्त या अनभिहित होता है। यह अधिकार सूत्र है। आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' पद का अन्वय होता है।

६ । कर्मणि द्वितीया ।२।३।२।।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमैव । अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । तिङ्, हरिः सेव्यते । कृत्, लक्ष्म्या सेवितः । तद्धितः, शतेन क्रीतः शत्यः । समासः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः । क्वचिन्निपातेनाभिधानं यथा 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

---

६. कर्मणीति—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं भजति—(हरि को भजता है) इस वाक्य में कर्ता (भक्त) का ईप्सिततम हरि' है । हरि की ४ कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है । 'भजति' क्रिया कर्तृवाच्य की है यहाँ लकार (ति) कर्ता में हुआ है[1] इसलिये कर्म अनुक्त है—किसी प्रत्यय आदि से कहा नहीं गया । अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में प्रस्तुत सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है ।

अभिहित इति—उक्त कर्म में तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होती है ।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि कर्तृवाच्य के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । कर्मवाच्य में लकार कर्म में होता है अतः कर्म उक्त हो जाता है । वहाँ (उक्त) कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे—'हरिः सेव्यते' यहाँ 'हरिः' प्रथमा विभक्ति में है ।

अभिधानमिति—प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास से कर्म आदि कारक उक्त होते हैं ।

हरिः सेव्यते—यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यहाँ कर्म में लकार होता है, कर्मवाच्य की क्रिया है । अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति है ।

लक्ष्म्या सेवितः—में 'सेवित' शब्द 'सेव्' धातु से 'क्त' प्रत्यय (कृत्) होकर बना है । 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है[2] अतः कर्म कृत्प्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया । इसी से 'लक्ष्म्या सेवितः हरिः' यहाँ 'हरि' में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है ।

शत्यः—शतेन क्रीतः (सौ से खरीदा हुआ) । यहाँ शत शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्धित प्रत्यय (शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१) होकर 'शत्य' शब्द बनता है । कर्म तद्धित से उक्त है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है ।

प्राप्तानन्दः—प्राप्तः आनन्दो यं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः । यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । अन्य पदार्थ

---

१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ।३।४।६९।।

२. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०।।

७। तथायुक्तं चानीप्सितम् ।१।४।५०।

ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते॥

८। अकथितं च ।१।४।५१॥

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

(देवत्तादि) का कथन बहुव्रीहि समास से उक्त हो जाता है। इसलिये 'प्राप्तानन्द' इस समस्त पद का जो अन्यार्थ है उसके वाचक पद मे द्वितीया नही होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र मे प्रथमा ही होती है—'प्राप्तानन्दो देवदत्त' इति।

'अभिधानं तु प्रायेण' म प्रायेण शब्द रखने का तात्पर्य दिखलाते है। क्वचिन्निपातेनेति कहीं-कहीं निपात के द्वारा भी कर्म आदि उक्त हो जाते हैं। च, वा इत्यादि अव्ययो की निपात सज्ञा है। 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है। 'साम्प्रतम्' का अर्थ है—उचित। असाम्प्रतम् उचित नही (न युज्यते)। विषवृक्षोऽपि आदि मे विषवृक्ष 'संवर्ध्य' तथा 'छेत्तुम्' का कर्म है। 'असाम्प्रतम्' निपात द्वारा विषवृक्ष की यह कर्मता उक्त हो गई है, इसी हेतु विषवृक्ष शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रथमा होती है। किन्ही का मत है कि यह कर्म 'अपि' निपात द्वारा 'उक्त' हो गया है।

७ तथायुक्तमिति—जो पदार्थ कर्ता के अनीप्सित होते हुए भी ईप्सितम की तरह क्रिया मे युक्त होते हैं, उनकी भी कर्म सज्ञा होती है।

ये अनीप्सित पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—१ उपेक्ष्य—जिसके प्रति कर्ता उदासीन रहता है और २ द्वेष्य—जिसके प्रति कर्ता द्वेष रखता है। इन दोनों प्रकार के पदार्थो पर यदि क्रिया का फल पड़ता है तो ये कर्मसंज्ञक होते हैं और कर्म में द्वितीया होती है।

ग्राम गच्छन् तृण स्पृशति—(ग्राम को जाता हुआ तिनके को छूता है) यहाँ जाने वाले के लिये 'तृण' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल से युक्त होने के कारण 'तृण' की कर्म सज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

विष भुङ्क्ते—(विष खाता है) यहां विष द्वेष्य है किन्तु जिस प्रकार ओदन (भात) खाने म ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है, इसीलिये विष की कर्म सज्ञा होकर द्वितीया होती है।

टिप्पणी—यदि किसी को तृण का स्पर्श करना अथवा विष खाना ही अभीष्ट है तो वहाँ जो 'तृण स्पृशति', 'विष भुङ्क्ते' प्रयोग होंगे उनमे पूर्वसूत्र (४) से ही कर्मसज्ञा होगी।

८. अकथितमिति—अपादान आदि विशेष रूपो से अविवक्षित कारक कर्म सज्ञक होता है।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रू शासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं

अभिप्राय यह है कि जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता है किन्तु वक्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता । (अकथित = अविवक्षित) तथा कर्म की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ।

टिप्पणी—(१) अकथितं च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गौण या अप्रधान कर्म कहते है और 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है ।

(२) जिन धातुओं में दो कर्म होते हैं वे द्विकर्मक कहलाती हैं । (३) 'अकथितं च' यह नियम आगे बतलाई गई 'दुह्' आदि धातुओं पर ही लागू होता है—

दुह् इति—१-दुह् (दुहना), २-याच् (माँगना), ३-पच् (पकाना), ४-दण्ड् (दण्ड देना), ५- रुध् (रोकना), ६-प्रच्छ् (पूछना), ७-चि (चुनना), ८- ब्रू (कहना), ९-शास् (शासन करना), १०-जि (जीतना), ११-मन्थ् (मथना), १२-मुष् (चुराना), १३-नी (ले जाना), १४-हृ (हरना, ले जाना), १५-कृष् (खींचना), १६-वह् (ले जाना, ढोना)—इन दुह् आदि १२ तथा नी आदि ४ कुल मिलाकर १६ धातुओं के कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और जिसमे अपादान आदि की विवक्षा नहीं होती, वही अकथित कर्म कहा जाता है । इस प्रकार यहाँ भाष्य आदि में परिगणन किया गया है ।

१. गां दोग्धि पयः—(गाय से दूध दोहता है) यहाँ गाय सामान्यतः अपादान कारक है किन्तु यह अपादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अपितु दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपर्युक्त नियम (अकथितं च) से 'गो' की कर्म संज्ञा होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । इसका अर्थ होता है—गोसम्बन्धी पयःकर्मक दोहन । यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पञ्चमी विभक्ति होगी, तथा 'गोर्दोग्धि पयः' यही प्रयोग होगा । यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण कर्म ।

२ बलिं याचते वसुधाम्—(बलि से पृथ्वी माँगता है) यहाँ बलि अपादान है इसकी अविवक्षा होने पर बलि की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है । अतएव बलि गौण कर्म है । अपादान की विवक्षा में 'बलेर्याचते वसुधाम्' यह प्रयोग होगा ।

अविनीतं विनयं याचते—(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रार्थना है । 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है—'अविनीतं

पन्थान पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवक धर्म ब्रूते शास्ति वा। शत जयति देवदत्तम्। सुधा क्षीरनिधि मथ्नाति। देवदत्त शत मुष्णाति। ग्राम-मजा नयति हरति कर्षति वहति वा।

विनयाय अनुनयति' (अविनीत से विनय के लिए अनुनय करता है) यह अर्थ होता है। 'विनय' मे सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर अकथित च से कर्म सज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है। अन्यो का मत है कि विनय इसका मुख्य कर्म है। अवि-नीतकर्मक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' कर्ता है। उसमे कर्मत्व की विवक्षा मे द्वितीया होती है। अन्य मत के अनुसार 'अविनीत से विनय की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है। अविनीत अपादान है। अपादानत्व की अविवक्षा मे इसकी कर्मसज्ञा होती है।

३ तण्डुलान् ओदन पचति—(चावलो से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख्य कर्म है। तण्डुल करण है। तण्डुल मे भी कर्म की विवक्षा मे द्वितीया विभक्ति होती है। तण्डुल गौण कर्म है।

४ गर्गान् शत दण्डयति—(गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है) यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है गर्गों से सौ रुपया दण्ड का लिया जाता है। गर्ग अपादान कारक है। गर्ग मे कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है।

५. व्रजमवरुणद्धि गाम्—(गाय को व्रज मे रोकता है) यहाँ 'गाम्' अवरुणद्धि का मुख्य कर्म है। व्रज (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकथित कर्म मे द्वितीया विभक्ति होती है।

६ माणवक पन्थान पृच्छति—(बालक से मार्ग पूछता है)—यहाँ पथ मुख्य कर्म है। माणवक अपादान है। उसमे कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है। कुछ का मत है कि माणवक करण है।

७ वृक्षमवचिनोति फलानि—(वृक्ष से फलो को चुनता है)—यहाँ फल मुख्य कर्म है। वृक्ष अपादान है। अपादान की अविवक्षा मे कर्म सज्ञा होकर द्वितीया होती है।

८, ९ माणवक धर्म ब्रूते शास्ति वा—(माणवक के लिये धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ धर्म मुख्य कर्म है। माणवक सम्प्रदान है। उसमे कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

१० शत जयति देवदत्तम्—(देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसमे कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है।

११. सुधा क्षीरनिधि मथ्नाति—(सागर से अमृत मथता है)—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म है। 'क्षीरनिधि' अपादान है। उसमे कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है। कुछ के मत मे 'क्षीरनिधि' मन्थन का मुख्य कर्म है। 'सुधा के लिये क्षीर-

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते वक्तीत्यादि। कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति।

*(वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्॥

कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।

निधि को मथता है' यह अर्थ है। सुधा सम्प्रदान है। उसमें कर्मत्व होकर द्वितीया हो जाती है।

१२. देवदत्तं शतं मुष्णाति—(देवदत्त से सौ रुपये हरता है)—यहाँ 'शत' प्रधान कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसमें कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

१३–१६. ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा—(गाँव में बकरी को ले जाता है)—यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है। ग्राम अधिकरण है। उसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

अर्थनिबन्धेति—'अकथितं च' से जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थाश्रित है अर्थात् दुह् आदि धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है। इसीलिये 'याच्' धातु के अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी 'बलि' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा 'ब्रू' धातु के अर्थ वाली 'भाष्' आदि धातु के योग में 'माणवक' में द्वितीया हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्म संज्ञा हुआ करती है।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में 'कारक' शब्द रखने का क्या अभिप्राय है? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं। इसलिये 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' यहाँ 'माणवक' में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है। यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं, अपितु केवल पिता से है।

अकर्मक इति (वा)—अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—

कुरून् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ 'कुरु' देशवाची है। यहाँ देश का अर्थ है—ग्रामों का समूह कुरु, पाञ्चाल आदि जनपद। कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है। 'स्वप्' धातु अकर्मक है। यहाँ 'कुरु' की इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर कर्मणि द्वितीया (६) से द्वितीया होती है।

मासमास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है। यहाँ काल शब्द से दिन-रात के समूहवाचक 'मास' आदि का ग्रहण होता है। 'आस्' धातु अकर्मक है।

गोदोहमास्ते (गो-दोहन वेला में है)—यहाँ 'गोदोह' शब्द का अर्थ है गोदोहन अर्थात् गोदोहन का समय। 'गोदोह' शब्द भाववाची है। भाव का अभिप्राय है धातु का अर्थ।

९। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ।१।४।५२॥

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्। शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्। आशयच्चामृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्।

क्रोशमास्ते (कोस भर म है)—यहाँ क्रोश गन्तव्य मार्ग वाची है। जिस मार्ग को पार करना होता है वह गन्तव्य मार्ग है। इसके द्वारा यहाँ मार्ग के परिमाण के वाचक 'क्रोश' आदि का ग्रहण होता है।

टिप्पणी—(i) जहाँ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग (१७) से द्वितीया प्राप्त नहीं होती वहाँ इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। (ii) कुरु आदि को जब अधिकरण रूप में कहना अभीष्ट होता है तो 'कुरुषु स्वपिति' आदि प्रयोग भी होते हैं। (iii) अकर्मक धातुओं का संग्रह इस प्रकार किया गया है—

लज्जा सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय भय जीवित-मरणम्।
शयन-क्रीडा रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणान्तमकर्मकमाहुः॥

गतिबुद्धि इति—गमन अर्थ वाली, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ वाली, भक्षण (प्रत्यवसान) अर्थ वाली, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं की अण्यन्त अथवा साधारण अवस्था में जो कर्ता होता है वह ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है।

टिप्पणी—धातु की साधारण दशा वह है जहाँ कर्ता का स्वयं कार्य करना प्रकट होता है, जैसे—'गच्छति' वह जाता है। जब कर्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य कराता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है तो उसे प्रेरणार्थक क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है। वहाँ धातु से णिच् (णि) प्रत्यय होकर उसका ण्यन्त या णिजन्त रूप बनता है। जैसे—

गम् + णिच् + अ + ति → गम् + इ + अ + ति → गम् + ए + अ + ति = 'गमयति' = 'जाने की प्रेरणा देता है।' प्रेरक को प्रयोजक कर्ता कहते हैं और जिसको प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोज्य कर्ता। गति॰ इत्यादि सूत्र से प्रयोज्य कर्ता की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा होती है। जैसे—

(१) शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्—यहाँ गति अर्थ वाली धातु 'गम्' है। 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्' यह साधारण दशा का रूप है। इन्हें हरि ने स्वर्ग जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्ता है। 'अगमयत्' यह णिजन्त दशा का प्रयोग है। इसीलिए अणिजन्त अवस्था का कर्ता 'शत्रवः' अगमयत् (णिजन्त दशा) में कर्म हो जाता है। कर्म में द्वितीया होती है (शत्रून्)।

(२) वेदार्थं स्वान् अवेदयत्—(स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया)—यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'विद्' है। 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है। 'अवेदयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त दशा का कर्ता णिजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(स्वान्)।

आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥ गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्त तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ॥

---

(३) आशयत् च अमृतं देवान्—(देवताओं को अमृत खिलाया)—यहाँ 'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है । 'देवा: अमृत । आश्नन्' (देवों ने अमृत खाया) यह साधारण दशा का रूप है । 'आशयत्' णिजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता 'देवा:' णिजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्) ।

( ) वेदमध्यापयद् विधिम् (ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)—यहाँ 'इङ्' पढ़ना अर्थ वाली धातु है । यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक)* । 'विधिः वेदम् अध्यैत' (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा); ब्रह्मा को हरि ने वेद पढ़ाया—'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्' । 'अध्यापयत्' णिजन्त का प्रयोग है । यहाँ साधारण दशा के कर्त्ता 'विधि' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है ।

(५) आसयत् सलिले पृथ्वीम् (पृथ्वी को जल पर स्थित किया)—यह अकर्मक का उदाहरण है । आस् (बैठना) धातु अकर्मक है । 'आस्त सलिले पृथिवी' (पृथिवी सलिल पर स्थित हुई) । 'तां हरिः आसयत्'—उसे हरि ने स्थित किया । इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पृथिवी है । 'आसयत्' यह णिजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पृथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है ।

श्लोक का अर्थ यह है—जिस श्री हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया, देवों को अमृत खिलाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथिवी को जल पर स्थापित किया वह हरि मेरी गति है ।

(क) गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता को ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि इनसे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता । अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्त्ता ही (प्रयोज्य कर्ता) रहता है और उसमें "कर्तृकरणयोस्तृतीया" २।३।१८ से तृतीया विभक्ति होती है ।

(ख) अण्यन्तानां किम् इति—(सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है ? इसलिये कि यदि णिजन्त अवस्था के कर्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—

(i) 'यज्ञदत्तः गच्छति'—यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्ता है ।

---

*'शब्दः कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः'—शब्द है कर्म कारक जिनका वे शब्दकर्मक कहलाती हैं ।

*(वा) नीवह्योर्न ॥

नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥

*(वा) नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः ॥

वाहयति रथं वाहान् सूतः ।

*(वा) आदिखाद्योर्न ॥

आदयति खादयति वान्नं वटुना ।

(ii) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'—यहाँ अण्यन्त के कर्त्ता 'यज्ञदत्त' की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है ।

(iii) 'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्र) प्रयुङ्क्ते'—देवदत्त को भी विष्णुमित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः'—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह णिजन्त का कर्ता है अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अण्यन्त (अणिजन्त) में कर्ता की ही कर्म संज्ञा होती है ।

नीवह्योर्न इति (वा)—'नी' 'वह्' (ले जाना) णिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—'भृत्यो भारं नयति, वहति वा' यहाँ 'भृत्य' साधारण दशा का कर्त्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्ता है । 'नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन' यहाँ णिजन्त के प्रयोग में भृत्य को कर्म संज्ञा नहीं होती अपितु वह कर्ता ही रहता है और कर्ता में तृतीया होती है [नी-वह् धातुओं का अर्थ है प्रापण (पहुँचाना—गति कराना) अतः यहाँ गत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था] ।

नियन्तृ इति—(वा) "नीवह्योर्न" इस वार्त्तिक से किया हुआ कर्म संज्ञा का निषेध वहाँ नहीं होगा, जहाँ 'वह्' धातु का कर्ता 'नियन्तृ' (हाँकने वाला) होगा । जैसे—

'वाहाः (अश्वाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को ले जाता है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोज्य कर्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो ही जाती है ।

आदिखाद्योर्न (वा)—अण्यन्त अद् और खाद् धातु के कर्ता को उनके ण्यन्त प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव प्रयोज्य कर्ता में तृतीया होती है, जैसे—

आदयति, खादयति वा अन्नं वटुना (बालक को अन्न खिलाता है)—वटुः अन्नम् अत्ति (खादति वा) तम् अन्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और खाद् धातु के भक्षणार्थक होने के कारण सूत्र (गतिबुद्धि०) से 'वटु' की कर्म संज्ञा प्राप्त थी । प्रस्तुत वार्त्तिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव 'वटु' कर्ता ही रहता है और उसमें तृतीया विभक्ति होती है ।

*(वा) भक्षेरहिंसार्थस्य न ॥

भक्षयत्यन्नं वटुना । अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ।

*(वा) जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् ॥

जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।

*(वा) दृशेश्च ॥

दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरतिजिघ्रतीत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ॥

भक्षेरहिंसार्थस्य न (वा)—जब भक्ष् धातु का भाव हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुँचाना) नहीं होता तो उसके साधारण दशा के कर्ता को णिजन्त के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—

भक्षयति अन्नं वटुना—"वटुः अन्नं भक्षयति" (वटु अन्न खाता है) उसे दूसरा प्रेरित करता है—"भक्षयति अन्नं वटुना ।" यहाँ वटु की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में तृतीया विभक्ति ही होती है ।

अहिंसार्थस्य किमिति—जहाँ 'भक्ष' धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ इसके प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो ही जाती है अतएव 'बलीवर्दाः सस्यं भक्षयन्ति' तान् अन्यः प्रेरयति 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' यहाँ 'बलीवर्दान्' में द्वितीया होती है । अन्न की हानि हृदय को पीड़ा पहुँचाती है इसी लिये यहाँ हिंसा है ।

जल्पतीति (वा)—जल्पति आदि का अण्यन्त अवस्था में जो कर्त्ता होता है उसकी णिजन्त दशा में कर्म संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये । जैसे—'पुत्रो धर्मं जल्पति भाषते वा' । पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है तो प्रयोग होगा—'जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।' यहाँ इस वार्त्तिक के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

दृशेश्च (वा)—दृश् (देखना) धातु का साधारण दशा का कर्त्ता प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है । जैसे—'भक्ताः हरिं पश्यन्ति ।' उन्हें गुरु प्रेरित करता है—'दर्शयति हरिं भक्तान् ।' यहाँ इस नियम से 'भक्त' की कर्म संज्ञा होती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति—(गतिबुद्धि आदि) सूत्र में बुद्धि शब्द से ज्ञानसामान्यवाची बुध्, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञानविशेष की वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं; यह 'दृशेश्च' वार्त्तिक से (अनेन) पता चलता है । यदि ज्ञानविशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली जाती तो इस वार्त्तिक की आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि नेत्रों से होने वाला ज्ञान ही दर्शन है । इस ज्ञापक का फल यह होता है (तेन) कि—'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन' यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती ।

* (वा) शब्दायतेर्न । शब्दाययति देवदत्तेन । धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्ति । येषा देशकालादिभिन्न कर्म न सभवति तेऽत्राकर्मका । न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्व भवत्येव । देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न ॥

शब्दायतेर्न (वा)—शब्दाय' धातु के कर्त्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग मे कर्म सज्ञा नही होती । 'शब्दाय' यह नाम धातु है । शब्द करोति इस अर्थ मे शब्द+क्यङ् (शब्दवैर० ३ १ १७)=शब्दाय । इसमे णिच् होकर शब्दाययति बनता है ।

शब्दाययति देवदत्तेन— शब्दायते देवदत्त (देवदत्त शब्द करता है) उसको कोई प्रेरणा देता है 'शब्दाययति देवदत्तेन' । यहाँ धातु के अर्थ म शब्द रूपी कर्म सगृहीत हो गया है अत यह धातु अकर्मक है और अकर्मक होने के कारण गति० आदि सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग म साधारण दशा के कर्त्ता को कर्म सज्ञा प्राप्त होती है । इस वार्त्तिक से उस कर्म सज्ञा का निषेध हो जाता है तथा 'देवदत्तेन' मे कर्त्ता मे तृतीया विभक्ति होती है ।

येषामिति—(i) इस सूत्र म अकर्मक धातु वे मानी गई हैं, जिनका देश काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नही* । (ii) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा होने के कारण अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नही मानी गई । इसका फल यह होता है—

(i) मासमासयति देवदत्तम्—'माममास्ते देवदत्त ' उसको दूसरा कोई प्रेरणा देता है—'मासमासयति देवदत्तम्'—यहाँ आस्' धातु का यद्यपि 'मास' (काल) कर्म है तथापि वह अकर्मक मानी गई है, क्योकि 'आस्' धातु का देश काल आदि से भिन्न कर्म नही हो सकता । इसलिये इसका साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' प्रेरणार्थक के प्रयोग म कर्मसज्ञक हो जाता है और उसम द्वितीया होती है ।

(ii) देवदत्तेन पाचयति—'देवदत्त. पचति' यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि पच् धातु अकर्मक नही मानी जाती, अतएव 'देवदत्तेन पाचयति' मे 'देवदत्त' की कर्म सज्ञा नही होती और कर्त्ता म तृतीया हो जाती है ।

टिप्पणी—व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से क्रियायें चार प्रकार से अकर्मक होती हैं—१. धातु का अन्य अर्थ म प्रयोग होने से, जैसे—'वहति भारम्', यहाँ 'वहति' 'प्रापण' (ले जाना) अर्थ मे सकर्मक है किन्तु 'नदी वहति', यहाँ अन्य अर्थ (स्यन्दन, बहना) मे अकर्मक हो जाती है । २ धातु के अर्थ म कर्म के सगृहीत हो जाने से, जैसे—'जीवति' (प्राणधारण करता है), यहाँ 'प्राण' रूप कर्म धातु के अर्थ मे ही सगृहीत हो गया है । ३. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—'मेघो वर्षति' यहाँ बरसने का कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है । ४ कर्म को न कहने की इच्छा (अविवक्षा) से, जैसे—"हिताम्न सशृणुते स किं प्रभु" यहाँ 'सशृणुते' अकर्मक है क्योकि इसका कर्म अविवक्षित है । कहा भी है—

---

* द्रष्टव्य आगे (पृ० १४) टिप्पणी ।

(१०) । हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३॥

हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् ॥

*(वा) अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् ॥

अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षात कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥

(सि० कौ० आत्मनेपपप्रक्रिया)

१०. हृक्रोरन्यतरस्याम् इति—हृ (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का साधारण दशा का जो कर्ता है वह णिजन्त (प्रेरणार्थक) के प्रयोग में विकल्प से कर्म-संज्ञक होता है ।

टिप्पणी—हृ तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव नहीं होता अतः यह अप्राप्त-विभाषा है । हृ धातु जहाँ भोजन अर्थ में होती है (=अभ्यवहरति) तथा कृ धातु अकर्मक (विकुरुते), वहाँ यह प्राप्त-विभाषा है । इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त = उभयत्र विभाषा है ।

कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्—(भृत्य से चटाई वनवाता है)—'भृत्यः कटं करोति' (भृत्य चटाई वनाता है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है—"कारयति भृत्यं, भृत्येन वा कटम्" (वह नौकर से चटाई वनवाता है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से भृत्य की विकल्प से कर्म संज्ञा होती है और द्वितीया हो जाती है । जब कर्म संज्ञा नहीं होती तो कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्, (नौकर से चटाई ढुलवाता है) ।

अभिवादिदृशोरिति (वा)—अभिपूर्वक वद् धातु तथा दृश् धातु का साधारण दशा का कर्त्ता, णिजन्त के आत्मनेपद के प्रयोग में विकल्प से कर्म हो जाता है ।

अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा (भक्त से देवता को प्रणाम करवाता है) 'अभिवदति देवं भक्तः' (देव भक्त को प्रणाम करता है) उसे कोई प्रेरित करता है—'अभिवादयते देवं भक्तम्, भक्तेन वा'—यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं थी । उपर्युक्त नियम से 'भक्त' की विकल्प से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है । पक्ष में कर्ता में तृतीया होती है । इसी प्रकार "पश्यति देवं भक्तः" "दर्शयते भक्तं देवं भक्तेन वा" यहाँ 'दृशेश्च' वार्त्तिक से नित्य कर्म संज्ञा प्राप्त थी । इस वार्त्तिक से विकल्प से कर्म संज्ञा दिखलाई गई है ।

टिप्पणी—अभिवादयते, दर्शयते—यहाँ णिचश्च १/३/७४ से विकल्प से आत्मनेपद होता है । जब आत्मनेपद नहीं होता तब 'अभिवादयति देवं भक्तेन' यहाँ कर्ता में तृतीया होती है तथा दर्शयति देवं भक्तम्' यहाँ 'दृशेश्च' से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

११ । अधिशीङ्स्थासां ।१।४।४६॥

अधिपूर्वाणामेषामाधार कर्म स्यात् । अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठ हरि ॥

१२ । अभिनिविशश्च ।१।४,४७॥

अभिनीत्येतत्सधातपूर्वस्य विशतेराधार कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । परिक्रयणे सम्प्रदानम्—।१ ४।४४ इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्यतरस्याग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न । पापेऽभिनिवेशः ॥

१३ । उपान्वध्याड्वस. १।४।४८॥

उपादिपूर्वस्य वसतेराधार कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठ हरिः ॥

---

११ *अधिशीङ् इति— अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना) आस्* (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म सज्ञा होती है । यहाँ 'आधारोऽधिकरणम् १/४/४५ से 'आधार' शब्द की अनुवृत्ति होती हैं। इसी प्रकार आगे के दो सूत्रो मे भी ।

अधिशेते वैकुण्ठ हरि —यहाँ वैकुण्ठ अधिशयन का आधार है । इसकी उपर्युक्त नियम से कर्म सज्ञा हो जाती है तथा कर्म म द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार अधितिष्ठति वैकुण्ठ हरि, 'अध्यास्ते वैकुण्ठ हरि ।

१२. अभिनिविशश्च—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनो एक साथ इसी क्रम से (सघातरूप) विश् धातु म लगते है तब विश् धातु का आधार कर्म सज्ञा हो जाता है।

अभिनिविशते सन्मार्गम्—(सन्मार्ग मे लगता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की उपर्युक्त नियम से कर्म सज्ञा होकर इसम द्वितीया हो जाती है।

पापेऽभिनिवेश —यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार है अत "अभिनिविशश्च" नियम के अनुसार 'पाप' की कर्म सज्ञा होकर द्वितीया होनी चाहिये, किन्तु 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' (१।४।४४) सूत्र से मण्डूकप्लुति (मेंढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रो म न जाकर) से 'अन्यतरस्याम्' (वा, विकल्प मे) इस सूत्र मे ले लिया जाता है और उस विकल्प (विभाषा) को व्यवस्थित विभाषा (अर्थात् कहीं होना, कहीं नहीं) मानकर कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता । इसी से 'पापेऽभिनिवेश " मे पाप की कर्म सज्ञा तथा द्वितीया नहीं होती अपितु आधार मे सप्तमी होती है।

१३. उपान्वध्याड् वस —उप, अनु, अधि, आ उपसर्गपूर्वक वस्—धातु का आधार कर्म हो जाता है।

उपवसति वैकुण्ठं हरि—(हरि वैकुण्ठ मे वसते हैं) —यहाँ वैकुण्ठ उपपूर्वक 'वस्' धातु का आधार है। उपर्युक्त नियम से 'वैकुण्ठ' की कर्म सज्ञा होकर द्वितीया

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न ॥

वने उपवसति ॥

(वा) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ॥
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ॥

(वा) अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि ॥

अभितः कृष्णम् परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । 'तस्य शोच्यते' इत्यर्थः । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥

विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः', 'अधिवसति वैकुण्ठं हरिः', आवसति वैकुण्ठं हरिः'।

अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उपपूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती।

वने उपवसति—(वन में उपवास करता है)—यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु का प्रयोग है। 'वन' उसका आधार है। 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किन्तु इस वार्तिक के अनुसार उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है।

उपपद द्वितीया विभक्ति—ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वहाँ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' आदि सूत्रों से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' २।३।२ से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः वह 'कारक' विभक्ति है।

कभी कभी उपपद (=पास में उच्चारण किये गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करती हैं। वे 'उपपद विभक्ति' कही जाती हैं। उपपद विभक्ति षष्ठी का अपवाद होती हैं। जैसे—

उभसर्वतसोरिति (वा)—इस वार्तिक में चार वाक्यांश हैं। उनके अर्थ इस प्रकार हैं— (१) उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या—जब उभ और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिये। (२) धिक् शब्दस्य योगे द्वितीया कार्या—धिक् शब्द के योग में द्वितीया, (३) उपर्यादिषु आम्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या—'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' ८।१।७ में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः हैं। जहाँ द्विरुक्ति होती है वहाँ दूसरे को 'आम्रेडित' कहते हैं। 'उपर्यध्यधसः० सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि-उपरि' आदि द्विरुक्त प्रयोग का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये, (४) ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१४। अन्तरान्तरेण युक्ते ।२।३।४॥
आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्॥

---

(१) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल है)—यहाँ उभयतः के योग में उपर्युक्त नियम से 'कृष्ण' शब्द से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'सर्वतः कृष्णम्'।

(२) धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है)—यहाँ धिक् शब्द के योग में कृष्णाभक्तम्' शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—धिक् के योग में प्रथमा का भी कभी कभी प्रयोग होता है, जैसे—धिगियं दरिद्रता (आप्टे ३३)।

(३) उपर्युपरि लोकं हरिः—[हरि लोक के ठीक (समीप) ऊपर हैं] यहाँ उपर्युक्त नियम से 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार अध्यधि लोकम्'—(संसार के समीप देश में) तथा 'अधोऽधो लोकम्' (संसार के ठीक नीचे) में 'लोक', शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

(४) 'अभितः इति (वा)—अभितः (दोनों ओर, सब ओर) परितः (चारों ओर, सब ओर) समया, निकषा (समीप), हा (हाय), प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है (अन्यत्रापि दृश्यते की व्याख्या मात्र ही यह वार्तिक है)।

अभितः कृष्णम् (कृष्ण के दोनों ओर)—यहाँ अभितः के योग में कृष्ण शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'परितः कृष्णम्, (कृष्ण के चारों ओर या सब ओर) ग्रामं समया' (ग्राम के समीप), निकषा लङ्काम्', (लङ्का के निकट), 'हा कृष्णाभक्तम्' (हाय कृष्ण का अभक्त) वह शोचनीय है, यह अर्थ है। 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) इन सभी के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

१४ अन्तराऽन्तरेण युक्ते—(अन्तरा का अर्थ है—'बीच में 'मध्य में'। अन्तरेण का अर्थ है—मध्य में 'विषय में' बिना'। अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरा त्वां मां हरिः (तेरे और मेरे मध्य में हरि है)—यहाँ अन्तरा के योग में 'त्वाम्' और 'माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरेण हरिं न सुखम् (हरि के बिना सुख नहीं)—यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'देवीं वसुमतीमन्तरेण" (देवी वसुमती के विषय में) (काले ८०४), 'कोऽन्यस्त्वामन्तरेण शक्तः प्रतिकर्तुम्। (तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन प्रतिकार में समर्थ है)—(आप्टे २५) इन सभी प्रयोगों में 'अन्तरेण के योग में 'हरिम्' आदि में द्वितीया विभक्ति होती है।

१५। कर्मप्रवचनीयाः ।१।४।८३॥

इत्यधिकृत्य ॥

१६। अनुर्लक्षणे ।१।४।८४॥

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

१७। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।२।३।८॥

---

१५. कर्मप्रवचनीयाः इति—इसका अधिकार करके—कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है। आगे 'विभाषा कृञि' १।४।९८॥ तक के सूत्रों में इस पद का सम्बन्ध होता है।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। जो पहिले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे। क्रिया के पहले ही इनका प्रयोग होता था किन्तु अब क्रिया से पृथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किन्तु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं*। अर्थात् विभक्ति-विधान के निमित्त होते हैं।

१६. अनुर्लक्षणे—किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं— 'लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्। यहां हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्—इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई। यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं। उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

परापि हेतौ तृतीयेति—यद्यपि हेतौ—३७' सूत्र से होने वाली तृतीया इससे परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है*। तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में द्वितीया ही होती है, क्योंकि २१

---

*क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥ (वाक्यपदीय)

*विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

एतेन योगे द्वितीया स्यात् । पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते । लक्षणेत्थंभूत—२१, इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

१८ । तृतीयार्थे ।१।४।८५॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह सबद्धेत्यर्थः ॥ षिञ् बन्धने क्तः ॥

१९ । हीने १।४।८६॥

हीने द्योत्येऽनु प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः हरेर्हीना इत्यर्थः ॥

२० । उपोऽधिके च १।४।८७॥

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने उप हरिं सुराः ॥

'लक्षणेत्थं १।४।९०। से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर १६ 'अनुर्लक्षणे १।४।८४। से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहने की क्या आवश्यकता थी । यह संज्ञा इसलिए की गई है कि लक्षण द्योतित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, तृतीया नहीं ।

१८ तृतीयार्थे—जब 'अनु' तृतीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नदीमन्ववसिता सेना—इसका अर्थ है—'सेना नदी के साथ सम्बद्ध है ।' 'नदीम् अनु अवसिता' में 'अवसित' शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षिञ् बन्धने धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है अतः 'सम्बद्ध' अर्थ होता है । यहाँ ऊपर के नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

१९ हीने—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अनु हरिं सुराः—इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं (घटकर हैं) । यहाँ अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में (सूत्र १७ से) 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । जिस शब्द में द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है । यहाँ हरि की अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है ।

२० उपोऽधिके च—अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । जब वह 'अधिक' अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी होती है, यह आगे कहा जायेगा ।

उप हरिं सुराः—(देवता हरि से घटकर हैं)—यहाँ हीन अर्थ को द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में 'हरि' से द्वितीया विभक्ति होती है ।

२१। लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे, वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्, वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिञ्चति॥

---

२१. लक्षणेत्यम् इति—लक्षण आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(१) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्—(वृक्ष की ओर बिजली चमकती है)—यहाँ वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता है। यह लक्षण (ज्ञापक) है। 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'वृक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'वृक्षं परि, वृक्षम् अनु विद्योतते विद्युत्'।

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)—यह इत्थंभूताख्यान का उदाहरण है। 'इत्थं' का अर्थ है—इस प्रकार। इत्थंभूतः—इस प्रकार का हुआ। जहाँ 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'भक्तो विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु'।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति—इसका अर्थ है—लक्ष्मी हरि भाग रहा। यहाँ लक्ष्मी के प्रति हरि का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु'।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)—यह वीप्सा का उदाहरण है। वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा। यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रचनीय संज्ञा हो जाती है अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिञ्चति' यहाँ 'स्' को 'ष्' नहीं होता। उपसर्ग से परे होने पर ही "उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५। सूत्र से षत्व होता है। यहाँ वृक्षं में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होता है। इसी प्रकार 'वृक्षं वृक्षं परि-सिञ्चति' वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति।'

एषु किमिति—'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि इनसे भिन्न अर्थ में; नहीं होती, अतएव 'परिषिञ्चति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

२२ । अभिरभागे ।१।४।९१॥

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभिसिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम् ॥

२३ । अधिपरी अनर्थकौ ।१।४।९३॥

उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' ८।१।७०। इति निघातो न ॥

२४ । सुः पूजायाम् ।१।४।९४॥

सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र । क्षेपोऽयम् ॥

---

२२ अभिरभागे—भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) हरिमभि वर्तते—(लक्षण) (२) भक्तो हरिमभि (इत्थम्भूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है ।

(३) देवं देवमभिसिञ्चति (वीप्सा) । यहाँ 'स' को ष् नहीं होता ।

अभागे किमिति—भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिये) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' के स् को ष् हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७।)

२३ अधिपरी अनर्थकौ—अनर्थक 'अधि' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

कुतोऽध्यागच्छति—(वह कहाँ से आता है ?)—यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से 'गति' संज्ञा नहीं होती । गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) गतिर्गतौ ८।१।७० इस सूत्र से 'अधि' को आ (अधि—आ+गच्छति) परे होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता । आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है ।

टिप्पणी—'निघात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना) ।

२४. सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा है' इसी हेतु कर्त्ता में पूज्यता है । यहाँ 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष् नहीं होता । इसी प्रकार 'सुस्तुतम्' ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि "सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र" यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता

२५ । अतिरतिक्रमणे च ।१।४।९५।।

अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ।।

२६ । अपिः पदार्थसंभावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ।१।४।९६।।

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः । संभावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते । सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसंबन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्तते । सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात् । अपि स्तुयाद्विष्णुम्; संभावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः । अपि

है अतः 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा ही हो जाती है । उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषिक्त' में 'स्' को 'ष्' हो जाता है ।[1]

२५. अतिरतिक्रमणे च—अतिक्रमण का अर्थ है—बढ़कर होना अथवा सीमा को लाँघना । अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं) । उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सर्पिषोऽपि स्यात्—(घृत का बिन्दु भी हो)—यह पदार्थ का उदाहरण है । पदार्थ का तात्पर्य है पद का अर्थ । यहाँ 'अपि' अप्रयुक्त पद के अर्थ को द्योतित करता है । सर्पिषोऽपि स्यात्' का अर्थ है—"सर्पिर्बिन्दुः स्यात्" । अपि बिन्दु का द्योतक है । इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष् नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता था ।

सम्भावनायां लिङ् इति—सर्पिषोऽपि स्यात् में स्यात् शब्द अस् धातु से लिङ् लकार में बना है । यहाँ सम्भावना अर्थ में लिङ् लकार है । 'किस की संभावना' ? इस आकांक्षा में अस् धातु का अर्थ 'होना' (भवन या सत्ता) अस् (भुवि, भू सत्तायाम्) उस संभावना का विषय हो जाता है अर्थात् होने की संभावना है । तब होना (भवन) के कर्त्ता (बिन्दु) को 'अपि' द्योतित करता है और कर्त्ता की दुर्लभता के कारण 'होना' क्रिया की दुर्लभता को भी द्योतित करता है तथा उस (अपि) का अन्वय 'स्यात्' से हो जाता है । यहाँ 'अपि से बिन्दु अर्थ गम्यमान है । सर्पिस् (घृत) से बिन्दु का "अवयवावयविभाव' सम्बन्ध है अर्थात् सर्पिस् अवयवी है और बिन्दु अवयव है,

---

१. उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५।।

स्तुहि, अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा। अपि सिञ्च, अपि स्तुहि, समुच्चये॥

२७—। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५॥

(3) इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधाना। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः। इति द्वितीया।

इसी हेतु 'सर्पिषः' में षष्ठी विभक्ति है। यही अपि की पदार्थ-द्योतकता है। यहाँ अपि (कर्मप्रवचनीय) के योग में 'सर्पिस्' शब्द में द्वितीया विभक्ति नहीं होती, क्योंकि 'सर्पिस्' का बिन्दु से सम्बन्ध है 'अपि' से नहीं यह कहा जा चुका है।

अपि स्तुयाद्विष्णुम् (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा?)—यह सम्भावना का उदाहरण है। सम्भावना का अर्थ है—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये अत्युक्ति करना। यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती और 'स्तुयात्' के 'स्' का 'ष्' (उपसर्गात् ०८।३।६५) नहीं होता।

अपि स्तुहि (अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं)—यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है। अन्ववसर्ग का अर्थ है—यथेष्ट कार्य करने की अनुमति देना। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है—उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाना तथा स् को ष् न होना।

धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, वह शूद्र की स्तुति करता है)—यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा द्योतित किया गया है। गर्हा का अर्थ है—निन्दा। कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्गात् ०८।३।६५) षत्व नहीं होता।

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सींचो भी स्तुति भी करो)—यहाँ अपि द्वारा समुच्चय द्योतित किया गया है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात्० ८।३।६५) नहीं होता।

(२७) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे—अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है। अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—निरन्तर संयोग। किसी गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना।

मासं कल्याणी (मास भर कल्याणकारिणी है) यहाँ कल्याण (गुण) मास भर में लगातार रहता है—अतः उपर्युक्त नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

क्रोशं कुटिला नदी—(कोस भर तक नदी टेढ़ी है) यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' से भी द्वितीया होती है।

मासमधीते (मास भर पढ़ता है)—यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है।

२८ । स्वतन्त्रः कर्त्ता १।४।५४॥

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ॥

२९ । साधकतमं करणम् ।१।४।४२।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः ॥

मासं गुडधानाः (मास भर गुड़धान हैं)—यहाँ गुड़धान (द्रव्य) मास भर लगातार चलते हैं अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'क्रोशं गिरिः' में भी।

अत्यन्तसंयोगे किम्—यदि गुण क्रिया और द्रव्य का कालवाचक या मार्गवाचक से लगातार सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंश से गुण आदि का सम्बन्ध होगा तो द्वितीया विभक्ति न होगी। जैसे—मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पढ़ता है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है। इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी। ॥ इति द्वितीया ॥

तृतीया विभक्ति। २८ स्वतन्त्रः कर्त्ता—क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित पदार्थ कर्त्ता कहलाता है।

कारक विवक्षा के अधीन हैं, नियत नहीं—'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आश्रय है उसे ही कर्त्ता कहते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन। जैसे—'देवदत्तस्तिष्ठति, वृक्षस्तिष्ठति'।

२९. साधकतमं करणम्—क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है उसकी करण संज्ञा होती है।

साधकतम शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक। जिस पदार्थ के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वही प्रकृष्ट उपकारक है उसकी करण संज्ञा होती है।

तमब्ग्रहणं किमिति—'साधकं करणम्', ऐसा ही कह देते, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः साधक ग्रहण से प्रकृष्ट साधक, यह समझ लिया जाता—फिर प्रकृष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये—तमप् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्राप्त हुआ विशेष अर्थ नहीं लिया जाता। इस ज्ञापन का फल यह होता है कि 'आधारोऽधिकरणम्' से आधार मात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है। केवल विशेष आधार की ही नहीं। अतः 'गङ्गायां घोषः'—(गङ्गा के तट पर घोसी रहते हैं) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है। अन्यथा 'तिलेषु तैलम्' आदि में जहाँ पूर्णतया व्यापक आधार है वहीं सप्तमी होती।

३० । कर्तृकरणयोस्तृतीया ।२।३।१८।
अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली ।
* (वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् ॥
प्रकृत्या चारु । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥
३१ । दिवः कर्म च ।१।४।४३॥

---

३० कर्तृकरणयोरिति—अनुक्त कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है ।
जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्त्ता अनुक्त होता है, जैसे— लक्ष्म्या सम्पत । अतः यहाँ 'लक्ष्म्या' में तृतीया विभक्ति है ।
रामेण बाणेन हतो बाली—यहाँ 'हन' में कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है, राम का कर्त्तापन अनुक्त है, अतः राम से उपर्युक्त नियम से तृतीया हो जाती है । मारने का प्रकृष्ट साधन 'बाण' है इसकी 'साधकतमं करणम्' से करण संज्ञा होकर इसमें भी तृतीया विभक्ति होती है ।
प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)-प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है ।
प्रकृत्या चारु (स्वभाव से सुन्दर)—यहाँ प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है) गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है) समेनैति (समगति से चलता है) विषमेणैति (विषम चलता है) आदि में भी तृतीया विभक्ति होती है । ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं । क्रियाविशेषण में द्वितीया प्राप्त थी । कहीं-कहीं ये करण के अर्थ को भी प्रकट करते हैं । जहाँ ये करण होते हैं वहाँ तो करण में तृतीया हो जाती है ।
द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अन्न खरीदता है)—यहाँ "दो द्रोण सम्बन्धी धान्य" इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति होती है ।
सुखेन दुःखेन वा याति (सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक जाता है)—यहाँ 'सुख' आदि शब्द क्रियाविशेषण है क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्य) नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है ।
टिप्पणी—'प्रकृति' आदि गण आकृति गण है अर्थात् इस प्रकार की तृतीया गणपाठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिये "नाम्ना सुतीक्ष्णः" "चरित्रेण दान्तः" यहाँ भी तृतीया होती है ।
३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।
अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति—(पासों से खेलता है)—यहाँ अक्ष (पासे) जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गे तृतीया ।२।३।६॥

अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

३३ । सहयुक्तेऽप्रधाने च ।२।३।१९॥

---

३२ अपवर्ग इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या कार्य-सिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' ।२।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया का बाधक है ।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—(दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया)—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् (दिन) शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें ।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) द्वितीया ही होती है । जैसे—**मासमधीतो नायातः**—'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ मास' में द्वितीया ही होती है ।

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ (सह) के अर्थ के योग में अप्रधान (अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्त्ता का साथ देने वाले) के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्त्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है । जैसे—आस्स्व साकं मया सौधे (भट्टि० ८/७०), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४. ६३), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु० १. २७) (देखिये काले सेक्शन ८१८) ।

विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है । स्वयं आचार्य पाणिनि ने "वृद्धो"

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागत पिता । एवं साकं सार्धं-समयोगेऽपि' । विनापि तद्योग तृतीया । 'वृद्धो यूना ।१।२।६५' । इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४ । येनाङ्गविकार ।२।३।२०॥

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काण । अक्षिसबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थ । अङ्गविकार किम् ? अक्षि काणमस्य ॥

३५ । इत्थभूतलक्षणे ।२।३।२१॥

कञ्चित्प्रकार प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापस । जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थ ॥

३६ । सज्ञोऽन्यतरस्या कर्मणि ।२।३।२२॥

यूना (१।२।६५) इत्यादि सूत्र म युवन् शब्द से तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह ज्ञात होना है ।

३४ येनाङ्गविकार —जिम विकृत अङ्ग स अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्ष्णा काण —(आँख का काना या आँख से काना) यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है अत आँखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होनी है । आँख सम्बन्धी कानेपन स युक्त है, यह अथ होता है । इसी प्रकार 'पादेन खञ्ज' 'शिरसा खल्वाट' 'कर्णेन बधिर' आदि ।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र म अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है ? यहाँ 'अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ म है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्ग —अर्श आदिभ्योऽच् अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वही अङ्गवाची से तृतीया होती है । 'अक्षि काणमस्य' म आँख का कानापन ही कहा गया है । इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नही होता अत यहाँ अक्षि शब्द से तृतीया विभक्ति नही होती ।

३५ इत्थभूतलक्षणे—इत्थभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ । किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न म तृतीया विभक्ति होती है ।

जटाभिस्तापस (जटाओ स तपस्वी) जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओ से लक्षित होता है उसके लिय यह प्रयोग है । यहाँ जटा तपस्वीपन का ज्ञापक (लक्षण) है । इससे उपर्युक्त नियमानुसार तृतीया विभक्ति होनी है । जटाओ से लक्षित तपस्वीपन से युक्त है ।' यह अर्थ होता है ।

३६ सज्ञोऽन्यतरस्यामिति—सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म मे विकल्प से तृतीया विभक्ति होनी है । पक्ष म द्वितीया होती है ।

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा संजानीते ॥

३७ । हेतौ ।-२।३।२३॥

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येन दृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका । अलं श्रमेण । श्रमेण । साध्यं नास्तीत्यर्थः । साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः । शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः ॥

*(वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया ॥ दास्या संयच्छते कामुकः । धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति ॥ इति तृतीया ॥

पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है)—यहाँ कर्म होने से केवल द्वितीया प्राप्त थी। उपर्युक्त नियम से विकल्प से तृतीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है।

३७. हेतौ—कारणवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में तृतीया कही गई है 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से करण में। हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु साधारणतया द्रव्य, गुण और क्रिया सभी का जनक हो सकता है, उसमें कोई व्यापार हो या न हो। किन्तु करण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साधक व्यापार रहता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। 'बाणेन हतः बाली' इस उदाहरण में बाण करण है। इसमें 'हनन' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है। दूसरी ओर—

दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा)—यहाँ दण्ड में व्यापार तो है किन्तु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का जनक नही अतः करण नहीं।

पुण्येन दृष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ)—यहाँ पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह करण नहीं है। यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

'फलमपीह' इति—यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसलिये 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन से रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

गम्यमाना इति—यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक विभक्ति में प्रयोजिका होती है। जैसे

अलं श्रमेण—(श्रम से बस करो) इसका अर्थ है—'श्रमेण साध्यं नास्ति। 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति करण है। साधन क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं अपितु

३८। कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् ।१।४।३२॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

३९। चतुर्थी सम्प्रदाने ।२।३।१३॥

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दानीयो विप्रः ॥ * (वा) क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् । पत्ये शेते ॥ * (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ॥

अध्याहार से जानी जाती है, अर्थात् गम्यमान है । अतः 'श्रम' से तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, कृतम् आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है—अलं कृतं वा श्रमेण ।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति—इसका अर्थ है शतेन परिच्छिद्य, सौ सौ करके बछड़ों को (दूध) पिलाता है । यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है । इसके प्रति 'शत' करण है । अतएव 'शतेन' में तृतीया विभक्ति होती है ।

अशिष्टव्यवहार इति (वा)—अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है ।

दास्या संयच्छते कामुकः—(कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है । चतुर्थी प्राप्त थी । कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है । संयच्छते में दाण् धातु को यच्छ् आदेश हुआ है ।

भार्यायै संयच्छति—अशिष्ट व्यवहार में ही चतुर्थी के स्थान पर यह तृतीया होगी । अतएव 'भार्यायै' में चतुर्थी होती है । ॥इति तृतीया ॥

चतुर्थी विभक्ति । ३८ कर्मणा इति—दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे उद्देश्य बनाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

सम्प्रदान अन्वर्थ संज्ञा है—सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्—जिसे कुछ वस्तु दी जाती है वह सम्प्रदान कहलाता है ।

३९ चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

विप्राय गां ददाति—(ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ विप्र के लिये गोदान किया जाता है अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और 'विप्र' से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अनभिहित इति—यहाँ भी 'अनभिहिते' २/३/१ सूत्र का प्रकरण है अत एव जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वहीं चतुर्थी विभक्ति होगी । 'दानीयो विप्रः' (दान योग्य विप्र है) यहाँ 'दा' धातु से सम्प्रदान (दीयतेऽस्मै) में अनीयर् प्रत्यय होकर 'दानीय' शब्द बनता है

४०। रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।१।४।३३।।

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात् । हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः । हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री । प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि ।।

४१ । श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।१।४।३४।।

अत एव सम्प्रदान उक्त हो गया, अनुक्त नहीं रहा । इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा होती है ।

क्रियया इति (वा)—किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

पत्ये शेते—यहाँ शयन क्रिया का अभिप्रेत पति है । अत उपर्युक्त नियम से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होती है ।

यजेः कर्मण इति (वा)—(यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हों) यज् धातु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है ।

पशुना रुद्रं यजते—इसका अर्थ है—पशु रुद्राय ददाति । यहाँ 'पशु' कर्म है और 'रुद्र' सम्प्रदान है । उपर्युक्त नियम से कर्म (पशु) की करण संज्ञा होकर उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान (रुद्र) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है ।

४०. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः—रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला (प्रीयमाण) सम्प्रदान संज्ञक होता है । 'रुच्' धातु के दो अर्थ हैं—दीप्ति और अभिप्रीति । यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति अर्थ लिया जाता है ।

हरये रोचते भक्तिः (हरि को भक्ति अच्छी लगती है)—यहाँ प्रसन्न होने वाला 'हरि' है । उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अन्यकर्तृक इति—रुचि और अभिलाषा के अर्थ में अन्तर है । अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई अभिलाषा को रुचि कहते हैं । उपर्युक्त उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि (प्रीति) को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है । रुचि के इस विशेष अर्थ के कारण 'हरिं भक्तिमभिलषति' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

प्रीयमाणः किमिति—जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' (देवदत्त को मार्ग में मोदक अच्छा लगता है) यहाँ पथिन् शब्द की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं है

४१. श्लाघेति—श्लाघ् (स्तुति करना) ह्नुङ् (छिपाना, दूर करना), ष्ठा (ठहरना), शप् (उलाहना देना) इन धातुओं के प्रयोग में, जिस पर कर्त्ता अपना भाव प्रकट करना चाहता है (ज्ञीप्स्यमानः-बोधयितुमिष्टः) उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्? देवदत्ताय श्लाघते पथि।
४२। धारेरुत्तमर्णः ।१।४।३५॥

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे॥
४३ स्पृहेरीप्सितः ।१।४।३६॥

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा—(गोपी) कामपीड़ा से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह वेदना प्रकट करती है (श्लाघते) सपत्नी को हटाकर अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (ह्नुते) जाना चाहिये यह कहने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (तिष्ठते), उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है (शपते)[1]। यहाँ मतन कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

ज्ञीप्स्यमान किमिति—सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जिस पर कर्त्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे—देवदत्ताय श्लाघते पथि यहाँ पथ की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

४२ धारेरुत्तमर्णः—धारि (णिजन्त धृ = ऋणी होना) धातु के योग में ऋण-दाता (उत्तमर्ण) की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (भगवान् भक्त के मोक्ष का ऋणी है)—यहाँ 'हरि' अधमर्ण (ऋण लेने वाला) है उस पर भक्त का भक्ति रूपी ऋण है जिसका निष्क्रय मोक्ष द्वारा सम्भव है। भक्त उत्तमर्ण है। उपर्युक्त नियम से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्तमर्णः किमिति—यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण (ऋणदाता) की ही होती है अतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा होती है 'ग्राम' की नहीं।

४३. स्पृहेरीप्सितः—स्पृह (चाहना) धातु के योग में चाहा हुआ (ईप्सित) पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक होता है।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—(फूलों की चाह करता है)—यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

ईप्सित किमिति—ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि—स्पृह धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

---

१. बालमनोरमा

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ॥

४४ । क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ।१।४।३७॥

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् । हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ? भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्याऽक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति ।

ईप्सितमात्र इति—'स्पृहेरीप्सितः' १।४।३६ सूत्र से केवल चाहे हुए (ईप्सितमात्र) की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होता है अर्थात् अत्यधिक चाहा हुआ (ईप्सिततम) कहना होता है वहाँ परे होने से (परत्वात्) कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९ से कर्म संज्ञा ही होती है । 'पुष्पाणि स्पृहयति' में पुष्प में ईप्सिततम की विवक्षा है । अतः इसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

४४. क्रुधद्रुहेर्ष्येति—क्रुध् (क्रोध करना), द्रुह् (वैर करना), ईर्ष्य् (ईर्ष्या करना), असूय (गुणों में दोष देखना)—इन धातुओं तथा इनके समान अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर क्रोध आदि किया जाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है ।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति असूयति वा (हरि पर क्रोध करता है, द्रोह करता है, ईर्ष्या करता है या उसके दोष निकालता है) यहाँ हरि की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

यं प्रति कोपः किमिति—जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा होती है । 'भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति' अर्थात् पत्नी को दूसरा देखे यह सहन नहीं करता । यहाँ भार्या के प्रति कोप नहीं, किन्तु उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना असह्य है, अतः भार्या की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, क्रोध का अर्थ है—अमर्ष, द्रोह का अर्थ है—अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है—सहन न करना तथा गुणों में दोष निकालना असूया है तथापि 'यं प्रति कोपः' (जिसके प्रति कोप हो) यह सामान्य रूप से सभी का विशेषण है; क्योंकि कोप से पैदा होने वाले (कोपप्रभवाः) द्रोह आदि ही यहाँ लिये जाते हैं । उन्हीं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है जैसा कि "भार्यामीर्ष्यति" आदि उदाहरण से स्पष्ट है ।

४५। क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ।१।४।३८॥

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति। अभिद्रुह्यति॥

४६। राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९॥

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः॥

४७। प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ।१।४।४०॥

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः॥

४८। अनुप्रतिगृणश्च ।१।४।४१॥

---

४५ क्रुधद्रुहोरिति—उपसर्ग पूर्वक (उपसृष्ट) क्रुध् तथा द्रुह धातु के योग मे, जिसके प्रति कोप होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। यह नियम पहले नियम का अपवाद है।

क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है)—यहाँ पूर्व सूत्र (४४) से 'क्रूर' की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसे बाध कर उपर्युक्त नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

४६ राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्न—(राध् धातु आराधना या साधना अर्थ मे है और ईक्ष् देखने अर्थ मे, किन्तु यहाँ इनका शुभाशुभ कथन अर्थ है) इन धातुओं के योग मे जिसका विविध प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है। यहाँ कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

४७. प्रत्याङ्भ्याम् इति—प्रति और आ (आङ्) पूर्वक श्रु (सुनना) धातु के योग मे पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्त्ता अर्थात् प्रेरित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

विप्राय गां प्रतिशृणोति—(आशृणोति वा)—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने—"मुझे गाय दे दो" ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक श्रु धातु का अर्थ है—प्रतिज्ञा करना, वचन देना)। इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्त्ता 'विप्र' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान मे चतुर्थी विभक्ति हुई।

४८. अनुप्रतिगृणश्च—अनु और प्रति पूर्वक गृ (शब्दे) धातु के पूर्व व्यापार का कर्त्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति । होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ॥

४६ । परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ।१।४।४४॥

नियतकाल भृत्या स्वीकरण परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः ॥

***(वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ॥**

मुक्तये हरिं भजति ।

***(वा) क्लृपि संपद्यमाने च ॥**

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि ॥

***(वा) उत्पातेन ज्ञापिते च ॥**

होत्रेऽनुगृणाति (प्रतिगृणाति वा)—इसका अर्थ है—होता (चार यज्ञकर्ता या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता) प्रोत्साहन देता है। यहाँ 'होतृ' बोलना (शंसति) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है अतः उपर्युक्त नियम से 'होतृ' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है—(होत्रे)।

४६. **परिक्रयणे इति**—परिक्रयण का अर्थ है—नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना। परिक्रयण में साधकतम कारक अर्थात् करण की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

शतेन शताय वा परिक्रीतः—(सौ रुपये 'वेतन' से रक्खा हुआ)—यहाँ 'शत' परिक्रमण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जब सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती तब करण में तृतीया विभक्ति हो जाती है।

तादर्थ्य इति (वा)—तादर्थ्य का अभिप्राय है—उसके लिये अर्थात् प्रयोजन। जिस (प्रयोजन) के लिये कोई कार्य या वस्तु होती है उस (प्रयोजन) से चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे—

मुक्तये हरिं भजति—(मुक्ति के लिये हरि को भजता है)—यहाँ हरि के भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार "कुण्डलाय हिरण्यम्" (कुण्डल बनाने के लिये सोना है) "काव्यं यशसे" (काव्य कीर्ति के लिये है) इत्यादि में कुण्डल तथा यशस् से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

क्लृपि इति (वा)—क्लृप् (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जो होने वाला (परिणाम) है उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते (सम्पद्यते, जायते इत्यादि)—'भक्ति ज्ञान के लिये होती है', यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है। उपर्युक्त नियम से ज्ञान में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्पातेन ज्ञापिते च (वा)—उत्पात का अर्थ है—अशुभसूचक अकस्मात् होने

वाताय कपिला विद्युत् ॥

*(ख) हितयोगे च ॥

ब्राह्मणाय हितम् ॥

५०। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।२।३।१४॥

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यादावपि ॥

वाला भौतिक विकार । उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचक होती है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

हितयोगे च (वा)—हित के योग में, चतुर्थी विभक्ति होती है । जैसे "ब्राह्मणाय हितम्" ब्राह्मण के लिये हितकर । इसी प्रकार 'ब्राह्मणाय सुखम्' आदि ।

५० क्रियार्थ' इति—क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है—'क्रियार्था क्रिया उपपद* यस्य' किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया पास में सुनी जाती है जिसके इस शब्द से 'तुमुन्' प्रत्यय लक्षित होता है क्योंकि क्रियार्था क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधान किया गया है—तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। 'स्थानिन' का अर्थ है जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य)। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—

यदि तुमुन् प्रत्ययान्त धातु का अर्थ प्रकट हो, किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो तो उसके कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

फलेभ्यो याति—इसका अर्थ है 'फलानि आहर्तुं याति' (फल लेने के लिये जाता है)—यहाँ क्रियार्था क्रिया है—'याति' (क्योंकि जाना क्रिया फल लाने के लिये है) । आहर्तुं (तुमुन्प्रत्ययान्त) का अर्थ प्रकट होता है; किन्तु उसका प्रयोग नहीं किया गया । उसका 'कर्म' है—फल । उपर्युक्त नियम से 'फल' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय—इसका अर्थ है 'नृसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः (नृसिंह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं) । यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है । 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नृसिंह है । इसलिये 'नृसिंह', शब्द से उपर्युक्त नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भुवं प्रीणयितुं नमस्कृत्य='ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये नमस्कार करके') आदि में भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।

---

*समीपे श्रूयमाणं पदम् उपपदम्, जो पद (शब्द) समीप में सुनाई देता है वह उपपद कहलाता है ।

५१ । तुमर्थाच्च भाववचनात् ।२।३।१५॥

भाववचनाश्च ३।३।११। इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ॥

५२ । नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ।२।३।१६॥

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । (प) उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति-र्बलीयसी ॥ नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त

---

५१. तुमर्थाच्चेति—भाववचनाश्च ३।३।११। इस सूत्र में कहा गया है कि भाववाची घञ् आदि प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं। उन घञ् प्रत्ययान्त आदि शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होती है।

यागाय याति—इसका अर्थ है—'यष्टुं याति' अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता है। यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववाची घञ् प्रत्ययान्त (यज्+घञ्) शब्द है। उपयुक्त नियम के अनुसार 'याग' से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

५२. नमः स्वस्ति इति—नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—'हरये नमः' (हरि के लिये नमस्कार) यहाँ 'नमः' शब्द के योग में 'हरये' में चतुर्थी विभक्ति है।

उपपदविभक्तेरिति—उपपद विभिक्त से कारक विभक्ति बलवती होती है अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है। दो निमित्तों से विभक्ति का विधान किया गया है एक तो क्रिया के सम्बन्ध से, जिसे कारक विभक्ति कहते हैं। वह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति आदि के रूप में कही गई है। दूसरी है—उपपद विभक्ति, उपपद—समीप में स्थित पद। क्रिया से भिन्न अन्य शब्द (पद) के निमित्त से होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति बलवती होती है, जैसे—'नमस्करोति देवान्' (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ 'नमः' के योग में 'देव' शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है यह उपपद विभक्ति है। किन्तु 'नमस्क-रोति' यह क्रियापद हो जाने पर इसके सम्बन्ध में 'देव' कर्म हो जाता है और द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है। यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है। अतएव चतुर्थी (उपपद विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्)।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)—'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा)। पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये अन्नादि) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

अलमिति—सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्द का ग्रहण किया जाता है। इसके दो फल होते हैं—(१) निषेध अर्थ में जो 'अलम्' शब्द है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे—'अलं विवादेन' (२) पर्याप्त (समर्थ) अर्थ

इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधु । तस्मै प्रभवति ५।१।१०१। स एषां ग्रामणीः ५।२।७८। इति निर्देशात् । तेन प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकार पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी' ति २।३।७३ षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति ॥ स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

५३ । मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ।२।३।१७॥

वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । जैसे—दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः समर्थः, शक्तः ।

दैत्येभ्यो हरिरलम्—यहाँ पर्याप्त अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग में 'दैत्येभ्य' में चतुर्थी होती है ।

प्रभ्वादियोग इति—प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध है । यद्यपि किसी सूत्र या वार्तिक से षष्ठी का विधान नहीं किया गया तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' ५।१।१०१॥ प्रयोग से विदित होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार उनके 'स एषां ग्रामणीः' ५।२।७८॥ प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी होती है । अतएव—प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' (१,४९) माघ कवि की इस उक्ति में 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग भी व्याकरण-सम्मत ही है ।

वषट् + इन्द्राय (इन्द्र के लिए हवि दान)—यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'वषट्' के योग में इन्द्र' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चकार इति—सूत्र (५२) में च (योगात् + च) फिर से चतुर्थी कहने के लिये है ।—

स्वस्ति गोभ्यो भूयात्—(गायों का कल्याण हो)—यहाँ नमः स्वस्ति० २।३।१६ आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है । चतुर्थी चाशिषि० २।३।७३ इस नियम से चतुर्थी और षष्ठी दोनों विकल्प से प्राप्त होती हैं । अष्टाध्यायी में 'चतुर्थी चाशिषि०' 'नमः स्वस्ति०' से परे (आगे) है और दो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है (विप्रतिषेधे परं कार्यम्) अतः चतुर्थी और षष्ठी विकल्प से होनी चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है । इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति०' सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया गया है । यह बलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि०' इस षष्ठी को बाधकर 'नमः स्वस्ति' से होने वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है ।

५३. मन्यकर्मणि इति—अनादर प्रकट करने में मन् (मानना, दिवादि) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया ही होती है ।

प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। त्वां तृणं मन्वेऽहम्। अप्राणिष्वित्यपनीय॥

(वा) नौकाकान्नशुकशृगालवर्ज्येष्विति वाच्यम्॥

तेन न त्वां नावमन्नं वा मन्ये, इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव॥

५४। गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२॥

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। चेष्टायां किम्? मनसा हरिं व्रजति। अनध्वनीति किम्? पन्थानं गच्छति।

गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति॥ इति चतुर्थी॥

न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं समझता—यहाँ उपर्युक्त नियम से 'तृण' शब्द से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है। पक्ष में कर्म में द्वितीया ही होती है।

श्यनेति—श्यन् से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन् (मन्यते) धातु ली जाती है, अतः तनादि गण की 'मन्' धातु के योग में यह चतुर्थी नहीं होती, 'न त्वां तृणं मन्वेऽहम्'।

अप्राणिषु० इति वा—वार्तिककार का कथन है कि सूत्र में से 'अप्राणिषु' शब्द को हटाकर उसके स्थान में—नौ (नाव), काक (कौआ) अन्न, शुक (तोता) शृगाल (सियार) को छोड़कर ऐसा कहना चाहिये। इसका फल होता है कि—

१ न त्वां नावं मन्ये (तुझे नाव नहीं समझता)—यहाँ अप्राणी (नाव) होने के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु इष्ट नहीं है। वार्तिक में 'नौ' को वर्जित करने से चतुर्थी नहीं होती।

२ न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता)—यहाँ श्वन् (कुत्ता) प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिषु; किन्तु चतुर्थी इष्ट है। वार्तिक में 'श्वन्' को वर्जित नहीं किया गया अतः वार्तिक के अनुसार 'शुने' में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

५४. 'गत्यर्थकर्मणि इति'—यदि वह (कर्म) मार्ग न हो और शरीर की गति (चेष्टा) कही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती है।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गाँव को जाता है)—यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं है और गाँव जाने में शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम से 'ग्राम' या

५५। ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ ॥
अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् ॥
५६ अपादाने पञ्चमी २।३।२८ ॥
ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात्पतति। कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति।

'ग्रामाय' में विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति होती है।

चेष्टायां किमिति—'चेष्टा' में यह क्या कहा ? इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ता वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है, जैसे—'मनसा हरिं व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है)। इसी प्रकार नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके' इत्यादि (आप्टे ७१)।

अनध्वनीति—यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी नहीं। जैसे 'पन्थानं गच्छति' (मार्ग को जाता है)।

गन्त्राधिष्ठित इति—यदि जाने वाले (गन्तृ) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित (प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी यह चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, किन्तु जब उत्पथ (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ होकर वह उसे छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गवाची में भी चतुर्थी विभक्ति होती ही है। जैसे—'उत्पथेन पथे गच्छति' (उत्पथ से पथ को जाता है) भाव यह है कि—यदि कोई देहली के लिये चला, किन्तु भ्रम से देहली का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर हो लिया, वही अन्य मार्ग उत्पथ कहलायगा। उस मार्ग से जब अपने इष्ट देहली के मार्ग को प्राप्त करने के लिये चलेगा तो 'उत्पथेन पथे गच्छति' यह प्रयोग होगा। यहाँ 'पथे' में चतुर्थी विभक्ति होती ही है ॥ इति चतुर्थी ॥

पञ्चमी विभक्ति। ५५ ध्रुवमपायेऽपादानम्—अपाय का अर्थ है विश्लेष, अलग होना। किसी वस्तु या व्यक्ति के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा) रूप है वह अपादान कहलाता है।

५६ अपादाने पञ्चमी—अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है।

ग्रामाद् आयाति—(ग्राम से आता है)—कहाँ से आता है ? ग्राम से। यहाँ ग्राम अवधिरूप है अतः इसकी अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

धावतोऽश्वात्पतति [दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है]—यहाँ यद्यपि घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता हुआ है तथापि वह पतन क्रिया के प्रति अवधि है ही अतएव 'अश्व' की अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

*(वा) जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥

पापाज्जुगुप्सते । विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ॥

५७ । भीत्रार्थानां भयहेतुः ।१।४।२५॥

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादनं स्यात् । चौराद् बिभेति । चौरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा ॥

टिप्पणी—'धावतोऽश्वात् पतति' आदि प्रयोगो में अश्व आदि की अपादान संज्ञा होनी चाहिये इसलिये सूत्र के 'ध्रुव' शब्द का अर्थ 'स्थिर' नहीं अपितु 'अवधिभूत' माना जाता है ।

कारकं किमिति—कारक अपादनसंज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि जो कारक नही होता, अर्थात् जिसका क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' का पतन क्रिया से सम्बन्ध विवक्षित नहीं, अपितु 'पर्ण' से सम्बन्ध है । अतएव यहाँ वृक्ष की अपादान संज्ञा नही होती ।

जुगुप्सेति (वा)—जुगुप्सा (घृणा) विराम (हटना, अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

पापात् जुगुप्सते (पाप से घृणा करता है)—यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय है अतः उपर्युक्त नियम से इसकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार पापात् विरमति (पाप से बचता है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि ।

टिप्पणी—प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है । जैसे—'न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः' (आप्टे ७६ टि०) ।

५७. भीत्रार्थानां भयहेतुः—'भय' अर्थ वाली तथा 'रक्षा' (त्राण) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है ।

चौराद् बिभेति (चोर से डरता है)—यहाँ चोर भय का हेतु है । उसकी उपर्युक्त नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'चौरात् त्रायते' (चोर से रक्षा करता है) ।

भयहेतुः किमिति—भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'अरण्ये बिभेति' में अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं । यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पञ्चमी विभक्ति हो ही सकती है ।

५८। पराजेरसोढः ।१।४।२६॥

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात्पराजयते । ग्लायतीत्यर्थः । असोढः किम् ? शत्रून्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ॥

५९। वारणार्थानामीप्सितः ।१।४।२७॥

प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽपादानं स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ॥

६०। अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ।१।४।२८॥

---

५८ पराजेरसोढः—परा (उपसर्ग) पूर्वक जि धातु के योग में असह्य वस्तु की अपादान संज्ञा होती है।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उपर्युक्त नियम से पराजयते के योग में अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसका भाव है—अध्ययन से थक गया है।

असोढः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'शत्रून् पराजयते'—शत्रुओं को हराता है (अभिभवति=पराजित करता है) यहाँ शत्रु की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह असह्य नहीं। 'शत्रून्' में कर्म में द्वितीया हुई है।

५९ वारणार्थानामीप्सितः—वारण का अर्थ है—प्रवृत्ति का विघात, किसी कार्य में लगे हुए को रोकना। वारण अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु (जिससे हटाने की चाह होती है) अपादान संज्ञक होती है।

यवेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है)—'यव' से गाय को हटाना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किम्—जिससे किसी को दूर करना अभीष्ट होता है। वही अपादान होता है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट नहीं बल्कि यव हैं। अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं होती।

६० 'अन्तर्धौ' इति—अन्तर्धि का अर्थ है, व्यवधान (ओट)। व्यवधान होने पर जिससे अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

मातुर्निलीयते कृष्णः—(कृष्ण माता से छिपता है)—कृष्ण दीवार आदि का व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'मातृ' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है।

अन्तर्धौ किमिति—अन्तर्धि शब्द रखने का क्या प्रयोजन है ? यह कि जहाँ

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम् ? चौरान्न दिदृक्षते । इच्छतिग्रहणं किम् । अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् ॥

६१ । आख्यातोपयोगे ।१।४।२९॥

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । उपयोगे किम् । नटस्य गाथां शृणोति ॥

६२ । जनिकर्तुः प्रकृतिः ।१।४।३०॥

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥

६३ । भुवः प्रभवः ।१।४।३१॥

व्यवधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है वही यह अपादान संज्ञा होती है अतएव "चौरान् न दिदृक्षते" (चोर मुझे न देख लें इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ 'चोर' की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ व्यवधान निमित्तक छिपने का भाव नहीं है ।

इच्छतिग्रहणं किमिति—सूत्र में 'इच्छति' (चाहता है) का ग्रहण क्यों किया ? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जाने पर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है । जैसे 'देवदत्तात् यज्ञदत्तो निलीयते ।'—देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है ।

६१. आख्यातोपयोगे—यहाँ उपयोग शब्द का (रूढ़) अर्थ है—नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना । नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण करने में अध्यापक या शिक्षक (आख्याता वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है ।

उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)—उपर्युक्त नियम से उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

उपयोगे किमिति—जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा-ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि 'नटस्य गाथां शृणोति' नट की गाथा सुनता है । यहाँ 'नटस्य' में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा-प्राप्ति नहीं है ।

६२. जनिकर्तुः प्रकृतिः—जनि का अर्थ है—जन्म उत्पत्ति । जनिकर्ता = उत्पन्न होने वाले (जायमान) का हेतु अपादान संज्ञक होता है ।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते [ब्रह्मा से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं]—यहाँ प्रजायन्ते का कर्ता [उत्पन्न होने वाला] प्रजा है । इसका हेतु 'ब्रह्म' है; अतः उपर्युक्त नियम से 'ब्रह्म की अपादान संज्ञा होकर उससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

६३. भुवः प्रभवः—'भू' शब्द का अर्थ है होना (भू का षष्ठी, एक० भुवः) 'प्रभव' का अर्थ है—प्रथम प्रकाश-स्थान । यहाँ पूर्व सूत्र से 'कर्तुः' पद की अनुवृत्ति होती है । भू के कर्ता के उत्पत्ति-स्थान की अपादान संज्ञा होती है ।

भवन भू । भूकर्तृ प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशत इत्यर्थः ।

*(वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च ॥

प्रासादात् प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्रेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् । कस्मात्त्वं नद्याः ॥

*(वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी ॥ *तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ॥ कालात्सप्तमी च वक्तव्या ॥

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—इसका अर्थ है—हिमालय से गङ्गा निकलती है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है । यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ल्यब्लोप इति (वा)—ल्यप् प्रत्ययान्त के छिपे रहने पर (उसका अर्थ प्रकट होने पर) उसके कर्म तथा आधार में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

प्रासादात् प्रेक्षते—इसका अर्थ है—'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर चढ़कर देखता है) । यहाँ 'आरुह्य' ल्यप् प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं, उसका कर्म है—'प्रासाद' । उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसने उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है । इसमें पञ्चमी विभक्ति होती है ।

श्वशुराज्जिह्रेति—(श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर को देखकर लज्जित होती है यहाँ 'श्वशुर' ल्यप् प्रत्ययान्त (वीक्ष्य) का कर्म है ।

गम्यमाना इति—जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अपि तु प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है । ऐसी क्रिया भी कारक-विभक्ति का निमित्त होती है । जैसे—'कस्मात् त्वम् ?' (तुम कहाँ से आये ?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से आना (आगमन) क्रिया का बोध होता है । उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

यतश्चेति (वा)—जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय-वाची से पञ्चमी विभक्ति होती है । यहाँ निर्माण का अर्थ है—निमान, माप ।

तद्युक्तादिति (वा)—उस पञ्चम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

कालादिति (वा)—उस पञ्चम्यन्त से अन्वित कालवाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ।

६४। अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥२।३।२९॥

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद्वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न । तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२। इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ २।३।३०। इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच्

(..) **वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा** (वन से ग्राम एक योजन है)—यहाँ 'वन' से ग्राम की दूरी दिखाई गई है । 'यतश्च०' इत्यादि नियम के अनुसार 'वन' पञ्चमी विभक्ति में है । पञ्चम्यन्त से अन्वित मार्गवाची शब्द 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है ।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—(कातिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा एक महीने में होती है)—यहाँ 'कार्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्तिकी में पञ्चमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखलाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है ।

६४. अन्यारात् इति—अन्य, आरात् (दूर या समीप) इतर (अन्य), ऋते (विना), दिशावाची शब्द, 'अञ्चु, धातु से बना हुआ है उत्तरपद जिनमें ऐसे प्राक् प्रत्यक् आदि, शब्द; आच् (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द इनके योग मे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अन्येति—सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वाले सभी शब्दों (भिन्न, पर, इतर आदि) का ग्रहण होता है । 'इतर' शब्द भी अन्यार्थक है, इसका पृथक् ग्रहण दिग्दर्शन मात्र के लिये किया गया है । (अथवा अनावश्यक है) ।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न)—यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'आराद् वनात्' (वन के समीप अथवा वन से दूर) । ऋते 'कृष्णात्' (कृष्ण के विना) 'पूर्वो ग्रामात् (ग्राम से पूर्व) ।

(१) दिशि दृष्ट इति—सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है दिशा में देखा गया शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में उसका प्रयोग किया गया है उसके साथ भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । जैसे—

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः—में पूर्व शब्द का अर्थ है—पहले, अतः यह काल का वाचक है । पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी 'चैत्रात्' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

दक्षिणा ग्रामात् । आहि दक्षिणाहि ग्रामात् ॥ अपादाने पञ्चमी २।३।२८। इति सूत्रे कार्तिक्या प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः । 'अपपरिबहिः—२।१।१२, इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी । ग्रामाद् बहि ॥

---

(२) अवयवेति—अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दो के योग मे पञ्चमी नही होती । आचार्य पाणिनि का तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२। प्रयोग ही इसमे प्रमाण है । यहाँ 'तस्य परम्' मे 'पर' के योग मे पञ्चमी नही । फलत 'पूर्व कायस्य' (शरीर का पूर्व भाग) मे पञ्चमी विभक्ति नही होती अपि तु सम्बन्ध मे षष्ठी विभक्ति होती है ।

(३) अञ्चूत्तरपदस्येति—यद्यपि अञ्चूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द दिक् शब्द ही हैं, अत दिक् शब्द से अञ्चूत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है तथापि सूत्र मे उनका पृथक् ग्रहण षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० सूत्र (७८) से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध करने के लिये किया गया है । इसका फल यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग मे पञ्चमी विभक्ति ही होती है षष्ठी नही, जैसे—प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात् ।

टिप्पणी—यहाँ प्राक् प्रत्यक् आदि शब्दो मे स्वार्थ मे अस्ताति प्रत्यय (५।३।२७) होता है और उसका लुक् (अञ्चेर्लुक् ५।३।३०) हो जाता है । 'अस्ताति' प्रत्यय अतसर्थक है (देखिये सू० ७८) ।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा मे)—यह आच् प्रत्यय का उदाहरण है । दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होकर दक्षिण आ—दक्षिणा अव्यय शब्द बनता है । इसके योग मे ग्रामात् म पञ्चमी विभक्ति होती है ।

दक्षिणाहि ग्रामात्—(ग्राम से दूर दक्षिण दिशा मे)—यह 'आहि' प्रत्यय का उदाहरण है । दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है । इसके योग मे ग्रामात् मे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अपादान इति—अपादाने पञ्चमी २।३।२८ इस सूत्र पर 'कार्तिक्या प्रभृति' इस भाष्य के प्रयोग से सूचित होता है कि प्रभृति अर्थ वाले शब्दो के योग मे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरि [जन्म से लेकर (आमरण) हरि की भक्ति करनी चाहिये]—यहाँ प्रभृति के योग मे पञ्चमी विभक्ति होती है । यद्यपि किसी नियम से यह कही नही गई किन्तु 'अपादाने पञ्चमी २।३।२८' इस सूत्र के भाष्य मे 'कार्तिक्या प्रभृति' यह प्रयोग किया गया है, इससे यह बात सूचित होती है कि प्रभृत्यर्थक शब्दो के योग म पञ्चमी होती है ।

अपपरीति—अपपरि० २।१।१२ इस सूत्र के द्वारा 'बहि' का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है, इस ज्ञापन से बहिर् के योग म पञ्चमी होती है ।

६५ । अपपरी वर्जने ।१।४।८८॥

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

६६ । आङ् मर्यादावचने ।१।४।८९॥

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

६७ । पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।२।३।१०॥

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आमुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

ग्रामाद् बहिः (ग्राम के बाहर)—यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पञ्चमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२ इस सूत्र में 'बहिः शब्द का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है । उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है । यदि इसके साथ पञ्चमी विभक्ति न होगी तो पञ्चम्यन्त से समास कैसे होगा ।

६५. अपपरी वर्जने—वर्जन अर्थ को द्योतित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

६६. आङ्मर्यादावचने—मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निकल आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिविधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा इष्ट है । मर्यादा का अर्थ है—उसके विना (तेन विनेति मर्यादा) । अभिविधि का अर्थ है उसके सहित (तेन सहेत्यभिविधिः)

६७. पञ्चम्यपाङ्परिभिः—अप, आङ्, परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अप हरेः, परि हरेः संसारः—(भगवान् को छोड़कर जन्म मरण रूप संसार चक्र है) यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में है अतः इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इनके योग में 'हरेः' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

लक्षणादाविति—जहाँ 'परि' शब्द लक्षण, इत्थंभूताख्यान आदि अर्थ में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान० (२१) आदि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (१७) इससे द्वितीया ही होगी । जैसे—हरिं परि ।

आमुक्तेः संसारः—(मुक्ति तक अथवा मुक्ति से पहले संसार है)—यहाँ 'आ' मर्यादा अर्थ में है । मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसरण नहीं रहता अतः मुक्ति मर्यादा है । इस 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'मुक्ति' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

६८। प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ।१।४।९२॥

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्।

६९। प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।२।३।११॥

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

७०। अकर्तर्यृणे पञ्चमी ।२।३।२४॥

कर्तृवर्जितं यद्दृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। अकर्तरि किम्? शतेन बन्धितः॥

आ सकलाद् ब्रह्म—(सकल पर्यन्त या सबको व्याप्त करके ब्रह्म है)—यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ में है क्योंकि सकलवस्तु में ही ब्रह्म है। इस आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से 'सकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति होती है।

६८ प्रतिरिति—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६९ प्रतिनिधीति—जिसकी ओर से कोई प्रतिनिधि होता है अथवा जिससे कोई वस्तु बदली जाती है उससे कर्मप्रवचनीय (उपर्युक्त 'प्रति') के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति—(प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)—यहाँ 'प्रति' प्रतिनिधित्व को प्रकट करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और 'प्रतिनिधि० ६९' आदि नियम से इसके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़दों को बदलता है)—यहाँ तिलों से उड़द बदले जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द द्योतित करता है अतः प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः' शब्द में पञ्चमी विभक्ति होती है।

७० अकर्तर्यृणे, इति—कर्ता से भिन्न जो ऋण (किसी का) हेतु हो, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

शताद् बद्धः—इसका अर्थ है—सौ (रुपये आदि) का ऋण न लौटाने के कारण बंध गया। यहाँ 'शत' (ऋण) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त नियम से इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

अकर्तरि किमिति—अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि ऋण अर्थ में विद्यमान जिस शब्द की कर्ता संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो तो भी उसके योग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती। जैसे—'शतेन बन्धितः', इसका अर्थ है—'सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बँधवा दिया" शतेन बन्धितः अधमर्णः

७१। विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ।२।३।२५॥

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ॥ जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः। विभाषेति योगविभागाद् गुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥

उत्तमर्णेन इत्यर्थः । 'बन्धित.' शब्द णिजन्त (प्रेरणार्थक) बन्ध् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर बना है 'अधमर्ण उत्तमर्णेन बद्धः' "कर्जदार को ऋणदाता ने बाँधा" यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा। 'शत' बांधने की प्रेरणा देता है। यह प्रयोजक कर्ता है और हेतु भी (तत्प्रयोजको हेतुश्च)। यहाँ शत की कर्तृ संज्ञा हो जाने के कारण इससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती।

७१. विभाषेति—जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (जड़ता के कारण बंध गया)—यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है। यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं। अतएव इससे पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है।

गुणे किमिति—गुणवाचक शब्द से पञ्चमी होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि जो शब्द गुणवाचक नहीं उससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती; अपितु हेतु में तृतीया विभक्ति ही होती है, जैसे—धनेन कुलम् (धन के कारण कुल)।

अस्त्रियां किमिति—सूत्र में 'अस्त्रियाम्' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जो शब्द गुणवाचक हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग हो उससे पञ्चमी विभक्ति न होगी; अपितु हेतु मे तृतीया विभक्ति होगी; जैसे—बुद्ध्या मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया)। यहाँ 'बुद्धि' से तृतीया विभक्ति होती है।

विभाषा इति योगविभागाद् इति—'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र मान लेते है। उसमें ऊपर से 'हेतौ' और 'पञ्चमी' शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है—हेतु मे विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है। इसका फल यह होता है—

(१) कहीं-कही गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है, जैसे—'धूमाद् अग्निमान्'—(धुआँ होने से अग्नि वाला है)—यहाँ 'धूम' गुणवाचक नहीं तथापि पञ्चमी विभक्ति होती है।

(२) कही स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भी हेतु में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है, जैसे—"नास्ति घटोऽनुपलब्धेः", (उपलब्धि न होने से घट नही है)-यहाँ "अनुपलब्धि" शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथापि इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

७२। पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।३२॥

एभिर्योगे तृतीया स्यात्पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्या ग्रहणं समुच्चयार्थम् पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग् रामेण रामात् राम वा। एव विना नाना।

७३। करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ।२।३।३३॥

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्य करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्त। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु–स्तोकेन विषेण हत।

---

७२. पृथग्विनेति—पृथक्, विना, नाना के योग मे विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है और (पक्ष मे) पञ्चमी तथा द्वितीया विभक्ति भी होती है।

अन्यतरस्यामिति—सूत्र मे 'अन्यतरस्याम्' शब्द (जिसका अर्थ वा या 'विकल्प से' है)—पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति के समावेश के लिये है। पञ्चमी और द्वितीया दोनो की अनुवृत्ति आ रही है, पञ्चमी की मण्डूकप्लुति द्वारा अपादाने पञ्चमी २।३।२८। से और द्वितीया की पहले सूत्र 'एनपा द्वितीया २।३।३१।' से।

पृथग् रामेण, रामात् राम वा (राम से अलग)—यहाँ पृथक् शब्द के योग मे 'राम' शब्द से तृतीया अथवा पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार—

रामात् रामेण, राम वा विना जीवितु नोत्सहे (राम के विना मैं जी नही सकता) 'नाना नारी निष्फला लोकयात्रा' (नारी के विना जीवन निष्फल है) आदि (आप्टे द्वारा उदाहृत) प्रयोगो मे विना तथा नाना के योग में तृतीया, पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति होती है।

७३. करणे चेति—स्तोक (तनिक), अल्प (थोडा), कृच्छ्र (कष्ट), कतिपय (कुछ) इन शब्दो का जब द्रव्य के लिये प्रयोग नही होता तो इनसे करण मे तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति (विकल्प से) होती है। असत्त्ववचनस्य का अर्थ है—'अद्रव्यवाची का' अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के समानाधिकरण रूप में नही होता।

स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्त —इसका अर्थ है—थोडे से (प्रयास) मे ही मुक्त हो गया। यहाँ 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नही, अत उपर्युक्त नियम से इसमे तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हो जाती है। इसी प्रकार 'अल्पेन अल्पाद् वा मुक्त', 'कृच्छ्रेण कृच्छ्राद् वा मुक्त', 'कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्त.' आदि प्रयोग होते हैं।

द्रव्ये त्विति—जहाँ 'स्तोक' आदि शब्दों का द्रव्य के लिये प्रयोग किया जाता है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होते हैं वहाँ इनमे

७४। दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ।२।३।३५॥

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमीतृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा। अन्तिकम् अन्तिकात्-अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवृत्तेर्नेह ।अदूरः पन्थाः ॥ इति पञ्चमी ॥

७५। षष्ठी शेषे ।२।३।५०॥

केवल तृतीया विभक्ति ही होती है, पञ्चमी नहीं, जैसे—'स्तोकेन विषेण हतः' (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ 'स्तोक' शब्द 'विष' का विशेषण है। 'विष' वैशेषिक की परिभाषा के अनुसार द्रव्य है।

७४. दूरान्तिकेति—दूर तथा समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया होती है और पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति भी। ये विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं। इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता। यह नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात् दूरेण वा—(ग्राम से दूर)—यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'दूर, शब्द से द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार—'ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा' [ग्राम के निकट] में भी।

असत्त्वेति—'दूरान्तिकार्थेभ्य०' सूत्र [७४] में भी असत्त्ववचनस्य [अद्रव्यवाची] की अनुवृत्ति है जो दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द 'द्रव्य' के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का नियम लागू होता है। अतः "दूरः पन्थाः" में 'दूर' शब्द से प्रथमा विभक्ति ही होती है द्वितीया आदि नहीं। यहाँ 'दूर' शब्द 'पन्थाः' का विशेषण है और 'पन्थाः' द्रव्यवाची शब्द है। इति पञ्चमी ॥

षष्ठी विभक्ति। ७५. षष्ठी शेषे—शेष का अर्थ है—जो कहा जा चुका है उससे बचा हुआ [उक्तादन्यः शेषः]। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ का इससे पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णन किया जा चुका है, अतएव उनसे बचा हुआ, जो स्व [अपनी वस्तु धन या व्यक्ति] तथा स्वामी आदि का सम्बन्ध है, वह शेष है। उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

टिप्पणी—षष्ठी विभक्ति प्रायेण संज्ञा और सर्वनामों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करती है और यह 'सम्बन्ध' संस्कृत में 'कारक' नहीं माना जाता, यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु जब षष्ठी विभक्ति कर्म आदि में होती है तो यह कारक-विभक्ति भी हुआ करती है।

राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—यहाँ राजा स्वामी है। उसका स्वामित्व पुरुष पर दिखलाया गया है, अतः पुरुष 'स्व' है। स्व तथा स्वामी का सम्बन्ध दिखलाने में जिसका (किसी पर) स्वामित्व दिखाया जाता है उससे षष्ठी विभक्ति हो जाती है, इसीलिये 'राज्ञः' में षष्ठी विभक्ति है।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्-राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव, सतां गतम्। सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥

७६ । षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६॥

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

कर्मादीनामपि, इति—जब कर्म आदि कारकों में केवल सम्बन्ध बतलाने की इच्छा होती है (कर्मत्वादि की विवक्षा नहीं होती) तो वहाँ (शेषे) षष्ठी विभक्ति ही होती है। जैसे—'सतां गतम्,—यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है। "सत्पुरुषों का गमन" यह अर्थ होता है अतः सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में कर्ता सत् शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर 'सताम्' शब्द बनता है। इसी प्रकार—

सर्पिषो जानीते—इसका अर्थ है—"सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते" अर्थात् 'घृत के द्वारा प्रवृत्त होता है'। यहाँ 'सर्पिस्' (घृत) प्रवृत्ति का करण है। उसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

मातुः स्मरति—(माता को स्मरण करता है)—यहाँ 'माता' स्मरण का कर्म है। कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

एधोदकस्य उपस्कुरुते (काष्ठ जल को परिष्कृत करता है अथवा काष्ठ और जल को परिष्कृत करता है)—'एधः' शब्द अकारान्त पु० है। अथवा 'एधस्' सकारान्त नपु०। इसका अर्थ है काष्ठ। पहिले अर्थ में 'एधः' पृथक् शब्द है। यह कर्ता है। दक शब्द का अर्थ है—जल (उदक) यह कर्म है। कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। दूसरे अर्थ में 'एधाश्च उदकं चैषां समाहारः एधोदकम्' यहाँ एध शब्द अकारान्त है। 'एधोदक' समस्त पद कर्म है। उसमें सम्बन्ध की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति होती है।

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ 'चरण' कर्म है। इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

फलानां तृप्तः (फलों से तृप्त हुआ)—यहाँ फल करण है। इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

७६ षष्ठी हेतुप्रयोगे इति—यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणता प्रकट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के लिये बसता है)—यहाँ रहने का प्रयोजन अन्न है। हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिये 'अन्न' शब्द तथा हेतु शब्द दोनों से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

७७ । सर्वनाम्नस्तृतीया च । २।३।२७॥

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः ।

(वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥

किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-द्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥

७८ । षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । २।३।३०॥

एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिक्शब्द—६४' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः । पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्टात् ।

---

७७. सर्वनाम्नस्तृतीया चेति—सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों मे) तृतीया तथा षष्ठी विभक्ति होती है ।

केन हेतुना वसति—(किस लिये रहता है ?)—यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम के साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करना है, अतएव उपर्युक्त नियम से 'केन तथा हेतुना' दोनों में तृतीया विभक्ति होती है । पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है—'कस्य हेतोः' ।

निमित्तेति (वा)—निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन आदि) शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं । जैसे—

किं निमित्तं वसति (किस लिये रहता है)—यहाँ प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है ।

केन निमित्तेन (तृतीया) कस्मै निमित्ताय (चतुर्थी) । इसी प्रकार—कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त के पर्यायवाची के प्रयोग में "किं कारणम्" इत्यादि होते हैं ।

प्रायग्रहणाद् इति—वार्तिक में प्राय शब्द का ग्रहण किया है । इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (असर्वनाम्नः) वहाँ प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अन्य सब विभक्तियाँ होती हैं । जैसे—

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिये]—यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है । किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७८. षष्ठ्यतसर्थ, इति—अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

७९ एनप द्वितीया २।३।३१॥

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्राम ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

८० दूरान्तिकार्थैं षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।२।३।३४॥

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूर निकट ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

'अन्यारात्० ६४' २।३।२६। सूत्र मे दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणत आदि के योग मे पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् उस पञ्चमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है।

ग्रामस्य दक्षिणत —(ग्राम के दक्षिण की ओर)—यहाँ दक्षिणत मे अतसुच्, (दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५।३ २८) प्रत्यय है। यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दो से स्वार्थ मे कहा गया है। उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणत के योग मे ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुर, यहाँ पुर शब्द पूर्व शब्द से 'असि' प्रत्यय होकर बना है। पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर्+अस्→पुर हो जाता है। (पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९।)। असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ म ही है। पुरस्तात→ पूर्व+अस्ताति *→पुर्+अस्तात्→पुरस्तात्। उपरि तथा उपरिष्टात् दोनो शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण म ऊर्ध्व शब्द से रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप' आदेश] निपातन द्वारा बनाय गये हैं। इनके योग मे षष्ठी विभक्ति होती है—"ग्रामस्य उपरि", "ग्रामस्य उपरिष्टात्' इत्यादि।

७९ एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दा के योग मे द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ 'एनपा' इतना सूत्र अलग मानकर उसम षष्ठ्यतसर्थ० २।३।३०। से षष्ठी की अनुवृत्ति लाते हैं इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दो के योग मे षष्ठी विभक्ति भी होती है।

दक्षिणेन ग्राम ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण[—दक्षिणेन शब्द दक्षिण शब्द से एनप् प्रत्यय [एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्या ५।३।३५।] होकर बना है। इसके योग मे उपर्युक्त नियम के अनुसार 'ग्राम' वा 'ग्रामस्य' मे द्वितीया, या षष्ठी विभक्ति होती है।

८०. दूरान्तिकार्थैरिति—दूर और समीप [अन्ति] अर्थ वाले शब्दो के योग मे षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है। जसे—दूर निकट ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर वा समीप]।

---

*दिक्शब्देभ्य सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्ताति ५।३।२७
उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१।

८१ । ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।२।३।५१ ॥

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यत् । सर्पिषो ज्ञानम् ॥

८२ । अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।२।३।५२॥

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ॥

८३ । कृञः प्रतियत्ने ।२।३।५३॥

कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ॥

८४ । रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ।२।३।५४॥

---

८१. ज्ञोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य का अर्थ है–ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली। ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

सर्पिषो ज्ञानम्—इसका अर्थ है–घृत सम्बन्धी [घृत द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति। यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है। 'सर्पिस्' [घृत] करण है। इसमें सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१। से लेकर व्यवहृपणोः समर्थयोः २।३ ५७। तक से सूत्रों में तथा कृत्वोऽर्थप्रयोगे० २। ३।६४। इस सूत्र में 'शेषे 'की अनुवृत्ति आती है अतः 'षष्ठीशेषे' सूत्र से ही इनके विषय में षष्ठी विभक्ति सिद्ध है। इन सूत्रों से फिर षष्ठी का विधान इसलिये किया गया है कि "सर्पिषो ज्ञानत्" आदि में षष्ठी समास न हो, जैसा कि कहा है—"प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते"।

८२. अधीगर्थ इति—[अधि पूर्वक इ धातु (इक् स्मरणे)=अधीक्, अधीगर्थ का-अर्थ है—स्मरणार्थक]। स्मरणार्थक धातुएँ तथा दय् (दानगतिरक्षणेषु) ईश् (ऐश्वर्ये) इनके कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

मातुः स्मरणम्—[माता को याद करना], सर्पिषो दयनम् [घृत का दान देना,] सर्पिषो ईशनं [घृत का यथेष्ट प्रयोग] इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में षष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ षष्ठी समास नहीं होता [देखिये ऊपर टिप्पणी]।

८३. कृञः प्रतियत्न इति [प्रतियत्न का अर्थ है—गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना, जैसे—जल में उष्णता पैदा करना]। कृञ् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—"एधोदकस्य उपस्करणम्" [देखिये ऊपर षष्ठी शेषे की व्याख्या]।

८४. रुजार्थानाम् इति—ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो।

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा ॥

(वा) अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम् ॥

रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः ॥

८५। आशिषि नाथः ।२।३।५५॥

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषीति किम्? माणवकनाथनम् तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ॥

८६। जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्। २।३।५६॥

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चौर की पीडा)—यहाँ भाववाचक 'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीडा का कर्त्ता है चौर पीडा का कर्म है। उससे सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

अज्वरि इति (वा)—सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर "अज्वरिसन्ताप्योः" यह करना चाहिये अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातु को छोड़कर। इसलिये—'रोगस्य चौरज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) में इस नियम से षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई तथा 'चौरज्वरः' में षष्ठी समास हो गया। इस सूत्र से षष्ठी होने पर तो समास न होता। (देखिये पृष्ठ ५१, टिप्पणी)। यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता है—'रोग द्वारा किया हुआ चौर सम्बन्धी ज्वर आदि'।

८५ आशिषीति—आशीः अर्थ वाली नाथ् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। 'आशीः' का अर्थ है अभिलाषा।

सर्पिषो नाथनम् (कर्मरूप घृत सम्बन्धी अभिलाषा)—यहाँ 'मेरे घृत होवे' यह इच्छा है। 'सर्पिस्' नाथ् धातु का कर्म है। इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। यहाँ भी समास नहीं होता।

आशिषि किमिति—सूत्र में 'आशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जब नाथ् धातु "आशीः" अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से षष्ठी होती है, अन्यथा नहीं। जैसे-माणवकनाथनम् यहाँ पर यह षष्ठी नहीं होती। इसका अर्थ है—माणवक सम्बन्धी याचना। यहाँ माणवक से कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में (षष्ठी शेषे) षष्ठी विभक्ति होती है और षष्ठी समास हो ही जाता है।

८६ जासीति—हिंसार्थक जासि (णिजन्त जसु ताडने' तथा "जसु हिंसायाम्") नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (णिजन्त नट्) क्राथ (णिजन्त क्रथ्) पिष् इन धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । प्रणिहननम् । निहननम् । प्रहणनं वा । नट अवस्यन्दने चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम् । धानापेषणम् ॥

८७ । व्यवहृपणोः समर्थयोः ।२।३।५७॥

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणं पणनं वा समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः । गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः ।

चौरस्य उज्जासनम् (चौर सम्बन्धी हिंसा)—यहाँ चौर उज्जासन का कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर उपर्युक्त नियमानुसार षष्ठी विभक्ति होती है।

निप्रौ, इति—नि और प्र उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुए (निप्र) विपरीत क्रम से मिले हुए (विपर्यस्तौ—प्रनि इति) तथा पृथक्-२ रूप में (व्यस्तौ) लिये जाते हैं; अत एव "चौरस्य निप्रहणनम्", "चौरस्य प्रणिहननम्" "चौरस्य निहननम्", "चौरस्य प्रहणनम्" सर्वत्र षष्ठी विभक्ति होती है ।

चौरस्य उन्नाटनम्—यहाँ "नट अवस्कन्दने" चुरादिगण की धातु ली जाती है। अवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका अर्थ हिंसन हो जाता है । इसी प्रकार **चौरस्य क्राथनम्, वृषलस्य पेषणम्** में भी षष्ठी होती है ।

हिंसायां किमिति—हिंसा अर्थ में ही यह षष्ठी होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि—

'धानापेषणम्' (धानानां पेषणम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कर्तृकर्मणोः कृति ९२ अथवा षष्ठी शेषे ७५ से) षष्ठी होती है तथा यहाँ षष्ठी समास हो जाता है । जासि० ८६, इत्यादि सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है वहाँ षष्ठी समास नहीं होता यह कहा जा चुका है (देखिये ऊपर टिप्पणी) ।

८७. **व्यवहृ इति**—समान अर्थ वाली (वि+अव पूर्वक हृ हरणे तथा पण व्यवहारे स्तुतौ च) धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

द्यूत इति—जुआ खेलना और क्रय-विक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा पण धातु समान अर्थ वाली हैं ।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा—[सौ का क्रय विक्रय या जुआ]—यहाँ 'शतस्य व्यवहरति' इस अर्थ में 'शत' कर्म है इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

समर्थयोः किमिति—सूत्र में समान अर्थ वाली [समर्थयोः] क्यों कहा ? इस-लिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस

८८ । दिवस्तदर्थस्य ।२।३।५८॥

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मण दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः ॥

८९ । विभाषोपसर्गे ।२।३।५९॥

पूर्वयोगापवाद· शतस्य शत वा प्रतिदीव्यति ॥

९० । प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने ।२।३।६१॥

देवतासप्रदानेऽर्थे वर्तमानयो· प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

नियम से, षष्ठी नही होती। जैसे—शलाकाव्यवहारः यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ गणना है। यहाँ 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हो जाता है। इस प्रकार 'ब्राह्मणपणनम्' अर्थात् ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ भी।

८८ दिव इति—[तदर्थस्य] अर्थात् द्यूत और क्रय विक्रय व्यवहार अर्थ मे दिव् धातु के कर्म मे षष्ठी विभक्ति होती है।

शतस्य दीव्यति—[सौ को दाँव पर या व्यवहार म लगाता है]—यहाँ 'शत' दीव्यति का कर्म है। इसमे उपर्युक्त नियम से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणी—इस सूत्र म 'शेषे' की अनुवृत्ति नही आती, अत यह षष्ठीविधान समास की निवृत्ति के लिये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का प्रयोग दिया है पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नही।

तदर्थस्य किम् इति—द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार इन अर्थों मे प्रयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म मे षष्ठी होती है जहाँ इन दोनो अर्थों से भिन्न अर्थ मे दिव् धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म मे षष्ठी नहीं होती, अतएव 'ब्राह्मणं दीव्यति' मे कर्म मे द्वितीया ही होती है। यहाँ दीव्यति का अर्थ है—स्तुति करता है।

८९ विभाषेति—उपसर्ग पूर्वक दिव् धातु के कर्म मे विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। यह पहिले नियम का अपवाद है। जैसे—शतस्य शत वा प्रतिदीव्यति—यहाँ षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है।

९०. प्रेष्यब्रुवोरिति—[देवतासम्प्रदाने शब्द का अर्थ है—'देवता सम्प्रदान यस्य तस्मिन् अर्थात् जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है। प्रेष्य शब्द प्र पूर्वक इष् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है। इसके साहचर्य से 'ब्रूञ' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एकवचन ही लिया जाता है]—देवतासम्प्रदान अर्थ मे विद्यमान प्रेष्य तथा (ब्रूहि) के कर्म हवि· वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदस प्रेष्य अनुब्रूहि वा—यहाँ हवि विशेषवाचक वपा तथा मेदस् शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द से भी।

६१ । कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ।२।३।६४॥

कृत्वोर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ॥

६२ । कर्तृकर्मणोः कृति ।२।३।६५॥

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः ॥

(वा) गुणकर्मणि वेष्यते ॥

---

६१. कृत्वोऽर्थेति—कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

क्रिया की आवृत्ति को प्रकट करने के लिये संख्या से कृत्वसुच् [कृत्वः] प्रत्यय होता है—'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' ।५।४।१७।

पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् [दिन में पाँच वार भोजन]—यहाँ कालवाचक 'अहन्' शब्द वास्तव में अधिकरण है। उपर्युक्त नियम से कृत्वप्रत्ययान्त 'पञ्चकृत्वः' शब्द के योग में 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति [अह्नः] हो गई है।

द्विरह्नो भोजनम् [दिन में दो वार भोजन]—यहाँ द्वि शब्द से कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है।[1] इसके योग में 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

शेषे किम् इति—सम्वन्ध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी विभक्ति होती है अतएव 'द्विः अहनि अध्ययनम्' यहाँ अहनि में सप्तमी विभक्ति हुई है क्योंकि यहाँ अधिकरण की विवक्षा है।

६२. कर्तृकर्मणोः कृति—कृदन्त के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

कृष्णस्य कृतिः [कृष्ण का कार्य]—यहाँ पर 'कृति' शब्द कृदन्त है। यह कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़ने से वना है। इसका कर्ता कृष्ण है। अतः कृदन्त शब्द [कृति] के योग में कर्त्ता 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

जगतः कर्त्ता कृष्णः [जगत् का कर्त्ता कृष्ण]—यहाँ पर कर्त्ता शब्द कृदन्त है। यह 'कृ' धातु से तृच् प्रत्यय होकर वना है। इसका कर्म 'जगत्' है। उपर्युक्त नियम के अनुसार जगत् शब्द से कृत्प्रत्ययान्त [कर्तृ] के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

गुणकर्मणीति [वा]—कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। मुख्य कर्म में नित्य षष्ठी होती है; जैसे—

---

१. द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८।

नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा । कृति किम् ? तद्धिते मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् ॥

६३ । उभयप्राप्तौ कर्मणि ।२।३।६६॥

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥

(वा) स्त्रीप्रत्ययोरकाकारयोर्नायं नियमः ॥

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः ॥

नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा [स्रुघ्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला]—नी धातु द्विकर्मक है। इसका मुख्य कर्म 'अश्व' है और गौण कर्म ['अकथित च' के अनुसार] स्रुघ्न है। उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार स्रुघ्न शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है पक्ष में द्वितीया ही होती है—स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा।

कृति किम् इति—सूत्र में 'कृति' शब्द का ग्रहण क्यों किया ? इसलिये कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है, तद्धितान्त के प्रयोग में नहीं। इसका फल यह होता है कि 'कृतपूर्वी कटम्' यहाँ कट शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'पूर्वं कृतमनेन' इस अर्थ में 'कृत+पूर्व' शब्द से तद्धित इनि [पूर्वादिनिः ५।२।८६। सपूर्वाच्च ५।२।८७] प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द बनता है। फिर कर्म की अपेक्षा होने पर 'कट' शब्द का कर्म रूप में अन्वय होता है। 'कट' शब्द 'कृत' शब्द का कर्म है अतः षष्ठी प्राप्त होती है किन्तु 'कृति' ग्रहण से तद्धितमात्र भी अधिक हो जाने पर षष्ठी विभक्ति नहीं हो पाती।

६३. उभयेति—जहाँ कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है वहाँ कर्म में होती है कर्ता में नहीं।

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (गोपाल से भिन्न व्यक्ति के द्वारा गोदोहन आश्चर्य की बात है)—यहाँ 'दोह' कृदन्त है (दुह + घञ्) इसके योग में अगोप कर्ता में तथा 'गो' कर्म में षष्ठी प्राप्त है। उपर्युक्त नियम से कर्म में ही षष्ठी होती है। कर्ता (अगोपेन) में नहीं।

स्त्रीप्रत्ययोरिति (वा)—स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय 'अक' (ण्वुल् आदि) तथा 'अ' में यह नियम (उभयप्राप्तौ कर्मणि) नहीं लगता अर्थात् वहाँ कर्ता में भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी।

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः—'यहाँ भेदिका' शब्द भिद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर (ण्वुल्→वु=अक) तथा स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर बना है।[1] बिभित्सा सन्नन्त भिद् धातु (बि+भिद्+स) से 'अ' प्रत्यय[2]+टाप् प्रत्यय होकर बना

---

१. धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः (वा० २२२५)

२. अ प्रत्ययात् ३।३।१००॥

* (व) शेषे विभाषा ॥

स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा ॥

९४ । क्तस्य च वर्तमाने ।२।३।६७॥

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । न लोका० २।३।६९। इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥

९५ । अधिकरणवाचिनश्च ।२।३।६८॥

है । इन दोनों के योग में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्त्ता (रुद्रस्य) तथा कर्म (जगतः) दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

शेषे विभाषेति (वा)—'अक्' 'अ प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में नित्य षष्ठी तथा कर्त्ता मे विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः (हरिणा वा) । यहाँ हरि कर्त्ता है । इससे कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में तृतीया होती है ।

केचिद् इति—कुछ आचार्यों का मत है कि 'शेषे विभाषा' यह विकल्प अक, अ से भिन्न स्त्री प्रत्ययों के प्रयोग में ही नहीं होता अपितु सामान्य रूप से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव 'शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा' यहाँ अनुशासन (ल्युट् प्रत्यय, नपुं०) के योग में भी आचार्य शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है । 'अनुशासन' शब्द नपुंसक लिङ्ग है ।

९४. क्तस्य चेति—वर्तमान अर्थ में कहे 'क्त' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८॥ से वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है । 'न लोका० ।२।३।६९। सूत्र (९६) में क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया जायेगा । उसका यह अपवाद है ।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)—यहाँ मतः (मन् + क्त) बुद्धः (बुध् + क्त) और पूजितः (पूज् + क्त) तीनों शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं । इनके योग में उपर्युक्त नियम से 'राज्ञाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है ।

९५. अधिकरणेति—अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' ३।४।७६। इस सूत्र से अधिकरण में क्त प्रत्यय का विधान किया गया है उसी का यहाँ ग्रहण है । यह भी 'न लोका० इस निषेध का अपवाद है ।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं भुक्तं वा ॥

६६ । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।२।३।६९॥

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेश —कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उ —हरिं दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा । उक — दैत्यान् घातुको हरिः ॥

* कमेरनिषेधः ॥

इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा—यहाँ 'आसित' इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है आस्यते अस्मिन् इति आसितम्, शेते अस्मिन् इति शयितम् । इनके योग में 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है । यह कर्त्ता में षष्ठी है ।

६६ न लोकेति—ल + उ + उक यह पदच्छेद है । ल (ल के आदेश शतृ, शानच् आदि) उ, उक, कृदन्त अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा [क्त, क्तवतु,], खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तृन्—इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । [यह नियम 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है] ।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः [सृष्टि करता हुआ हरि]—यहाँ कुर्वन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है [कृ + शतृ → कुर्वन्] । तथा कुर्वाण शानच् प्रत्ययान्त हैं [कृ + शानच् → कुर्वाण] । शतृ और शानच् लट् लकार [ल] के आदेश हैं ।[1] ये कृत्संज्ञक भी हैं । इनके योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' ६२ से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है । उपर्युक्त नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं दिदृक्षुः [हरिदर्शन का इच्छुक]—यहाँ दिदृक्षु सन्नन्त दृश् धातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है ।[2] [दि + दृश् + स + उ], इसके योग में हरि में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है ।

हरिम् अलङ्करिष्णुः—यहाँ अलं पूर्वक कृञ् धातु से इष्णुच् प्रत्यय [३।२।१३६] हुआ है [अलं + कृ + इष्णु] । सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है ।

दैत्यान् घातुको हरिः [दैत्यों के घातक हरि]—'घातुक' शब्द 'हन्' धातु से 'उकञ्' प्रत्यय होकर बना है ।[3] यह कृत्प्रत्यय है । इसके योग में षष्ठी प्राप्त थी । इस नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है ।

कमेरिति [वा]—'उक' प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' [कृदन्त] के योग में लक्ष्मी शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

---

१. लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४।

२. सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८

३. लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ् ३।२।१५४।

लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत् सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् । निष्ठा–विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान् विष्णुः । खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्यातृनो नकारात् ।

जगत्सृष्ट्वा [जगत् को रचकर; यहां सृष्ट्वा शब्द—सृज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर बना है और क्त्वा प्रत्ययान्त[1] अव्यय होते हैं । न लोकाव्यय सूत्र ६६ से कृदन्त अव्यय के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है, अतएव यहां षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'सुखं कर्तुम्' । कर्तुम्=कृ + तुमुन् और तुमुन्[2] प्रत्ययान्त भी अव्यय होते हैं ।

विष्णुना हता दैत्याः [विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गये] तथा दैत्यान् हतवान् विष्णुः [विष्णु ने दैत्यों को मारा]—यहाँ 'हत' शब्द हन् धातु से क्त [हन्+क्त] प्रत्यय होकर बना है और 'हतवान्' हन् धातु से क्तवतु [हन् + क्तवतु] । क्त क्तवतु की की पाणिनिव्याकरण में निष्ठा[3] संज्ञा है । उपर्युक्त नियम से निष्ठा के योग में षष्ठी का निषेध किया गया है । 'विष्णुना हताः दैत्याः' यहाँ क्त कर्म में हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है उसमें षष्ठी नहीं होती अपितु तृतीया विभक्ति होती है । 'दैत्यान् हतवान् विष्णुः' यहाँ क्तवतु कर्ता में हुआ है । कर्म अनुक्त है । उस कर्म [दैत्य] में षष्ठी नहीं होती अपितु द्वितीया विभक्ति होती है ।

ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा [हरि के लिये संसार-प्रपञ्च सरल कार्य है]—यहाँ ईषत्कर=ईषत् + कृ + खल्[4] । खल् प्रत्यय कर्म में हुआ है । इसके योग में कर्ता [हरि] में षष्ठी प्राप्त होती थी उसका 'न लोकाव्यय० ६६' नियम से निषेध किया गया है अतः कर्ता [हरिणा] में तृतीया विभक्ति होती है ।

तृन् इति—सूत्र में तृन् शब्द प्रत्याहार है । इसमें 'शतृशानचौ' ३।२।१२४। के 'तृ' अक्षर से लेकर 'तृन्' ३।२।१३५। के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते हैं इसके अन्तर्गत शानन्, चानश्, शतृ तथा तृन्, प्रत्यय आते हैं । इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती, जैसे—सोमं पवमानः—सोम को पवित्र करता हुआ, (पवमानः= पू+शानन्), आत्मानं मण्डयमानः—अपने आप को भूषित करता हुआ (मण्ड+ चानश्), वेदमधीयन्—वेद को पढ़ता हुआ (अधि+इ+शतृ), कर्ता लोकान्—संसार को बनाने वाला (कृ+तृन्) यहाँ 'सोमम्', 'आत्मानम्', 'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

---

१. क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०। २. कृन्मेजन्तः १।१।३९।
३. क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६।
४. ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२

शानन्—सोमं पवमानः। चानश्—आत्मानं मण्डयमानः। शतृ-वेदमधीयन्। तृन्—कर्त्ता लोकान्।

*द्विषः शतुर्वा

मुरस्य मुरं वा द्विषन्॥ सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः॥ शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णु॥

६७। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः।२।३।७०॥

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी॥

टिप्पणी—तृन् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'लट्' के स्थान में होने वाले शतृ शानच् नहीं लिये जाते 'अधीयन्' मे दूसरा ही 'शतृ'[1] प्रत्यय है।

द्विष इति (ग)—शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का शत्रु)—यहाँ द्विषन् शब्द शतृ[2] प्रत्ययान्त है। 'मुर' शब्द से विकल्प से षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति होती है।

सर्वोऽयम् इति—न लोकाव्यय ०६६। इस सूत्र से कारक षष्ठी (कर्तृकर्मणोः कृति ६०' आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है। शेषे षष्ठी (अर्थात् किसी कारक मे, सम्बन्ध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जाती है अतएव 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णु' मे षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणी—यह प्राचीनों का मत है उनके मत में यहाँ 'कारक षष्ठी' न होने और शेषे षष्ठी हो जाने मे शब्द बोध का अन्तर है। नवीनों (नागेश भट्ट आदि) के मत मे तो यहाँ शेषे षष्ठी भी नहीं होती। (सि० कौ० टिप्पणी)।

६७ अकेनोरिति—भविष्यत् अर्थ मे कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य [अधमर्ण (कर्जदार) का भाव आधमर्ण्य] अर्थ मे, उक्त 'इन' प्रत्यय के योग मे षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'कर्तृकर्मणो कृति' ६२ का अपवाद है।

सतः पालकोऽवतरति (जो सज्जनो का पालन करेगा वह अवतरित होता है,—यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ मे ण्वुल् (अक) प्रत्यय होकर बना है।[3] इसके योग मे सत् शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है।

व्रजं गामी (भविष्य मे व्रज को जाने वाला)—'गामी'[4] शब्द गम् धातु से भविष्यत् काल मे णिनि प्रत्यय (गम्+इन्) होकर बना है। इसके योग मे षष्ठी विभक्ति न होकर व्रज' मे द्वितीया विभक्ति ही होती है।

---

१. इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि।३।२।१३०।

२. द्विषोऽमित्रे।३।२।१३१।

३. तुमुण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। देखिये कृदन्त प्रकरण।

४. भविष्यति गम्यादयः।३।३।३।

६८। कृत्यानां कर्तरि वा।२।३।७१॥

षष्ठी वा स्यात्।

मया मम वा सेव्यो हरिः।

कर्तरीति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम्। 'भव्य-गेय० ३।४।६८' इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म। अत्र योगो विभज्यते॥ कृत्यानाम्॥ उभयप्राप्ताविति नेति चानुवर्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन। ततः॥ कर्तरि वा उक्तोऽर्थः॥

शतं दायी (सौ—रुपये--- का देनदार)---'दायी' शब्द 'दा' धातु से आधमर्ण्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा + इन्)।[1] इसके योग में 'शत' शब्द से षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

६८. कृत्यानाम् इति – कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा[2] है। उनके योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति ६२' से नित्य षष्ठी प्राप्त थी। यह सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है)—यहाँ 'सेव्य' शब्द सेव् (षेवृ सेवायाम्) धातु से कर्म में ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है। कर्त्ता अनुक्त है। कर्त्ता में उपर्युक्त नियम से विकल्प से षष्ठी (मम) तथा पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

कर्तरीति किम् इति—सूत्र में 'कर्तरि' (कर्ता में) शब्द का क्या प्रयोजन है? कि कर्ता में प्राप्त होने वाली षष्ठी का ही विकल्प होता है अतएव जहाँ 'कृत्य' के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विकल्प नहीं होता; जैसे—

'गेयो माणवकः साम्नाम्'—(माणवक साम का गायक है)—यहाँ 'गेय, शब्द 'गा' धातु से भव्यगेय० आदि सूत्र से कर्ता में 'यत्' प्रत्यय (कृत्य) होकर बना है। कर्म (सामन्) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन् ष० बहु०) में नित्य ही षष्ठी विभक्ति होती है।[3]

अत्रेति—कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र में योग-विभाग किया जाता है। अर्थात् 'कृत्यानाम्' यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्तौ' और 'न' की अनुवृत्ति आती है तथा यह अर्थ होता है—'कृत्यों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली षष्ठी नहीं होती' जैसे—

'नेतव्या व्रजं गावःकृष्णेन'—(कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी हैं)—यहाँ 'गावः' प्रधान कर्म है। 'तव्य' प्रत्यय प्रधान कर्म में ही हुआ है (प्रधाने नीहृकृष्व-

---

१. आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः।३।३।१७०।

२. कृत्याः प्राङ् ण्वुलः।३।१।९५।

३. कर्तृकर्मणोः कृति।२।३।६५।

९९ । तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।७२॥

तुल्यार्थयोगे तृतीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी । तुल्य सदृश. समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्या किम् ? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

१०० । चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ।२।३।७३॥

एतदर्थयोगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि । आयुष्य चिर जीवित कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एव मद्र भद्र कुशलम् निरामय सुख श अर्थः प्रयोजन हित पथ्य वा भूयात ।

हाम्) । 'व्रज' गौण कर्म तथा कृष्ण कर्ता है । य दोनो अनुक्त हैं । अत दोनो मे षष्ठी प्राप्त है । किन्तु इस नियम से 'व्रज' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) म षष्ठी विभक्ति नही होती अपितु क्रमश. द्वितीया और तृतीया विभक्तियां होती है ।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये । इसमें 'कृत्याना की अनुवृत्ति करके सूत्र का ऊपर कहा हुआ (९८) अर्थ होता ।

९९ तुल्यार्थैरिति—तुला और 'उपमा' दो शब्दो को छोड कर शेप तुल्य अर्थ वाले शब्दो के योग म विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है पक्ष मे षष्ठी होती है ।

तुल्य कृष्णस्य कृष्णेन वा (कृष्ण के समान)—यहां 'तुल्य' शब्द के साथ 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी अथवा तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'सदृश कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'समः कृष्णस्य कृष्णेन वा' ।

अतुलोपमाभ्या किम् इति—तुला और उपमा के योग म केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।'

टिप्पणी—सस्कृत के उच्चकोटि के कवियो ने तुला और उपमा के साथ भी तृतीया का प्रयोग किया है, जैसे—नभसा तुला समारुरोह (रघु० ८-१५), 'स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना (शिशु० १-४) । (आप्टे ११७)

१०० चतुर्थीति—आशीर्वाद मे—आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित इन अर्थ वाले शब्दो के साथ विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष मे षष्ठी होती है।

आयुष्य कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्—(कृष्ण की दीर्घायु हो)—यहां 'आयुष्य' के योग मे कृष्ण शब्द से चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति होती है। इसी प्रकार—'चिरञ्जीवित कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्' तथा "मद्र भद्र कुशल निरामय सुख शम् अर्थ प्रयोजन हित पथ्य वा कृष्णस्य कृष्णाय वा भूयात् ।"

आशिषि किम् इति—आशीर्वाद मे चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति हो जाती है, ऐसा क्यो कहा ? इसलिये कि तथ्य कथन म केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे—देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति (देवदत्त की दीर्घायु है) ।

व्याख्यानात् इति—यद्यपि व्याकरण मे शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण किया जाता है (स्व रूप शब्दस्याशब्दसंज्ञा) तथापि आचार्यों के व्याख्यान से यहां इन शब्दो के अर्थ वाले शब्द लिये जाते हैं । 'मद्र' और 'भद्र' (कल्याणवाची) शब्द समानार्थक हैं अत. इनमें से एक को सूत्र मे न पढ़ना चाहिये अर्थात् एक निष्प्रयोजन है । इति षष्ठी विभक्तिः॥

अशिपि किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । इति षष्ठी ॥

१०१ । आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५॥

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥

१०२ । सप्तम्यधिकरणे च ।२।३।३६॥

अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः ७४. इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ॥

सप्तमी विभक्ति—

१०१ आधार इति—कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार अधिकरण कहलाता है ।

टिप्पणी—अधिकरण क्रिया का साक्षात् आधार नहीं होता किन्तु कर्ता और कर्म के द्वारा अर्थात् वह कर्ता और कर्म का आधार होता है और क्रिया कर्ता या कर्म में रहती है ।

१०२. सप्तमी इति—अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है ।

चकाराद् इति—सूत्र के 'च' शब्द से पहले सूत्र (दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५।) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' शब्द की अनुवृत्ति आती है तथा दूर और समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दो में भी सप्तमी विभक्ति होती है ।

औपश्लेषिक इति—आधार तीन प्रकार का होता है—

(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक तथा (३) अभिव्यापक ।

(१) औपश्लेषिक—उपश्लेष का अर्थ है संयोगादि सम्बन्ध । जहाँ कर्त्ता अथवा कर्म आधार में संयोग आदि सम्बन्ध से रहते हैं, वह आधार औपश्लेषिक है, जैसे—

कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है) --यहाँ बैठने वाले कर्त्ता का आधार (कट) के साथ संयोग सम्बन्ध है । 'कट' औपश्लेषिक आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

स्थाल्यां पचति—(देगची में पकाता है)--यहाँ 'स्थाली' पाकक्रिया के कर्म (तण्डुल आदि) का संयोग सम्बन्ध से आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

(२) वैषयिक आधार—विषयता सम्बन्ध से होने वाला आधार वैषयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्ता का बौद्धिक सम्बन्ध होता है; जैसे—

मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष में इच्छा है)—यहाँ कर्ता की मोक्ष के विषय में

* (वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् ॥

अधीती व्याकरणे, अधीतमनेनेति विग्रहे इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८ इति कर्तरीनि ॥

* (वा) साध्वसाधुप्रयोगे च ॥

साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले ।

* (वा) निमित्तात्कर्मयोगे ॥

इच्छा है। मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैषयिक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर उसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

(३) अभिव्यापक—वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती हो, जैसे—

सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा है)—आत्मा सब में व्यापक है अतः 'सर्व' अभिव्यापक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार "तिलेषु तैलम्" इत्यादि।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट)—यहाँ दूर और अन्तिक में सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रकार दूरान्तिकार्थेभ्यः ७८, इस सूत्र से होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया) सहित दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी) होती हैं।

क्तस्येति (वा)—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिये।

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ)—यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत' (अधि=इङ्+क्त) से कर्ता में 'इनि' प्रत्यय[1] होकर बना है (अधीत+इन्—अधीतिन्=अधीती प्र० एक०)। 'व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है। यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

साधु इति (वा)—साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है)—यहाँ साधु के योग में 'मातृ' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (वह मामा के प्रति बुरा है)—यहाँ 'मातुले' में भी सप्तमी है।

टिप्पणी—'साधुनिपुणाभ्याम् अर्चायाम्' २।३।४३ से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः श्रेष्ठ, हितकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी कही गई है।

---

१. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।

निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ॥
चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥१॥

(इति भाष्यम्)

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम् । सीमाऽण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम् । वेतनेन धान्यं लुनाति ।

१०३ । यस्य च भावेन भावलक्षणम् ।२।३।३७॥

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥

निमित्ताद् इति (वा)– इस वार्तिक में निमित्त का अर्थ है—फल । योग कहते हैं सम्बन्ध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है । निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)—यहाँ 'चर्म' [फल] के लिये व्याघ्र की हत्या की जाती है । चर्म द्वीपी [व्याघ्र] रूप कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—'दन्तयोः हन्ति कुञ्जरम्' [दाँतों के लिये हाथी को मारता है]—यहाँ 'दन्तयोः' में, केशेषु चमरीं हन्ति' [केशों के लिये चमरी नामक मृगविशेष को मारता है]—यहाँ केशेषु' में तथा 'सीम्नि पुष्कलको हतः' [सीमा = अण्डकोष = कस्तूरी को कहते हैं । पुष्कलक नाम का एक मृगविशेष है जिसे गन्धमृग भी कहते हैं] यहाँ 'सीम्नि' में सप्तमी विभक्ति होती है । यहाँ भी दन्त, केश तथा सीम का कर्म हस्ती, चमरी, पुष्कलक] के साथ समवाय सम्बन्ध है ।

हेताविति—यहाँ सभी प्रयोगों में 'हेतौ' इस सूत्र से हेतु में तृतीया विभक्ति प्राप्त हुई थी । उसके स्थान पर इस वार्तिक से सप्तमी कही गई है ।

योगविशेषे किमिति—जहाँ 'फल' का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध होता है वहीं उपर्युक्त नियम से फलवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वेतन के लिये धान्य काटता है ।—यहाँ 'वेतन' शब्द का 'धान्य' से संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं अतः यहाँ सप्तमी नहीं होती, अपितु 'हेतु' में तृतीया विभक्ति होती है ।

१०३. **यस्य चेति**—जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है । क्रिया किसी कर्त्ता या कर्म में रहती है अतः जिस कर्त्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस कर्त्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है ।

*(वा) अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ॥
सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति ।
सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ॥

टिप्पणी—इस नियम से होने वाली सप्तमी को 'सति सप्तमी' या भावे सप्तमी' (Locative ab olute) कहते हैं।

गोषु दुह्यमानासु गत (जब गाएँ दुही जा रही थी तब वह गया) यहाँ 'गायो' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अत उपर्युक्त नियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहाँ क्रिया कर्मस्थ है। कर्तृस्थ क्रिया का उदाहरण है—ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गत. ।

अर्हाणाम् इति—जिस कार्य के लिए जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' कहे जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे 'अनर्ह'। योग्यों का कर्तृत्व प्रकट करने मे तथा अयोग्यो का अकर्तृत्व प्रकट करने म और इसकी विपरीतता म सप्तमी विभक्ति होती है। इस वार्त्तिक के चार भाग हैं।

(१) अर्हाणाम् कर्तृत्वे—क्रिया में उचित व्यक्तियो के कर्तृत्व की विवक्षा होने पर उनमे सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'सत्सु तरत्सु असन्त आसते' (सज्जन तरते हैं और असज्जन बैठे हैं) यहाँ सत्पुरुषो का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्ता हैं अतः 'सत्सु' म उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' मे भी सप्तमी हो जाती है।

(२) अनर्हाणाम् अकर्तृत्वे—जिस क्रिया म जिनका कर्तृत्व अनुचित है उनके अकर्तृत्व को बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनो का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया मे अकर्तृत्व का बोध होता है अत. 'असत्सु' मे सप्तमी विभक्ति हो जाती है और उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' मे भी।

तद्वैपरीत्ये च—और उसकी विपरीत दशा मे; जैसे—

(३) जिनका करना उचित है उनके अकर्तृत्व को प्रकट करने मे उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति—सज्जनो का तरण उचित है किन्तु उनका न तरना (अकर्तृत्व) तिष्ठत्सु' से प्रकट हो रहा है अत 'सत्सु तिष्ठत्सु' यहाँ सप्तमी विभक्ति होती है।

(४) जिनका करना उचित नहीं उनका करना (कर्तृत्व) बतलाने मे उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—असत्सु तरत्सु सन्तस् तिष्ठन्ति' यहाँ असज्जनो का तरना अनुचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है। अत. असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु मे सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों का मत है कि इस वार्त्तिक के उदाहरणो मे 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी आवश्यकता

१०४। षष्ठी चानादरे ।२।३।३८॥

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ॥

१०५। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ।२।३।३९॥

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां गोषु वा स्वामी । गवां गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ॥

१०६। आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ।२।३।४०॥

नहीं[1]। किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक की क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यदा सन्तस्तरन्ति तदा असन्त आसते' इस प्रकार का अर्थ उपर्युक्त उदाहरणों का नहीं होता अपितु 'सन्तस्तरन्ति, असन्त आसते' इत्यादि अर्थ ही होता है (दे० शारदारञ्जन, मित० पृ० १०३)

१०४. षष्ठीति—यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्—इसका अर्थ है—'रोते हुए पुत्र आदि की उपेक्षा करके संन्यास ग्रहण कर लिया'। यहाँ 'रुदन' क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित होती है। साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट हो रही है, अतएव 'रुदति' या 'रुदतः' में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

१०५. स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। सम्बन्ध में केवल षष्ठी प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपर्युक्त नियम से 'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विकल्प से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

गवां गोषु वा प्रसूतः—(गायों में उत्पन्न हुआ है)—इसका भाव है—गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ भी षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार **पृथिव्याः पृथिव्यां वा ईश्वरः**, 'ग्रामाणां ग्रामेषु वा अधिपतिः' 'पित्रंशस्य पित्रंशे वा दायादः' व्यवहारस्य व्यवहारे वा साक्षी' 'दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः'।

१०६. आयुक्तेति—तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है—लगाया हुआ। इसी प्रकार कुशली हरिपूजने हरिपूजनस्य वा'।

---

१. सि० कौ० तत्त्वबोधिनी।

आभ्या योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारित । कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवाया किम् ? आयुक्तो गौ शकटे । ईषद्-युक्त. इत्यर्थ ॥

१०७ । यतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१॥

जातिगुणक्रियासंज्ञाभि समुदायादेकदेशस्य पृथक्करण निर्धारण यतस्तत: षष्ठीसप्तम्यौ स्त । नृणा नृषु ब्राह्मण श्रेष्ठ । गवा गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा । गच्छता गच्छत्सु वा धावन् शीघ्र । छात्राणा छात्रेषु वा मैत्र पटु ॥

१०८ । पञ्चमी विभक्ते ।२।३।४२॥

विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा ॥

आसेवाया किम इति—जहा तत्पर । अर्थ होता है वहीं आयुक्त, कुशल के योग म षष्ठी, सप्तमी होती है यह क्या कहा ? इसलिये कि अन्य अर्थ म केवल सप्तमी होती है, जैसे— आयुक्तो गौ शकटे —इसका अर्थ है—गाडी म बैल जोडा गया । यहाँ तत्परता का बोध नही होता ।

१०७ यतश्चेति—निर्धारण का अर्थ है—जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विशेषता के कारण किसी वस्तु को अपने समुदाय स पृथक् करना । जिसम से निर्धारण किया जाता है उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है ।

नृणा, नृषु वा ब्राह्मण श्रेष्ठ (मनुष्यो म ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं)—यहाँ मनुष्य-समुदाय से जाति की विशेषता के कारण ब्राह्मण को विशिष्ट दिखाया गया है, वह मनुष्य समुदाय का ही एक अङ्ग है । यही निर्धारण है, अत समुदाय रूप नृ शब्द से षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—**गवा गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा** (गायो मे कृष्णा बहुत दूध वाली होती है)—यहाँ गुण के द्वारा पृथक्करण है । '**गच्छता गच्छत्सु वा धावन् शीघ्र**' (जाने वालो म दौडता हुआ शीघ्र जाता है)—यहाँ क्रिया के द्वारा पृथक्करण है '**छात्राणा छात्रेषु वा मैत्र पटु** (छात्रो म मैत्र चतुर है)—यहाँ संज्ञा (मैत्र) के द्वारा पृथक्करण है । इन सभी उदाहरणो म अपने समुदाय म से एक भाग को विशिष्ट दिखलाया गया है ।

१०८ पञ्चमी इति—विभक्त का अर्थ है—विभाग या भेद । जहाँ विशिष्ट रूप म दिखाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुत भिन्न ही होती है वहाँ (जिससे भेद दिखलाया जाता है उसम) पञ्चमी विभक्ति होती है ।

माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा (मथुरा निवासी पाटलिपुत्र के लोगो से सम्पन्न हैं)—यहाँ माथुर (मथुरा के रहने वाले) पाटलिपुत्रका (पटना के रहने वाले)

१०९। साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।२।३।४३॥

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्।

*** (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्॥**

साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा॥

११०। प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४॥

आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा॥

१११। नक्षत्रे च लुपि ।२।३।४५॥

से भिन्न है। माथुरों में दूसरों की अपेक्षा सम्पन्नता दिखाई गई है। अतः 'पाटलिपुत्रक' से पञ्चमी विभक्ति होती है।

१०९. साधु इति—साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है पूजा अर्थ में, किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं होती।

मातरि साधुर्निपुणो वा—यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्चायां, किम् इति—जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता वहाँ सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे—'निपुणो राज्ञो भृत्यः' (राजा का सेवक कुशल है)। यहाँ तथ्यकथन में तात्पर्य है, पूजा का भाव नहीं।

टिप्पणी—अर्चा से भिन्न अर्थ में भी साधु शब्द के साथ 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है। यहाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग में साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं होती।

अप्रत्यादीति (वा)—सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः कहना चाहिये अतः 'प्रति' 'परि' 'अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया); जैसे—'साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा'।

११०. प्रसितेति—प्रसित और उत्सुक शब्द के योग में तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी।

प्रसितो हरिणा हरौ वा (हरि में लवलीन)—यहाँ 'प्रसित' शब्द के योग में 'हरिणा' में तृतीया तथा 'हरौ' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार "उत्सुको हरिणा हरौ वा।"

१११. नक्षत्रे चेति—जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्रत्यय के अर्थ में

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमाना-त्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम् ? पुष्ये शनिः॥

११२। सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये।२।३।७॥

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्यौ विधीयेते। तदस्मिन्नधिकम् ५।२।४५' इति 'यस्मादधिकम् २।३।९। इति च सूत्र-निर्देशात्। लोके लोकाद्वाधिको हरिः'॥

वर्तमान होता है, अर्थात् जहाँ नक्षत्र वाची शब्द काल-विशेष को प्रकट करता है वहाँ उससे अधिकरण में तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

'मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले श्रवणे इति वा)'—यहाँ 'मूल' शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है। नक्षत्रवाची मूल शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' ४।२।३ इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ और 'लुबविशेषे ४।२।४' से उसका लुप् हो गया है। इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द है। ऊपर के नियम (१११) से इन दोनों में तृतीया और सप्तमी विभक्ति होती है।

लुपि किम् इति—जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात् नक्षत्र-वाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं आता, अपने (नक्षत्र) अर्थ में ही रहता है वहाँ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है तृतीया नहीं, जैसे 'पुष्ये शनिः' (पुष्यनक्षत्र में शनि है)।

११२. सप्तमीति—दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है।

अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता—(आज खाकर यह दो दिन में खायेगा)—यहाँ काल (द्व्यह) दो कर्तृ शक्तियों के बीच में है एक कर्तृ शक्ति का आज (अद्य) के भोजन से सम्बन्ध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के भोजन से। इसलिये कालवाची शब्द 'द्व्यह' से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ स्थित होकर यह एक कोश पर स्थित लक्ष्य को वेध देगा)—यहाँ कर्ता और कर्म कारक की दो शक्तियों ('अयं तथा लक्ष्यं') के बीच में मार्ग (क्रोश) है अतः क्रोश शब्द से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है।

अधिकशब्देनेति—आचार्य पाणिनि ने "तदस्मिन् अधिकम्०" ।५।२।४५ 'इस सूत्र में अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है और "यस्माद् अधिकम्०"

११३। अधिरीश्वरे।१।४।९७॥

स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधि कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

११४। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी।२।३।९॥

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अपडक्ष-५।४।७' इत्यादिना खः॥

२।३।९ इस सूत्र में 'अधिक' के साथ पञ्चमी का प्रयोग किया है। इस निर्देश से ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं। अतएव 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः' (हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं)—यहाँ 'लोके' 'लोकाद्' में सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति हैं।

११३. अधिरीश्वर इति—स्व और स्वामी के सम्बन्ध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

११४. यस्माद् इति—जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

उप परार्धे हरेर्गुणाः—इसका अर्थ है—परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत (असंख्य)। परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं। यहाँ 'उप' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है (उपोऽधिके च १।४।८७)। 'परार्ध' से अधिक हरि के गुणों का कथन किया गया है अतः 'उप' के योग में 'परार्धे' में सप्तमी विभक्ति होती है।

ऐश्वर्ये त्विति—स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों में पर्याय से सप्तमी होती है। जैसे—

अधि भुवि रामः—(राम भूमि के स्वामी है)—यहाँ 'स्व' वाची भूमि शब्द से अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

अधि रामे भूः (भूमि राम की स्व है)—यहाँ स्वामी वाचक 'राम' शब्द से कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में "सप्तमी शौण्डैः" २।१।४० इस सूत्र से समास[1] होकर राम + अधि → रामाधि से 'ख'[2] प्रत्यय हो जाता है 'ख' को 'ईन' होकर 'रामाधि + ईन = रामाधीन। स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर "रामाधीना भूः" यह प्रयोग होता है।

---

१. अधि शब्द शौण्डादिगण में पढ़ा गया है।

२. अपडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः।५।४।७

११५। विभाषा कृञि ।१।४।९८॥

अधि करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति-८।१।७१' इति निघातो न॥ इति सप्तमी॥

॥ इति कारकप्रकरणम्॥

११५ विभाषेति—कृञ् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व स्वामिभाव सम्बन्ध में विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा)—यहाँ 'अधिकरिष्यति' का अर्थ है—विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा)। यहाँ विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट होता है। इसी से 'अधि' को कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और 'गति' संज्ञा का बाध हो जाता है। गति संज्ञा न होने से 'तिङि चोदात्तवति ८।१।७१ इस सूत्र से 'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता। माम् में द्वितीया तो कर्म होने से ही सिद्ध है। यह सूत्र अधि के निघात निषेध के लिये है, इसका प्रयोजन स्वर प्रक्रिया में है, कारक में नहीं।

इति कारकप्रकरणम्

समासप्रकरणम्

अथ समासप्रकरणम्

अथ (केवल) समासः ॥१॥

समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः । प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः । प्रायेणोत्तर-

---

अथ समासप्रकरणम् । **समास इति**—समास पाँच प्रकार का होता है ।

तत्रेति—समसन[1] (संक्षेप) अर्थात् बहुत से पदों का मिलकर एक पद बन जाना समास कहलाता है ।

जब अनेक पदों को एक साथ मिलाकर एक पद के समान बना लिया जाता है तो यह मिला हुआ पद समस्त (Compound) पद कहलाता है तथा यह पदों के मिलने की प्रक्रिया समसन या समास । समास के निम्नलिखित ५ प्रकार हैं—

(१) **स चेति**—विशेष संज्ञा से रहित 'केवल समास' नाम का प्रथम समास (का प्रकार) है । अर्थात् जिस समास का कोई अन्य नाम नहीं, वह केवल समास कहलाता है, जैसे—'भूतपूर्वः' यह किसी विशेष समास के प्रकरण में नहीं आता, अतः यह केवल समास है ।

(२) **प्रायेणेति**—प्रायः जिसमें पूर्वपद[2] का अर्थ प्रधान होता है वह अव्ययीभाव समास कहलाता है, यह द्वितीय समास (का प्रकार) है जैसे—'उपगङ्गं वाराणसी' (गङ्गा के समीप वाराणसी है)—यहाँ 'उप' शब्द का अर्थ (समीप) प्रधान है, क्योंकि इसका ही वाराणसी से साक्षात् अन्वय होता है ।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रधान नहीं भी होता, जैसे—उन्मत्तगङ्गम् (उन्मत्ता गङ्गा यत्र-जहाँ गङ्गा उन्मत्त है) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है । (सि० कौ०)

(३) **प्रायेणोत्तरेति**—जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है वह तत्पुरुष समास कहलाता है, यह समास का तीसरा प्रकार है, जैसे—'राजपुरुषम् आनय (राजा के पुरुष को लाओ) यहाँ आनयन (लाना) क्रिया से 'पुरुष' का अन्वय होता है, अतः यहाँ पुरुष (उत्तरपद) का अर्थ ही प्रधान है । यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान नहीं होता, जैसे "अतिमालः" (मालाम् अतिक्रान्तः) यहाँ पूर्वपद 'अति' का अर्थ प्रधान है । (सि० कौ०)

१. सम् 'पूर्वक अस् (एक साथ रखना) धातु से समास शब्द बनता है ।

२. समस्त पद के पहले पद को पूर्वपद तथा अन्तिम पद को उत्तरपद कहते हैं ।

पदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीय । तत्पुरुषभेद कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः । प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थ । प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चम. ।

११६ । समर्थः पदविधि' ।२।१।१॥

पदसम्बन्धी यो विधि स समर्थाश्रितो बोध्य ।

तत्पुरुषभेद इति—तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय समास है । "तत्पुरुषः समानाधिकरण कर्मधारय १।२।४२॥ कर्मधारय समास मे भी उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है, भेद इतना है कि यहाँ विशेष्य और विशेषण का समास होता है, जैसे—'नीलम् उत्पलम्'—नीलोत्पलम् ।

कर्मधारयभेद इति—कर्मधारय का भेद द्विगु समास कहलाता है । जिस कर्मधारय (विशेष्य विशेषण का समास) समास मे पहला पद सख्यावाचक विशेषण होता है, उसे द्विगु कहते हैं (सख्यापूर्वो द्विगु २।१।५२।) जैसे—पञ्चगवम् । यहाँ विशेषण है—पञ्च, जो सख्यावाचक है ।

(४) प्रायेणान्येति—जिसम प्राय अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है वह बहुव्रीहि समास कहलाता है यह समास का चतुर्थ प्रकार है जैसे—

"लम्बकर्णम् आनय" (लम्बे कान वाले को लाओ) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है । वह अन्य पदार्थ है लम्बे कान वाला व्यक्तिविशेष । उसी का आनयन क्रिया मे अन्वय होता है ।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा गया है कि कहीं-कहीं बहुव्रीहि समास मे अन्य पदार्थ प्रधान नहीं भी होता, जैसे—द्वित्रा (सि० कौ०) दो, तीन यहाँ दोनों पदों का अर्थ ही प्रधान है ।

(५) प्रायेणोभयेति—जहाँ समास मे प्राय दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है, वह द्वन्द्व समास कहलाता है । यह समास का पाँचवा प्रकार है । जैसे—'मातापितरौ सेवस्व' (माता-पिता की सेवा करो), यहाँ दोनों पदों (माता, पिता) का अर्थ प्रधान है, दोनों का ही 'सेवस्व' क्रिया से अन्वय होता है । यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि 'दन्तोष्ठम्' (सि० कौ०) आदि समाहार द्वन्द्व मे 'समाहार' (समुदाय) अर्थ प्रधान होता है जो कि अन्य अर्थ है ।

टिप्पणी—द्वन्द्व और बहुव्रीहि समास मे दो या दो से अधिक पद होते हैं, शेष समासों मे प्राय. दो ही पद होते हैं । तत्पुरुष मे भी एक दो स्थल पर दो से अधिक पद होते हैं ।

११६. समर्थ इति—पद सम्बन्धी (पद को उद्देश्य करके कही हुई) जो विधि है वह समर्थ पदों मे जाननी चाहिये ।

संस्कृत मे 'पद' शब्द पारिभाषिक है । सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं समासविधि सुबन्तों को कही गई है, अत यह पदविधि है । समास समर्थ पदों का ही

११७। प्राक्कडारात्समासः। २।१।३॥

कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

११८। सह सुपा। २।१।४॥

सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्। परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थविबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा। तत्र पूर्वं भूतो भूतपूर्व इति लौकिकः। पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः। भूतपूर्वे चरडिति

होता है। समर्थ पद वे कहलाते हैं, जो परस्पर अन्वित होते हैं अर्थात् परस्पर मिलकर अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य रखते हैं। जहाँ पदों में यह सामर्थ्य नहीं होता वहाँ समास आदि नहीं होते, जैसे—

"भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य" (काशिका) यहाँ राज्ञः और पुरुषः परस्पर समन्वित नहीं हैं। अतः इनका समास नहीं होता।

११७. प्राक् कडाराद् इति—कडाराः कर्मधारये।२।२।३८। सूत्र से पहले समास का अधिकार है अर्थात् समास का प्रकरण है।

११८. सहेति—सुवन्त का सुवन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

समासत्वाद् इति—समास हो जाने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है (कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६।) और प्रातिपदिक संज्ञा हो जाने से 'सुप्' (सु आदि विभक्ति) का लोप हो जाता है (सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।)

परार्थेति—अन्य अर्थ (परार्थ) की प्रतीति करना वृत्ति कहलाता है। प्रत्यय अथवा अन्य पद के अर्थ सहित जो विशिष्ट अर्थ हो जाता है, वह परार्थ है।

ये वृत्तियाँ पाँच हैं—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त धातु। (इनमें कृत्, तद्धित, और सनाद्यन्त धातु में प्रत्यय के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है तथा समास और एकशेष में अन्य पद के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है)।

वृत्त्यर्थेति—वृत्ति के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। वह लौकिक (विग्रह) और अलौकिक (विग्रह) भेद से दो प्रकार का है।

लोक में जिसका प्रयोग होता है उसे लौकिक विग्रह कहते हैं, जैसे—'भूतपूर्वः' समस्त पद का लौकिक विग्रह है—"पूर्वं भूतः, (पहले हुआ)। इस वाक्य का लोक में प्रयोग किया जा सकता है।

अलौकिक विग्रह का अर्थ है—ऐसा विग्रह जिसका लोक में प्रयोग नहीं किया जाता केवल वैयाकरण जिसका प्रयोग करते हैं, जैसे—'पूर्व अम् भूत सु' यह भूतपूर्व का अलौकिक विग्रह है।

निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपात.। *(वा) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव वागर्थाविव। इति केवलसमास ॥१॥

अथाऽव्ययीभावसमासः ॥२॥

११९। अव्ययीभावः। २।१।५॥

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्।

१२०। अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु। २।१।६॥

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्य समस्यते सोऽव्ययीभाव.। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमास प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ। हरि ङि अधि इति स्थिते।

भूतपूर्व.—(पहले हुआ)—पूर्वं भूत' इस लौकिक विग्रह मे तथा 'पूर्वं अम् भूत सु' इस अलौकिक विग्रह मे 'सह सुपा' सूत्र से पूर्वम् और भूत शब्द का विकल्प से समास होता है। समास हो जाने पर "कृत्तद्धितसमासाश्च" से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो' से 'अम्' और 'सु' विभक्ति का लोप हो जाता है। यहाँ 'भूतपूर्वे चरट्' इस पाणिनिसूत्र के निर्देश से भूत शब्द को पहले रखा जाता है (पूर्वनिपात[1])। अब भूतपूर्वशब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु विभक्ति (प्रथमा एक वचन) आकर उसे विसर्ग होकर 'भूतपूर्व' शब्द बनता है।

इवेनेति (वा)—'इव' के साथ सुबन्त का समास होता है और विभक्ति का लोप नही होता।

वागर्थाविव—'वागर्थौ इव' इस लौकिक विग्रह मे तथा 'वागर्थ औ इव' इस अलौकिक विग्रह मे 'वागर्थौ का 'इव' के साथ समास होता है। यहाँ 'औ' विभक्ति का लोप नहीं होता। यहाँ समास होने का फल है—(१) एक पद होना, (२) समास का स्वर हो जाना। इति केवलसमास ॥१॥

अथाऽव्ययीभाव:। ११९. अव्ययीभाव इति—तत्पुरुष से पहले अव्ययीभाव इस पद का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुष' २।१।२२ से पहिले के सूत्रों से जो समास होंगे उनकी अव्ययीभाव संज्ञा होगी।

१२०. अव्ययम् इति—(१) विभक्ति, (२) समीप, (३) समृद्धि, (४) व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), (५) अर्थ (वस्तु) का अभाव, (६) अत्यय (ध्वंस), (७) असम्प्रति (अनुचित), (८) शब्द की अभिव्यक्ति, (९) पश्चात्, (१०) यथा, (११) अनुक्रम, (१२) यौगपद्य (एक साथ होना), (१३) सादृश्य, (१४) सम्पत्ति, (१५) साकल्य (सम्पूर्णता) तथा, (१६) अन्त, इन अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है।

---

१. समास मे किसी शब्द को पहले रखना 'पूर्वनिपात' कहलाता है।

१२१। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्। १।२।४३॥

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

१२२। उपसर्जनं पूर्वम्। २।२।३०॥

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः। सुपो लुक्। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्, प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः। अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक्। अधिहरि।

प्रायेणेति—नित्य समास वह कहलाता है जिसका प्रायः विग्रह नहीं होता (अविग्रहः = न विग्रहो यस्य सोऽविग्रहः), अथवा प्रायः अपने पदों में विग्रह नहीं होता, (न स्वेन पदेन विग्रहो यस्य सोऽस्वपदविग्रहः)।

टिप्पणी—नित्य समास का अपने सभी पदों में लौकिक विग्रह नहीं होता, अलौकिक विग्रह तो होता ही है, जैसा कि नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है।

विभक्ताविति—विभक्त्यर्थ में, यहाँ सप्तमी के अर्थ में 'अधि' अव्यय है। "हरि ङि अधि" इस स्थिति में—

१२१. **प्रथमेति**—समासशास्त्र में (अर्थात् समास-विधायक सूत्रों में) प्रथमा से निर्दिष्ट पद उपसर्जन संज्ञक होता है।

भाव यह है कि प्रथमान्त पद से जिसका बोध होता है उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है; जैसे 'अव्ययं विभक्ति०' इस सूत्र में प्रथमान्त पद है—'अव्ययम्'। 'अव्यय' शब्द से 'अधि' आदि अव्ययों का बोध होता है, अतः 'अधि' आदि की उपसर्जन संज्ञा होगी।

११२. **उपसर्जनम् इति**—समास में उपसर्जनसंज्ञक का पहले प्रयोग करना चाहिये।

इसके अनुसार यहाँ 'अधि' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वनिपात) किया गया।

सुपो लुक्-इति—अधि का पूर्वनिपात होने पर 'अधि हरि ङि' यहाँ "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" से ङि' (सुप्) का लोप हो गया।

एकदेशेति—एक देश का अर्थ है-अवयव (अंश)। यदि किसी वस्तु का एकदेश (अवयव) विकृत हो जाये तो वह अन्य नहीं हो जाती; जैसे हाथ कट जाने पर भी देवदत्त नामक व्यक्ति देवदत्त ही कहलाता है। इसी न्याय से 'ङि' का लोप हो जाने पर भी 'अधि हरि' की प्रातिपदिक[1] संज्ञा होती है और उससे 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं।

अव्ययीभावश्चेति—'अधिहरि+सु यहाँ "अव्ययीभावश्च" १।१।४१ इस सूत्र से 'अधिहरि' की अव्यय संज्ञा हो जाती है तथा अव्यय से आगे वाले 'सुप्' का

---

१. कृत्तद्धितसमासाश्च ।१।१।४६।

१२३ । अव्ययीभावश्च । २।४।१८॥

अयं नपुंसकं स्यात्

१२४ । नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः । २।४।८३॥

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक् तस्य तु पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात् । गाः पातीति गोपास्तस्मिन्नित्यधिगोपम् ।

१२५ । तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥२।४।८४॥

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । अधिगोपम् अधिगोपेन, अधिगोपे वा । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । उपकृष्णेन । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् ।

'अव्ययादाप्सुपः' २।४।८२। से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'अधिहरि' रूप हो जाता है।

(१) अधिहरि—'हरौ' इस लौकिक विग्रह में 'हरि ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति०' आदि सूत्र से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास हो जाता है। 'अधि' का पूर्वनिपात और 'ङि' का लोप होकर 'अधि हरि' समस्त पद से आने वाले 'सु' का, (अव्यय संज्ञा हो जाने के कारण) लोप हो जाता है।

१२३ अव्ययीभाव इति—यह अर्थात् अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग में हो जाता है।

१२४ नाव्ययीभावादिति—अदन्त का अर्थ है—अत् अर्थात् 'अ' (अकार) है अन्त में जिसके। अकारान्त अव्ययीभाव से परे सुप्' का लोप नहीं होता तथा पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसे 'अम्' रूप हो जाता है।

अधिगोपम्—'गोपा' का अर्थ है 'गाः पाति इति' गायों का पालन करने वाला। गोपा म (गोपि=गोपा स० वि० एक०) इस लौकिक विग्रह में तथा 'गोपा ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति०' आदि सूत्र के अनुसार विभक्त्यर्थ में अधि (सप्तमी अर्थ के अव्यय) का 'गोपा' के साथ अव्ययीभाव समास होता है। 'अधि' का पूर्वनिपात और ङि' का लोप होकर 'अधिगोपा' बनता है। अव्ययीभाव समास के नपुंसकलिङ्ग में हो जाने से गोपा के आ को ह्रस्व[1] (अ) हो जाता है। 'अधिगोप' शब्द से 'सु' प्रत्यय आकर 'सु' को उपर्युक्त नियम के अनुसार अम् होकर अधिगोपम् रूप बनता है।

१२५ तृतीयेति—अकारान्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी विभक्ति को प्रायेण अम् होता है।

---

१ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । १।२।४७।

हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि । विष्णोः पश्चाद् अनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः । रूपस्य योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ।

इस प्रकार अकारान्त अव्ययीभाव से पञ्चमी विभक्ति में नित्य 'अधिगोपात्' इत्यादि, तृतीया में 'अधिगोपेन' अथवा 'अधिगोपम्' आदि सप्तमी में 'अधिगोपे' अथवा 'अधिगोपम्' आदि रूप होते हैं। 'अव्यय' सूत्र के शेष उदाहरण निम्न प्रकार है।

(२) उपकृष्णम्—कृष्णस्य समीपम् (कृष्ण के समीप)—इस विग्रह में (कृष्ण ङस् उप अलौकिक विग्रह) 'उप' अव्यय का कृष्ण के साथ अव्ययीभाव समास हो जाता है। शेष पहले शब्द के समान है।

(३) सुमद्रम्—मद्राणां समृद्धिः (मद्रदेश के राजाओं की समृद्धि)—इस विग्रह में समृद्धि अर्थ में 'सु' अव्यय का ('मद्र' शब्द के साथ 'मद्र' आम् सु) अव्ययीभाव समास होता है।

(४) दुर्यवनम्—यवनानां व्यृद्धिः (यवनों की दुर्दशा)—इस विग्रह में व्यृद्धि अर्थ में 'दुर्' 'अव्यय' का 'यवन' शब्द के साथ (यवन आम् दुर्) अव्ययीभाव समास होता है।

(५) निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणाम् अभावः (मक्खियों का भी अभाव अर्थात् बिल्कुल एकान्त)—इस विग्रह में अभावार्थक 'निर्' अव्यय का मक्षिका (सुबन्त) के साथ (मक्षिका आम् निर्) अव्ययीभाव समास होता है। निर्मक्षिका ऐसा हो जाने पर नपुंसक लिङ्ग होने के कारण ह्रस्व होकर निर्मक्षिकम् रूप बनता है।

(६) अतिहिमम्—हिमस्य अत्ययः (बर्फ की समाप्ति)—इस विग्रह में अत्यय अर्थात् विनाश अर्थ में 'अति' अव्यय का 'हिम' के साथ (हिम ङस् अति) अव्ययीभाव समास होता है।

(७) अतिनिद्रम्—निद्रा सम्प्रति न युज्यते (निद्रा इस समय उचित नहीं) इस विग्रह में असम्प्रति (अनौचित्य) अर्थ में 'अति' अव्यय का 'निद्रा' के साथ (निद्रा ङस् अति) अव्ययीभाव समास होता है।

(८) इतिहरि—हरिशब्दस्य प्रकाशः (हरि शब्द का उच्चारण)—इस विग्रह में प्रादुर्भाव (प्रकट करना) अर्थ में 'इति' अव्यय का हरि शब्द के साथ (हरि ङस् इति) अव्ययीभाव समास होता है।

(९) अनुविष्णु—विष्णोः पश्चात् (विष्णु के बाद)—इस विग्रह में, पश्चात् अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का विष्णु शब्द के साथ (विष्णु ङस् अनु) समास होता है।

१२६ । अव्ययीभावे चाकाले ।६।३।८१॥

सहस्य स. स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत्सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि ।

---

(१०) योग्यतेति—यथा शब्द के चार अर्थ हैं (क) योग्यता, (ख) वीप्सा, (ग) पदार्थानतिवृत्ति, (घ) सादृश्य । इन चारो अर्थों मे विद्यमान अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है, जैसे—

(क) अनुरूपम्—रूपस्य योग्यम् (रूप के योग्य)—यहाँ योग्यता अर्थ मे 'अनु' अव्यय का 'रूप' के साथ (रूप ङस् अनु) अव्ययीभाव समास होता है।

(ख) प्रत्यर्थम्—अर्थम् अर्थं प्रति (प्रत्येक अर्थ मे)—यहाँ वीप्सा (प्रत्येक मे होना) अर्थ म 'प्रति' अव्यय का 'अर्थ' (सुबन्त) के साथ (अर्थ अम् प्रति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(ग) यथाशक्ति—शक्तिम् अनतिक्रम्य (शक्ति का अतिक्रमण न करके अर्थात् शक्ति के अनुसार) यहाँ पदार्थानतिवृत्ति (वस्तु का अतिक्रमण न करना) अर्थ मे 'यथा' अव्यय का 'शक्ति' [सुबन्त] के साथ (शक्ति ङस् यथा) अव्ययीभाव समास होता है ।

१२६. अव्ययीभाव इति—सह शब्द को स' हो जाता है अव्ययीभाव समास मे, किन्तु कालवाची उत्तरपद होने पर नही ।

(घ) सहरि—हरेः सादृश्यम् (हरि का सादृश्य)—यहाँ सादृश्य अर्थ मे 'सह' अव्यय का 'हरि' (सुबन्त) के साथ (हरि टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(११) अनुज्येष्ठम्—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण (ज्येष्ठ के क्रम से)—यहाँ आनुपूर्व्य (क्रम) अर्थ मे 'अनु' अव्यय का 'ज्येष्ठ' (सुबन्त) के साथ (ज्येष्ठ ङस् अनु) अव्ययीभाव समास होता है ।

(१२) सचक्रम्—चक्रेण युगपत् (चक्र के साथ)—इस विग्रह मे यौगपद्य (एक साथ) अर्थ मे वर्तमान 'सह' अव्यय का 'चक्र' (सुबन्त) के साथ (चक्र टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है।

(१३) ससखि—सदृशः सख्या (सखा के समान)—इस विग्रह मे, सादृश्य अर्थ मे 'सह' अव्यय का 'सखि' (सुबन्त) के साथ (सखि टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१४) सक्षत्रम्—क्षत्राणां सम्पत्तिः (क्षत्रियो की सम्पत्ति)—इस विग्रह मे,

१२७। नदीभिश्च ।२।१।२०॥

नदीभिः सह संख्या समस्यते। समाहारे चेष्यमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

१२८। तद्धिताः ।४।१।७६॥

आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

१२९। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७॥

सम्पत्ति अर्थ में 'सह' अव्यय का 'क्षत्र' (सुवन्त) के साथ (क्षत्र भिस् सह) अव्ययीभाव समास होता है। 'सह' को 'स' हो जाता है।

(१५) सतृणम्—तृणमपि अपरित्यज्य (तिनके को भी न छोड़कर अर्थात् सब कुछ)—इस विग्रह में, साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में 'सह' अव्यय का 'तृण' (सुवन्त) शब्द के साथ (तृण टा सह) अव्ययीभाव समास होता है। सह' को 'स' हो जाता है।

(१६) साग्नि—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते (अग्निसम्बन्धी ग्रन्थ तक पढ़ता है)—इस विग्रह में 'अन्त' (पर्यन्त) अर्थ में 'सह' अव्यय का 'अग्नि' (सुवन्त) के साथ अव्ययीभाव समास होता है। 'सह' को 'स' हो जाता है।

टिप्पणी—इन सभी प्रयोगों में अव्यय का पूर्व प्रयोग, सुप् का लोप तथा समस्तपद से होने वाले सु को 'अम्' या उसका लोप आदि होते हैं।

१२७. नदीभिश्च इति—नदीविशेपवाची शब्दों के साथ संख्यावाची शब्दों का समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है।

समाहारे इति (वा)—यह समास समाहार (Aggregate) में इप्ट है अर्थात् समस्तपद समाहार का बोधक होता है।

पञ्चगङ्गम्—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः (पांच गङ्गाओं का समाहार)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् जस् गङ्गा जस्' इस अलौकिक विग्रह में नदीविशेप वाचक गङ्गा शब्द के साथ संख्यावाचक 'पञ्च' शब्द का समास होता है। यहाँ संख्या शब्द प्रथमान्त है अतः संख्यावाची 'पञ्चन्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा हो जाती है। पञ्चन् शब्द का पूर्व प्रयोग होकर सुप् का लोप हो जाता है। पञ्चन् का न् लोप (नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य) हो जाता है। अव्ययीभाव होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होने से 'गङ्गा' को ह्रस्व होकर 'पञ्चगङ्ग' शब्द बनता है। पञ्चगङ्ग + सु → अम् = पञ्चगङ्गम्। इसी प्रकार—

द्वियमुनम्—द्वयोः यमुनयोः समाहारः (दो यमुनाओं का समाहार)।

१२८. तद्धिताः इति—इस सूत्र से लेकर अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक यह अधिकार है अर्थात् वहाँ तक तद्धित प्रत्यय कहे गये हैं।

१२९. अव्ययीभाव इति—शरद् आदि शब्दों से अव्ययीभाव समास में समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। (टच् में से ट् और च् का लोप हो जाता है केवल 'अ' बचता है)।

शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपमुपशरदम्। प्रतिविपाशम्।

(जराया जरश्च)। उपजरसमित्यादि।

१३० (क)। अनश्च ।५।४।१०८॥

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् स्यात्।

१३१। नस्तद्धिते ।६।४।१४४॥

टिप्पणी—समास के अन्त में होने वाले प्रत्यय समासान्त प्रत्यय कहलाते हैं। ये तद्धित प्रकरण में हैं। अतः जिन शब्दों के अन्त में ये प्रत्यय होते हैं। उनकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है और सु' आदि विभक्ति होती है।

उपशरदम्—शरदः समीपम् (शरद् के समीप)—इस विग्रह में, अव्ययं 'विभक्ति' आदि सूत्र से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का शरद् (सुबन्त) के साथ (शरद् ङस् उप) समास होता है। उपशरद् समासान्त टच् (अ) प्रत्यय होकर 'उपशरद' बनता है। उपशरद + सु → उपशरद + अम् → उपशरदम्।

प्रतिविपाशम्—विपाशायाः अभिमुखम् (विपाशा नदी की ओर)—इस विग्रह में 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' ।२।१।१४। से प्रति, अव्यय का विपाश् (व्यास नदी) के साथ समास होकर, समासान्त टच्' प्रत्यय होता है सु → अम् होकर 'प्रतिविपाशम्' रूप बनता है।

जराया इति—(गणसूत्र)—जराशब्द को जरस् हो जाता है तथा अव्ययीभाव में समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

उपजरसम्—जरायाः समीपम् (बुढ़ापे के समीप)—इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति॰' आदि से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का 'जरा' (सुबन्त) के साथ समास होता है; प्रस्तुत गणसूत्र के अनुसार 'जरा' को जरस् होकर तथा टच् समासान्त प्रत्यय होकर उपजरस् + अ → उपजरस + सु (अम्) = उपजरसम्।

१२९ (क) अनश्चेति—जिस अव्ययीभाव समास के अन्त में 'अन्' होता है वह अन्नन्त अव्ययीभाव है (अन् अन्ते यस्य), उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

१३०. नस्तद्धित इति—नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है, तद्धित परे होने पर।

टिप्पणी—यहाँ 'भ' और 'टि' पाणिनि व्याकरण द्वारा कल्पित संज्ञायें हैं।

(१) 'यचि भम् ।१।४।१८।' सूत्र के अनुसार यकारादि और अजादि सु आदि प्रत्यय परे होने पर पहले की भ संज्ञा होती है, (२) 'अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४' सूत्र के अनुसार किसी शब्द के अन्तिम स्वर (अच्) सहित आगे वाला समस्त भाग टि संज्ञक होता है। जैसे 'उपराजन् + अ (टच्)—यहाँ अजादि (अच् है आदि में

नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

१३१। नपुंसकादन्यतरस्याम् ।५।४।१०९॥

अन्नन्तं यत् क्लीवं तदन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। उपचर्मम्। उपचर्म।

१३२। झयः ।५।४।१११॥

झयन्तादव्ययीभावाट्टच्। उपसमिधम्। उपसमित्।

इत्यव्ययीभावसमासः ॥२॥

जिसके) प्रत्यय 'अ' परे है तो 'उपराजन्' की भ संज्ञा हो जाती है और 'उपराजन्' में अन्तिम अच् है—ज् से परे वाला 'अ' अतएव 'अ' सहित आगे वाला समस्त शब्दांश 'अन्' टिसंज्ञक हो जाता है तथा उपर्युक्त नियम से इसका लोप होता है।

उपराजम्—राज्ञः समीपम् (राजा के समीप)—इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति०' आदि से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का राजन् (सुवन्त के साथ) (राजन् ङस् उप) अव्ययीभाव समास होता है। 'उपराजन्' इस दशा में समासान्त टच् (अ) प्रत्यय होकर 'अन्' (टि) का लोप हो जाता है। उपराज शब्द से सु=अम् होकर उपराजम् रूप होता है।

अध्यात्मम्—'आत्मनि अधि' (आत्मा के विषय में) इस लौकिक विग्रह में तथा 'आत्मन् ङि अधि', इस अलौकिक विग्रह में विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास होता है। शेष 'उपराजम्' के समान।

१३१. नपुंसकाद् इति—'अन् अन्त वाला जो नपुंसक लिङ्ग शब्द है तदन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है।

उपचर्मम्—'चर्मणः समीपम्' (चर्म के समीप)—'चर्मन् ङस् उप' इस विग्रह में समीप अर्थ में उप (अव्यय) का चर्मन् (सुवन्त) के साथ अव्ययीभाव समास होता है। जहाँ समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है वहाँ उपचर्मन् + अ (टच्) अन् का लोप होकर उपचर्म् + अ → उपचर्म अकारान्त शब्द से सु → अम् होकर 'उपचर्मम्' रूप होता है; जहाँ टच् प्रत्यय नहीं होता, वहाँ नकारान्त 'उपचर्मन्' रहता है और उससे चर्म के समान रूप होकर 'उपचर्म बनता है।

१३२. झय इति—झयन्त अव्ययीभाव से विकल्प से टच् (समासान्त) प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—(झय् प्रत्याहार है इसमें वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे तथा पहले अक्षर आते है)।[1] झय् प्रत्याहार वाले अक्षरों में से कोई जिसके अन्त में हो उसे झयन्त शब्द कहा जायेगा।

---

१. झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्।

अथ तत्पुरुषसमासः ॥३॥

१३३। तत्पुरुषः ।२।१।२२॥

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

१३४। द्विगुश्च ।२।१।२३॥

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

१३५। द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ।२।१।२४॥

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः इत्यादि ।

उपसमिधम्—उपसमित्—समिधः समीपम् (समिधा के समीप)—इस विग्रह में समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का 'समिध्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास होता है। जब समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है तो 'उपसमिधम्' नहीं तो 'उपसमित्' रूप होता है। इत्यव्ययीभावः ॥२॥

अथ तत्पुरुषः। १३३ तत्पुरुष इति—बहुव्रीहि से पहले तक तत्पुरुष का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' २।१।२२ से लेकर 'शेषो बहुव्रीहिः' २।१।२३ तक के सूत्रों से जिस समास का विधान किया गया है वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

१३४ द्विगुश्चेति—द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक होता है। (द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा समासान्त विधि आदि के लिये की गई है)।

टिप्पणी—तत्पुरुष समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण (२) व्यधिकरण (१) समानाधिकरण तत्पुरुष में पूर्वपद तथा उत्तरपद की समान (प्रथमा) विभक्ति होती है। कर्मधारय और द्विगु समानाधिकरण तत्पुरुष हैं। (२) व्यधिकरण तत्पुरुष में पूर्वपद द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति तक में होता है और उत्तरपद प्रथमा विभक्ति में। जिस विभक्ति में पूर्वपद होता है उसी नाम से तत्पुरुष कहा जाता है, जैसे अग्रिम सूत्र से विहित 'कृष्णं श्रितः → कृष्णश्रितः' आदि 'द्वितीया तत्पुरुष' कहलाता है क्योंकि यहाँ पूर्वपद है—'कृष्णम्' और यह द्वितीयान्त है।

१३५ द्वितीयेति—द्वितीयान्त का श्रित (आश्रित), अतीत (पार हुआ), पतित (गिरा) गत (गया) अत्यस्त (फेंका हुआ) प्राप्त, आपन्न (पाया हुआ)—इन शब्दों से बने सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

कृष्णश्रितः—'कृष्णं श्रितः' (कृष्ण पर आश्रित)—'कृष्ण अम् श्रित सु' इस विग्रह में द्वितीयान्त 'कृष्ण' शब्द का 'श्रित' सुबन्त के साथ समास होता है। कृष्ण शब्द का पूर्व निपात और सुप् का लोप होकर 'कृष्णश्रित' यह समस्त पद होता है। इससे प्रथमा के एकवचन में सु प्रत्यय होकर 'कृष्णश्रितः' रूप होता है।

इसी प्रकार दुःखातीतः (दुःखम् अतीतः) कूपपतितः (कूपं पतितः), ग्रामगतः

१३६। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ।२।१।३०॥

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्? अक्ष्णा काणः।

१३७। कर्तृकरणे कृता बहुलम् ।२।१।३२॥

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातो

(ग्रामं गतः), तुहिनात्यस्तः (तुहिनम् अत्यस्तः), सुखप्राप्तः (सुखं प्राप्तः) दुःखापन्नः आदि सिद्ध होते हैं।

टिप्पणी—'द्वितीया०, आदि सूत्र में 'द्वितीया' शब्द प्रथमा विभक्ति में है। यह विग्रह में स्थित 'कृष्णम्' आदि का बोधक है। अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से 'कृष्ण' आदि की उपसर्जन संज्ञा होकर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्वनिपात (पूर्व प्रयोग) होता है। इसी प्रकार तृतीया समास आदि में भी।

१३६. **तृतीयेति**—तृतीयायान्त शब्द का उसके अर्थ से किये हुए गुणवाची के साथ तथा अर्थ शब्द[1] के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

शङ्कुलाखण्डः—'शङ्कुलया खण्डः' (सरोते से किया हुआ खण्ड) यहाँ 'खण्ड' गुणवाचक है और यह तृतीया के अर्थ शङ्कुला से किया हुआ है, अतः प्रस्तुत सूत्र से समास होता है 'शङ्कुला टा खण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में 'शङ्कुला' शब्द का पूर्व निपात, सुप् लोप होकर 'शङ्कुलाखण्ड' समस्त पद बनता है। इससे प्रथमा एकवचन में 'शङ्कुलाखण्डः'।

धान्यार्थः—धान्येन अर्थः' (धान्य से धन)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'धान्य टा अर्थ सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है।

तत्कृतेति किम् इति—सूत्र में 'तत्कृत' (उस तृतीयान्त का किया हुआ) यह क्यों कहा? इसलिये कि जहाँ तृतीयान्त (अर्थ) का किया हुआ गुणवाचक नहीं, वहाँ समास नहीं होता।

इस प्रकार 'अक्ष्णा काणः' में समास नहीं होता, क्योंकि कानापन 'आँख' का किया हुआ नहीं।

१३७. **कर्तृकरण इति**—कर्त्ता और करण में जो तृतीया, उस तृतीयान्त शब्द का कृदन्त के साथ बहुधा समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

हरित्रातः—'हरिणा त्रातः' (हरि से रक्षित)—इस लौकिक विग्रह नें तथा 'हरि टा त्रात सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास हो जाता है। (यहाँ 'हरिणा' में कर्त्ता में तृतीया है तथा 'त्रात' शब्द कृदन्त है जो 'त्रा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है)। समास कार्य पूर्ववत्।

नखभिन्नः—नखैः भिन्नः (नखों से फाड़ा हुआ)—इस लौकिक विग्रह में तथा

---

१. यहाँ अर्थ शब्द धनवाचक है (दे० बालमनोरमा)।

हरित्रात । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः । 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' नखनिर्भिन्न ।

१३८ । चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ।२।१।३६॥

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्ट तेनेह न रन्धनाय-स्थाली ।

***(वा) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् ॥**

'नख भिस् भिन्न सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है । (यहाँ 'नखै' में करण में तृतीया है और 'भिन्न' शब्द कृदन्त है जो भिद् धातु से क्त प्रत्यय होकर बना है) ।

कृद्ग्रहण इति (प०)—कृदन्त के ग्रहण में गति और कारक पूर्वक (कृदन्त) का भी ग्रहण होता है, अर्थात् जो कार्य कृन्दत को कहा जाता है वह गति (प्र, परा आदि) और कारक (कर्म आदि) जिसके पहले हो ऐसे कृदन्त को भी होता है । इसका फल यह होता है कि तृतीयान्त 'नख' का निर्भिन्न शब्द के साथ भी समास हो जाता है । यहाँ 'निर्भिन्न' शब्द में निर् गति संज्ञक है और उपर्युक्त परिभाषा से कृदन्त के ग्रहण से इसका भी ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार 'नख निर्भिन्न' यह समस्त पद बनता है ।

१३८ चतुर्थीति—चतुर्थ्यन्त का अर्थ है—चतुर्थी है अन्त में जिसके । चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिये जो वस्तु हो, उसके वाचक शब्द तथा अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन शब्दों के साथ चतुर्थ्यन्त का विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है ।

यूपदारु—यूपाय दारु (यज्ञस्तम्भ के लिये काष्ठ)—इस लौकिक विग्रह में तथा यूप ङे, दारु सु' इस अलौकिक विग्रह मे यूप शब्द का दारु शब्द से तत्पुरुष समास होता है । यहाँ 'दारु' (काष्ठ) चतुर्थ्यन्त (यूपाय) के अर्थ यूप (यज्ञस्तम्भ) के लिये है ।

तदर्थेनेति—सूत्र में 'तदर्थ' से प्रकृतिविकृतिभाव इष्ट है । प्रकृति का अर्थ है-उपादान कारण और विकृति का अर्थ है—कार्य । भाव यह है कि जहाँ चतुर्थ्यन्त का अर्थ (पदार्थ) कार्य हो और उत्तरपद का अर्थ उसका उपादान कारण (प्रकृति) हो वहाँ यह समास होता है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण मे 'दारु' (लकड़ी) प्रकृति है उससे यूप बनता है और 'यूप' उसकी विकृति है । इसी प्रकार 'घटमृत्तिका' 'पट-तन्तव' आदि में । किन्तु रन्धनाय स्थाली' (राधने के लिये देगची) यहाँ स्थाली रन्धन का उपादान कारण नहीं, अतः यहाँ यह समास नहीं होता ।

अर्थेनेति (वा)—अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है । तथा समस्तपद का विशेष्य के समान लिङ्ग होता है ।

द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

१३९। पञ्चमी भयेन।२।१।३७॥

चौराद् भयं चौरभयम्।

१४०। स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन।२।१।३९॥

१४१। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः।६।३।२॥

अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

द्विजार्थः सूपः—द्विजाय अयम् इति द्विजार्थः (यह द्विज के लिये है)—यहाँ नित्य समास होने से अपने पदों मे लौकिक विग्रह नहीं होता (अस्वपदविग्रहः)। द्विज ङे अर्थ सु' यह अलौकिक विग्रह है। तत्पुरुष समास होकर 'द्विजार्थ' समस्त पद होता है। इसका विशेष्य के समान लिङ्ग हो जाने से' द्विजार्थः सूपः (द्विज के लिये दाल) ('सूप' शब्द पुँल्लिङ्ग है) यह प्रयोग होता है।

इसी प्रकार 'द्विजाय इयम्' 'द्विजार्था यवागूः' (ब्राह्मण के लिये लप्सी) (स्त्रीलिङ्ग)' 'द्विजाय इदम्' 'द्विजार्थं पयः' (ब्राह्मण के लिये दूध) (नपुंसक लिङ्ग) होता है।

इसी प्रकार भूतबलिः—भूतेभ्यः बलिः (भूतों के लिये बलि),

गोहितम्—गोभ्यः हितम् (गायों के लिये हितकर),

गोसुखम्—गोभ्यः सुखम् (गायों के लिये सुखकर),

गोरक्षितम्—गोभ्यः रक्षितम् (गायों के लिये रक्खा हुआ), आदि में चतुर्थी तत्पुरुष समास होता है।

१३९. पञ्चमीति—पञ्चम्यन्त का भयवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और यह तत्पुरुष समास कहलाता है।

चौरभयम्—चौराद् भयम् (चौर से भय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'चौर ङसि भय सु' इस अलौकिक विग्रह में चौराद् (पञ्चम्यन्त) का 'भयम्' के साथ समास हो जाता है।

१४०. स्तोकेति—स्तोक [थोड़ा] अन्तिक [समीप] और दूर इन अर्थों वाले [शब्द] तथा कृच्छ्र इन पञ्चम्यन्त पदों का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

१४१. पञ्चम्याः इति—स्तोक आदि शब्दों से उत्तरपद परे रहते पञ्चमी विभक्ति का लुक् [लोप] नहीं होता।

स्तोकान्मुक्तः—स्तोकात् मुक्तः [थोड़े से मुक्त हुआ],

अन्तिकादागतः—अन्तिकात् आगतः (पास से आया हुआ),

१४२। षष्ठी।२।२।८॥

सुबन्तेन प्राग्वत्। राजपुरुषः।

१४३। पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे।२।२।१॥

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसङ्ख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्।

अभ्याशादागत—अभ्याशात् आगत (पास में आया हुआ),

दूरागत—दूरात् आगत (दूर से आया हुआ)

कृच्छ्रादागत—कृच्छ्रात् आगतः [कष्ट से आया हुआ]—इन सभी प्रयोगों में उपर्युक्त सूत्र से पञ्चमी तत्पुरुष समास होता है तथा पञ्चमी विभक्ति का अलुक् [लोप का अभाव] होता है।

१४२ षष्ठीति—षष्ठ्यन्त पद का सुबन्त के साथ समास होता है और वह [षष्ठी] तत्पुरुष कहलाता है।

राजपुरुष—राज्ञः पुरुष' [राजा का पुरुष]—इस लौकिक विग्रह में तथा 'राजन् ङस् पुरुष सु' इस अलौकिक विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। सुप् का लुक् होकर न्' लोप होता है तथा राजपुरुष समस्त पद बनता है।

१४३ पूर्वेति—सूत्र में एकदेशी का अर्थ है=अवयवी 'एकदेशोऽस्यास्तीति' एकदेश कहते हैं अवयव को। एकाधिकरण का अर्थ है—एक अर्थ [वस्तु]। इस प्रकार—पूर्व [आगे का], अपर [पीछे का], अधर [नीचे का] तथा उत्तर (ऊपर का)—इन पदों का अवयवी वाचक शब्दों के साथ समास होता है यदि अवयवी एकत्व सङ्ख्यायुक्त हो, अर्थात् 'एक' हो।

षष्ठी समासेति—यह षष्ठी समास का अपवाद है। इस सूत्र से समास विधान करने के कारण शब्दों के 'पूर्वप्रयोग' (पूर्वनिपात) में भेद हो जाता है, जैसे—'पूर्वं कायस्य' यहाँ 'षष्ठी' समास होता तो 'काय' का पूर्वनिपात होता किन्तु प्रस्तुत सूत्र से समास होने पर 'पूर्व' शब्द का पूर्वनिपात होता है क्योंकि समास शास्त्र में 'पूर्व' इत्यादि प्रथमानिर्दिष्ट हैं।

पूर्वकाय—पूर्वं कायस्य (शरीर का अग्रभाग)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्व अम् काय ङस्' इस अलौकिक विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'काय' एकत्व सङ्ख्यायुक्त अवयवी है और पूर्व उसका अवयव है।

इसी प्रकार अपरकाय—'अपरं कायस्य' (शरीर का पिछला भाग)।

एकाधिकरणे किम् इति—सूत्र में एकाधिकरणे कहने का क्या अभिप्राय है? यह कि जहाँ अवयवी बहुत्व सङ्ख्यायुक्त होगा वहाँ समास नहीं होगा, जैसे 'पूर्वश्छात्राणाम्' (छात्रों का पूर्व भाग) यहाँ समास नहीं होता, क्योंकि छात्र एक नहीं अनेक हैं।

१४४। अर्धं नपुंसकम् ।२।२।२॥

समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली।

१४५। सप्तमी शौण्डैः ।२।१।४०॥

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः इत्यादि। द्वितीयातृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः।

१४६। दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम् ।२।१।५०॥

पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। तेनेह न। उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

---

१४४. अर्धम् इति—'समान भाग' इस अर्थ का वाचक 'अर्ध' शब्द है, जो नित्य नपुंसकलिङ्ग मे होता है; उसका एकत्व संख्यायुक्त अवयवी के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

अर्धपिप्पली—अर्ध पिप्पल्याः (पीपली का अर्ध भाग)—इस लौकिक विग्रह में तथा अर्ध अम् पिप्पली ङस्, इस अलौकिक विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से समास होता है। अर्ध शब्द का पूर्व निपात होकर 'अर्धपिप्पली' शब्द बनता है (यहाँ तत्पुरुष में पूर्वपद प्रधान है)।

१४५. सप्तमीति—सप्तम्यन्त का शौण्ड आदि शब्द के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

अक्षशौण्डः—अक्षेषु शौण्डः (पासे फेंकने में चतुर)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है। यहाँ सप्तम्यन्त का पूर्वप्रयोग होता है।

द्वितीयेति—('द्वितीया श्रितातीत०' आदि समासविधायक सूत्रों में) द्वितीया, तृतीया इत्यादि योग-विभाग करने से प्रयोग के अनुसार अन्यत्र (उक्त स्थलों से भिन्न स्थानों में) भी तृतीया आदि विभक्तियों का समास जानना चाहिये, अर्थात् जिन शब्दों में द्वितीया आदि समास कहा गया है, उनसे भिन्न शब्दों में भी कहीं कहीं शिष्ट प्रयोग के अनुसार समास समझना चाहिये।

१४६. दिक्संख्ये इति—संज्ञा के विषय में दिशावाचक शब्दों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

टिप्पणी—सप्तमी शौण्डैः १४५ तक व्यधिकरण तत्पुरुष दिखाया गया है जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है इसमें पूर्वपद और उत्तर पद भिन्न-भिन्न विभक्ति में हैं। सूत्र १४६ से लेकर "उपमानानि सामान्यवचनैः" तक सामानाधिकरण तत्पुरुष समास दिखलाया जा रहा है। इसमें पूर्वपद तथा उत्तरपद समान विभक्ति में होता है।

पूर्वेषुकामशमी—'पूर्वा इषुकामशमी' इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्वा सु

१४७। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ।२।१।५१॥

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः। पूर्वा शाला इति समासे जाते।

*(वा) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः।

१४८। दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ।४।२।१०७॥

अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्।

१४९। तद्धितेष्वचामादेः ।७।२।११७॥

इषुकामशमी सु' इस अलौकिक विग्रह में प्रकृत सूत्र से तत्पुरुष समास होता है। 'पूर्वेषुकामशमी' प्राचीनकाल के किसी ग्राम का नाम है।

सप्तर्षय---'सप्त च ते ऋषयः' इस लौकिक विग्रह में तथा 'सप्त जस् ऋषि जस्' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है। सङ्ख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुप् लुक् होकर सप्तर्षि से प्रथमा के बहुवचन में 'सप्तर्षयः' रूप होता है।

संज्ञायाम् इति---संज्ञा में ही दिशावाची और सङ्ख्यावाची का समास होता है। इस प्रकार के नियम के लिये यह सूत्र है अन्यथा समास तो 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७। से सिद्ध ही था। इस नियम के कारण यहाँ समास नहीं होता, जैसे---'उत्तरा वृक्षाः' 'पञ्च ब्राह्मणाः' क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है।

१४७ तद्धितेति---तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे होने पर और यदि समाहार वाच्य हो तो दिशावाचक और सङ्ख्यावाचक शब्दों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

पूर्वस्याम् इति---यह तद्धितार्थ के विषय में उदाहरण है। 'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्व शाला में होने वाला) यहाँ 'भवः' (तत्र भवः) 'होने वाला' यह तद्धितार्थ है। इस विषय में 'पूर्व' दिशावाचक शब्द का 'शाला' शब्द से समास होकर, सुप् का लोप होकर 'पूर्वा शाला' यह स्थिति होती है।

सर्वनाम्न इति (वा)---सर्वनाम को वृत्ति मात्र में पुंवद्भाव हो जाता है।

पीछे कहा गया है कि कृत्तद्धित समास आदि पाँच वृत्तियाँ कहलाती हैं। उनमें इस नियम से सर्वनाम स्त्रीलिङ्ग शब्दों का पुँल्लिङ्ग के समान रूप हो जाता है (पुंवद्भाव)। यहाँ समास वृत्ति है अतएव 'पूर्वाशाला' में 'पूर्वा' को पुंवद्भाव होकर उसमें स्त्रीत्वबोधक 'टाप्' प्रत्यय नहीं रहता और पूर्वशाला शब्द बन जाता है।

१४८ दिक्पूर्वेति---जिसमें दिशावाचक पूर्वपद होता है ऐसे शब्द से भव (होने वाला) अर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है यदि संज्ञा न हो।

'ञ' में 'ञ' की इत् संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है और 'अ' शेष रहता है। इस प्रकार 'पूर्व शाला अ' इस स्थिति में---

१४९. तद्धितेष्विति---ञित् और णित् तद्धित परे होने पर अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च । पौर्वशालः । पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ ।

*(वा) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।

१५० । गोरतद्धितलुकि ।५।४।९२॥

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

ञित् का अर्थ है—'ञ्' है इत् संज्ञक जिसमें । यहाँ 'ञ' प्रत्यय ञित् तद्धित है अतः पूर्व शाला 'अ' में 'पू' के ऊ (आदि अच्) को वृद्धि होकर 'औ' हो जाता है । 'पौर्वशाला+अ' में 'यस्येति च ६।४।१४८ से 'ला' के आ का लोप हो जाता है और 'पौर्वशाल' शब्द से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'पौर्वशालः' ।

पौर्वशालः—'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्व शाला में उत्पन्न हुआ)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्वा ङि शाला ङि' इस अलौकिक विग्रह में (तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च) तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास होता है । सुप् का लोप होकर 'पूर्वा शाला शब्द में पूर्वा को पुंवद्भाव तथा पूर्व शाला शब्द से (दिक्पूर्वपदा दसंज्ञायां ञः) 'ञ' तद्धित प्रत्यय हो जाता है । 'पूर्वशाला+अ (ञ)' इस दशा म आदि वृद्धि ऊ को औ तथा 'यस्येति च' से लकार के आगे वाले आकार का लोप होकर 'पौर्वशाल' शब्द बनता है उससे प्र० एक० में पौर्वशालः ।

पञ्च गावो धनं यस्य-(पाँच गायें हैं धन जिसका)—इस तीन पदों के बहुव्रीहि समास में—उत्तरपद (धनम्) परे रहते 'पञ्चन्[1] और 'गो' शब्दों का विकल्प से तत्पुरुष समास प्राप्त होता है—

द्वन्द्वेति (वा)—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में उत्तरपद परे रहने पर नित्य समास कहना चाहिये ।

इस वार्तिक से यहाँ तत्पुरुष समास नित्य होता है । सुप् का लोप होकर तथा न्' का लोप होकर 'पञ्च गो धन' इस स्थिति में—

१५० गोरिति—जिसके अन्त में गो शब्द हो, ऐसे तत्पुरुष से टच् समासान्त प्रत्यय होता है किन्तु तद्धित का लुक् (लोप) हो जाने पर नहीं होता है

'टच्' में से 'ट्' और 'च्' चले जाते हैं 'अ' रहता है । इससे 'टच्' प्रत्यय होकर 'पञ्चगो+अ+धन' इस स्थिति में 'ओ' को 'अव्' होकर 'पञ्चगवधन' शब्द बनता है ।

पञ्चगवधनः—'पञ्च गावो धनं यस्य' (पाँच गायें हैं धन जिसका)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् जस् गो जस् धन सु' इस अलौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर उत्तरपद परे रहते पञ्चन् और गो शब्द का नित्य तत्पुरुष

१, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७॥

१५१ । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ।१।२।४२॥

१५२ सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः ।२।१।५२॥

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः सङ्ख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

१५३ । द्विगुरेकवचनम् ।२।४।१॥

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात् ।

१५४ । स नपुंसकम् ।२।४।१७॥

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।

१५५ । विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ।२।१।५७॥

समास होता है । सुप् का लोप होकर तथा न् लोप होकर 'पञ्चगो + धन' इस अवस्था मे 'पञ्चगो' से समासान्त टच् प्रत्यय होकर ओ को अव् हो जाता है और पञ्चगवधन शब्द से प्रथमा मे एकवचन म 'पञ्चगवधन' रूप बनता है ।

१५१ तत्पुरुष इति—समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय सज्ञा होती है ।

समानाधिकरण का अर्थ है—समान है अधिकरण (आधार अथवा अभिधेय) जिनका । जहाँ पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनो समान अर्थात् एक वस्तु के लिये ही आते हैं, वह तत्पुरुष समानाधिकरण कहलाता है, जैसे— नीलमुत्पलम्'—नील च तद् उत्पलम् (नीला है जो उत्पल)—यहाँ नीलम्' तथा 'उत्पलम्' एक ही वस्तु को प्रकट करते हैं तथा पूर्वपद और उत्तरपद विग्रह म समान विभक्ति वाले ही होते हैं ।

१५२. सख्यापूर्व इति—'तद्धितार्थ०' इस सूत्र म उक्त तीन प्रकार के समास मे यदि पूर्वपद सख्यावाची होता है तो वह द्विगु समास कहलाता है ।

१५३. द्विगुरिति—द्विगु समास का अर्थ समाहार (समुदाय) एकवचन मे, होता है ।

१५४ स इति—समाहार मे द्विगु और द्वन्द्व समास नपुसकलिङ्ग होते हैं ।

पञ्चगवम्—'पञ्चाना गवा समाहार' (पाँच गायो का समुदाय)—इस लौकिक विग्रह मे 'पञ्चन् आम् गो आम्' इस अलौकिक विग्रह मे 'तद्धितार्थ०' से समाहार अर्थ मे समास होता है। सुप् का लुक् होकर 'पञ्चन् गो' इस अवस्था मे 'न' लोप तथा समासान्त टच् प्रत्यय (गोरतद्धितलुकि) होकर–पञ्चगो + अ (टच्) ओकार को अव् आदेश होकर→पञ्चगव बन जाता है । द्विगु सज्ञा होने से एकवचन तथा नपुसकलिङ्ग होकर प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे 'पञ्चगवम्' रूप होता है ।

१५५. विशेषणम् इति—विशेषण का समानाधिकरण विशेष्य के साथ बहुलता से समास होता है और वह कर्मधारय समास कहलाता है ।

विशेषण का अर्थ है—भेदक, जो समान वस्तुओ मे भेद करता है, जैसे—'कृष्णा गौ' यहाँ 'कृष्ण' शब्द गौ' को अन्य (श्वेतादि) गायो से भिन्न रूप मे बतलाता

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्—कृष्णसर्पः। क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः।

१५६। उपमानानि सामान्यवचनैः ।२।१।५५॥

घन इव श्यामो घनश्यामः।

***(वा) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम् ॥**

है। जिसकी विशेषता (भेद) बतलाई जाती है वह विशेष्य या भेद्य कहा जाता है; जैसे ऊपर के उदाहरण मे 'गौ' विशेष्य है।

नीलोत्पलम्—'नीलम् उत्पलम्' (नीला कमल)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'नील सु उत्पल सु' इस अलौकिक विग्रह में। विशेषण (नीलम्) और विशेष्य (उत्पलम्) का समास होता है। इसमें विशेषणवाची शब्द का पूर्व निपात होता है (वही समास-शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट है—विशेषणम्' इति।) शेष पूर्ववत्।

बहुलग्रहणाद् इति—सूत्र में 'बहुल' शब्द के ग्रहण से कहीं-कहीं यह समास नित्य भी हो जाता है। 'बहुल' शब्द का अर्थ है 'बहून्' अर्थात् लाति' (जो बहुत से अर्थों को प्राप्त कराता है)। इसके प्रयोग से चार प्रकार के अर्थ आ जाते हैं* (१) कहीं कोई नियम (नित्य) लग जाता है। (२) कहीं बिल्कुल नहीं लगता। (३) कहीं विकल्प से लगता है। (४) कहीं कुछ अन्य (सूत्र से अप्राप्त) कार्य भी कर देता है।

कृष्णसर्पः—(काला साँप) 'कृष्ण सु सर्प सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समास (कर्मधारय) होता है। यहाँ (बाहुलकात्) यह समास नित्य ही होता है। 'कृष्णसर्प' नाम की साँपों की जातिविशेष है उसके लिये 'कृष्णः सर्पः' ऐसा विग्रह वाक्य प्रयुक्त नहीं होता।

रामो जामदग्न्यः—बहुल ग्रहण करने से ही यहाँ उपर्युक्त नियम से समास नहीं होता है (क्वचिद् अप्रवृत्तिः)।

१५६. उपमानानि—उपमानवाचक सुबन्तों का समानधर्मवाचक शब्दों के साथ समास होता है और वह कर्मधारय (तत्पुरुष) समास कहलाता है।

जिससे किसी की समता दिखलाई जाती है वह उपमान कहलाता है और जिस धर्म के कारण समानता दिखलाई जाती है वह सामान्यवचन या समानधर्म कहलाता है।

घनश्यामः—घन इव श्यामः (घन के समान श्याम) इस लौकिक विग्रह में तथा 'घन सु श्याम सु' इस अलौकिक विग्रह में प्रस्तुत सूत्र से उपमानवाचक 'घन' शब्द का समानधर्मवाचक 'श्याम' शब्द के साथ समास होता है।

---

*क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः ।

१५७। नञ् ।२।२।६॥

नञ् सुपा सह समस्यते ।

१५८। नलोपो नञः ।६।३।७२॥

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे । न ब्राह्मणः अब्राह्मणः ।

१५९। तस्मान्नुडचि ।६।३।७४॥

यहाँ लौकिक विग्रह में 'इव' द्वारा यह प्रकट होता है कि 'घन' शब्द लक्षणा द्वारा घनसदृश को कहता है। इसलिये घन शब्द का 'श्याम' के साथ सामानाधिकरण्य है।

शाकेति (वा)—शाकपार्थिव आदि समासों की सिद्धि के लिये उत्तरपद का लोप भी हो जाता है।

शाकपार्थिव—शाकप्रिय पार्थिव (शाक में रुचि रखने वाला राजा)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'शाकप्रिय सु पार्थिव सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समास होकर उपर्युक्त वार्तिक से शाकप्रिय के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'देवपूजको ब्राह्मण' में 'पूजक' शब्द का लोप होकर 'देवब्राह्मण' शब्द बनता है।

१५७ नञ्—नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष (नञ् तत्पुरुष) समास कहलाता है।

१५८ नलोप इति—नञ् के न का लोप हो जाता है उत्तरपद परे होने पर।

अब्राह्मण—न ब्राह्मण (ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न और ब्राह्मणसदृश)—इस लौकिक विग्रह में नञ् का 'ब्राह्मण' के साथ समास होता है। 'न्' का लोप होकर अ+ब्राह्मण→अब्राह्मण रूप होता है।

१५९, तस्माद् इति—जिस नञ् के नकार का लोप हुआ हो उससे परे अजादि उत्तरपद हो तो उसे नुट् का आगम हो जाता है।

'नुट्' में ट् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। उकार उच्चारण के लिये है। अतः 'न्' शेष रहता है और वह उत्तरपद के आदि में रखा जाता है।

अनश्व—न अश्व (ऐसा प्राणी जो अश्व न हो)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'न अश्व सु' इस अलौकिक विग्रह में नञ् समास होकर न् का लोप हो जाता है। 'अ+अश्व' इस अवस्था में उपर्युक्त नियम के अनुसार नुट् का आगम होकर अ+न्+अश्व→अनश्व समस्त पद होता है। इससे प्र० एक० में अनश्वः।

नैकधा—न एकधा इस विग्रह में 'न' शब्द के साथ 'एकधा' शब्द का 'सुप् सुपा' से समास होता है। यह 'केवल समास' के अन्तर्गत होगा, नञ्तत्पुरुष समास में नहीं : 'नञ्' का 'एकधा' के साथ नञ्तत्पुरुष समास होकर तो न लोप, नुट् का

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात्। अनश्वः। नैकधे-त्यादौ तु नशब्देन सह 'सुप् सुपे' ति समासः।

१६०। कुगतिप्रादयः।२।२।१८॥

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः।

१६१। ऊर्यादिच्विडाचश्च।१।४।६१॥

ऊर्यादयः च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः।

***(वा) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया।**

आगम होकर 'अनेकधा रूप बनेगा। इस प्रकार न तथा नञ् दो भिन्न-भिन्न अव्यय हैं, यह भी ध्यान देने योग्य है।

१६०. कुगतीति—कु, गतिसंज्ञक शब्द तथा प्र आदि का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

कुपुरुषः—कुत्सितः पुरुषः (बुरा मनुष्य) इस लौकिक विग्रह में तथा 'कु पुरुष सु' इस अलौकिक विग्रह में 'कु' अव्यय का 'पुरुषः' सुवन्त के साथ समास होता है।

१६१. ऊर्यादीति—ऊरी, आदि शब्द, च्वि प्रत्ययान्त तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं।

टिप्पणी—(१) ऊरी, उररी आदि शब्द गणपाठ में पढ़े गये हैं।

(२) जो वस्तु जैसी पहले न हो उसके वैसी होने के अर्थ में (अभूततद्भावे) 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः ५।४।५०॥ इस सूत्र से 'च्वि' प्रत्यय होता है। समस्त 'च्वि' प्रत्यय का ही लोप हो जाता है और पहले 'अ' को 'ई' होकर 'शुक्लीकरोति' या शुक्लीभवति आदि रूप होते हैं।

(३) अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ धातु के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है जैसे कोई 'पटत्' ऐसी ध्वनि करता है तो—'पटत् इति करोति' इस अर्थ में 'डाच्' प्रत्यय होने पर 'पटत् + डाच् + करोति' इस दशा में पटत् को द्वित्व (डाचि बहुलं द्वे भवतः) होकर 'पटत् पटत् + आ + करोति' तथा दूसरे 'पटत्' के, 'अत् का लोप होकर और पहले पटत् के 'त्' को पररूप (अर्थात् त् + प = प) होकर पटपटाकरोति' रूप होता है।

ऊरीकृत्य—स्वीकृत्य (स्वीकार करके)—यहाँ 'कृ' के योग में 'ऊरी' शब्द की गति संज्ञा होकर, 'कुगतिप्रादयः' से समास होता है। समास होने से 'क्त्वा' प्रत्यय' को 'ल्यप्' (समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्) हो जाता है। ऊरी + कृ + य (ल्यप्) इस अवस्था में 'कृ' से परे तुक् (त्) का आगम होकर 'ऊरीकृत्य अव्यय शब्द होता है।

शुक्लीकृत्य—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा (जो श्वेत नहीं उसे श्वेत करके)—इस अर्थ

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।

*(वा) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥

अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

१६२ । एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ।१।२।४४।

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः ॥

मे च्विप्रत्ययान्त 'शुक्ली' शब्द की 'कृत्वा' के योग में गति संज्ञा होकर समास होता है तथा क्त्वा को ल्यप् होकर पूर्ववत् 'शुक्लीकृत्य' रूप बन जाता है।

पटपटाकृत्य—पटत् इति कृत्वा (पटपट करके)—इस अर्थ में डाच् प्रत्ययान्त 'पटपटा' शब्द की 'कृत्वा' के योग में गति संज्ञा होकर समास हो जाता है तथा क्त्वा को 'ल्यप्' आदेश होकर 'पटपटाकृत्य' रूप होता है।

यहाँ सर्वत्र गति संज्ञा का फल समास होना है तथा समास होने से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है।

सुपुरुषः—शोभनः पुरुषः (अच्छा मनुष्य)—इस विग्रह में 'सु' (प्रादि) का 'पुरुष' सुबन्त के नित्य 'कुगतिप्रादयः' से समास होकर रूप बनता है।

टिप्पणी—'प्र' 'परा' आदि (प्रादि) की क्रिया के योग में ही गति संज्ञा होती है 'सुपुरुषः' का 'सु' का क्रिया से योग नहीं अतः इसकी गति संज्ञा नहीं होती। ऐसे उदाहरणों के लिये ही सूत्र में गति से पृथक् प्रादि का ग्रहण किया गया है।

प्र आदि का समास प्रादि समास होता है। किस प्र आदि का किस विभक्त्यन्त के साथ किस अर्थ में समास होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'प्रादयो गताद्यर्थे०' इत्यादि पाँच वार्तिक पढ़े गये हैं।

प्रादय इति (वा)—'प्र' आदि का 'गत' आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ समास होता है।

प्राचार्यः—'प्रगतः आचार्यः' (प्रकृष्ट आचार्य)—इस विग्रह में 'प्र' का 'आचार्य' के साथ समास होता है। यह समास प्रादि-तत्पुरुष समास कहलाता है।

अत्यादय इति (वा)—'अति' आदि का 'क्रान्त' आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ समास होता है।

अतिक्रान्तो मालाम् इस विग्रह में—

१६२ एक विभक्तीति—विग्रह में जिस पद की एक अर्थात् नियत विभक्ति रहती है, उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है, किन्तु उसका पूर्व निपात नहीं होता।

टिप्पणी—'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से जो उपसर्जन संज्ञा की गई थी, वह समास में पूर्वनिपात के लिये की गई थी, किन्तु यहाँ अन्य कार्य के लिये उपसर्जन संज्ञा की गई है, जिसका निर्देश आगे किया जा रहा है।

१६३। गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ।१।२।४८॥

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः ।

***(वा) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥**

अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ।

***(वा) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥**

परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः॥

***(वा) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥**

निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः ।

---

१६३. **गोस्त्रियोरिति**—उपसर्जनसंज्ञक जो गो शब्द अथवा स्त्री प्रत्ययान्त शब्द; जिसके अन्त में हो (तदन्त) उस प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है । यहाँ अतिक्रान्तो मालाम्, 'अतिक्रान्तं मालाम्, 'अतिक्रान्तेन मालाम्' इत्यादि विभन्नि विभक्तिय के विग्रह में 'मालाम्' शब्द नियत विभिक्त वाला अर्थात् द्वितीया विभक्ति वाला ही रहता है, अतएव यह नियत विभक्ति वाला है । इसकी उपसर्जन संज्ञा हो जाती है और इसे ह्रस्व होता है ।

अतिमालः—'अतिक्रान्तो मालाम्' (अतिक्रमण कर गया माला को)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अति माला अम्' इस अलौकिक विग्रह में 'अति' शब्द की 'प्रथमानिर्दिष्ट०' आदि से उपसर्जन संज्ञा होती है तथा उसका पूर्वप्रयोग होता है । सुप् का लोप होकर फिर 'अतिमाला' इस दशा में माला शब्द की 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से उपसर्जन संज्ञा होकर 'आ' को ह्रस्व (अ) हो जाता है । इस प्रकार 'अतिमाल' समस्त पद से प्रथमा के एक० में अतिमालः रूप होता है ।

अवादय इति—(वा)—अव आदि का क्रुष्ट आदि अर्थ में तृतीयान्त के साथ समास होता है ।

अवकोकिलः—अवक्रुष्टः कोकिलया (कोकिल द्वारा कूजित)—इस विग्रह में 'अव' का 'कोकिलया' के साथ समास होता है । अव का पूर्व प्रयोग और सुप् का लुक् हो जाता है । 'कोकिला' की उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व हो जाता है और 'अवकोकिलः' रूप बनता है ।

पर्यादय इति (वा)—परि आदि का ग्लान आदि अर्थ में चतुर्थ्यन्त के साथ समास होता है ।

पर्यध्ययनः—'परिग्लानोऽध्ययनाय' (पढ़ने से थका हुआ)—इस विग्रह में 'परि' का चतुर्थ्यन्त 'अध्ययनाय' के साथ समास होता है ।

निरादय इति (वा)—निर् आदि का निष्क्रान्त आदि के अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है ।

१६४। तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ।३।१।९२॥

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् ।

१६५। उपपदमतिङ् ।२।२।१९॥

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत्। माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपीत्यादि।

निष्कौशाम्बि—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः (कौशाम्बी से निकला हुआ)—इस विग्रह मे 'निर्' शब्द का निष्क्रान्त अर्थ मे पञ्चम्यन्त 'कौशाम्ब्याः' के साथ समास होता है तथा 'कौशाम्बी' की पूर्ववत् उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व हो जाता है।

१६४ तत्रेति—सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि मे वाच्य रूप मे स्थित जो कुम्भ (घडा) आदि है उसका वाचक शब्द उपपदसंज्ञक होता है। जैसे—

'कर्मण्यण्' (कर्मणि+अण्) आदि सूत्र मे सप्तम्यन्त पद है—'कर्मणि'। उसके वाच्य रूप मे स्थित है—कुम्भ आदि वस्तु, क्योंकि 'कुम्भं करोति' (घडे को बनाता है) इत्यादि मे 'कुम्भ' की कर्म संज्ञा होती है। इस प्रकार घडे के वाचक 'कुम्भम्' शब्द की उपपद संज्ञा होगी।

उपपदमिति—सुबन्त उपपद का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और यह समास तिङन्त नही होता। भाव यह है कि तिङन्त के साथ समास नही होता।

कुम्भकारः—'कुम्भं करोति' इस लौकिक विग्रह मे तथा 'कुम्भ ङस् कार' इस अलौकिक विग्रह मे 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यादि परिभाषा के अनुसार उत्तरपद मे सुप् के आने से पहिले ही "उपपदमतिङ्" से समास होकर 'कुम्भकार' शब्द होता है। उससे प्रथमा एक० मे कुम्भकारः।

टिप्पणी—कुम्भं करोति इस अर्थ मे 'कुम्भ' रूप कर्म के उपपद होने पर 'कृ' धातु से अण् (कर्मण्यण्) प्रत्यय होकर कुम्भ+कृ+अण् कृ के ऋ को 'अचोऽञ्णिति' से वृद्धि 'आर्' होकर कुम्भ+कार्+अ→कुम्भकार शब्द बनता है उसी की प्रक्रिया के अन्तर्गत यह उपपद समास होता है। 'उपपद' समास नित्य समास होता है। भाव यह है कि बिना उपपद के 'अण्' आदि प्रत्यय ही नही होते 'कार' आदि का अकेले प्रयोग नही होता।

१६६ । तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः ५।४।८६॥

अतिङ्इति—उपपदसमास तिङन्त से नहीं होता, अतएव, मा "भवान् भूत्" में 'मा' का भूत् के साथ समास नहीं हुआ । यहाँ 'मा' शब्द उपपद है क्योंकि 'माङि लुङ्' इस सूत्र में 'माङि' यह सप्तम्यन्त है । 'भूत्' (लुङ्) शब्द तिङन्त है इसी से यहाँ समास नहीं हुआ ।

गतिकारकेति—(प०) गति, कारक और उपपद का कृदन्त के साथ सुप् के आने से पहले समास हो जाता है ।

व्याघ्री=व्याजिघ्रति (विशेप रूप से चारों ओर सूंघती है)—इस विग्रह में वि आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे) होता है । व्या + घ्रा + अ (क) यहाँ 'घ्रा' के आ का लोप होकर व्या + घ्र इस दशा में 'घ्र' से परे सुप् आने से पहले ही गति समास हो जाता है । अब व्याघ्र शब्द जातिवाचक है । इसलिये 'जातेरस्त्रीविपयादयोपधात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर 'व्याघ्री' शब्द वनता है ।

यदि यहाँ सुप् होने के पश्चात् समास होता तो सुप् के आने से पहिले 'घ्र' शब्द से लिङ्गबोधक प्रत्यय होना आवश्यक था, क्योंकि लिङ्गबोधक प्रत्यय के पश्चात् ही कारक विभक्ति (सुप्) होती है केवल 'घ्र' शब्द जातिवाचक नहीं है अतः इससे 'ङीप् नहीं होता, अपितु 'टाप्' प्रत्यय होता इस प्रकार 'व्याघ्री इष्ट रूप नहीं वनता ।

अश्वक्रीती—'अश्वेन क्रीता' (अश्व के द्वारा खरीदी गई)—इस विग्रह में उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'कर्तृकरणे कृता वहुलम्' इस सूत्र से अश्व शब्द का क्रीत शब्द के साथ सुप् के आने से पहले ही समास हो जाता है । तब 'क्रीतात् करणपूर्वात्' ४।१।५० से ङीप्' होकर 'अश्वक्रीती' शब्द वनता है ।

यदि यहाँ 'सुप्' आने के पश्चात् समास होता तो पहले 'टाप्' प्रत्यय हो जाता और फिर अकारान्त न होने से 'क्रीतात्०' ङीप् नही होता ।

कच्छपी—'कच्छेन पिवति' (कच्छ से पीती है, कछुवी)—इस विग्रह में सुवन्त 'कच्छ शब्द उपपद होने पर 'पा' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'कच्छ पा + अ (क) इस दशा में 'पा' के आ का लोप हो जाता है । फिर उत्तरपद में सुप् के आने से पहले ही कच्छ शब्द का प' के साथ समास हो जाता है । इस प्रकार 'कच्छप' शब्द जातिवाचक है, अतः जातिवाची शब्दों से होने वाला ङीप् प्रत्यय होता है ।

यदि यहाँ सुप् आने के पश्चात् समास होता तो सुप् से पहले 'टाप्' हो जाता और फिर ङीप नहीं होता ।

१६६. तत्पुरुषस्येति—जिस तत्पुरुष के आदि में संख्यावाचक या अव्यय शब्द हो और अन्त में अङ्गुलि शब्द हो उससे समासान्त अच् प्रत्यय होता है ।

द्व्यङ्गुलम्—द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य (दो अंगुली है माप इसका)—

सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् ।

१६७ । अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ।५।४।८७॥

एभ्यो रात्रेरच् स्याच्चात्सङ्ख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

१६८ । रात्राह्नाहाः पुंसि ।२।४।२९॥

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सङ्ख्यातरात्रः ।

इस विग्रह में (तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च) तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास होता है। यहाँ प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय होता है जिसका लोप हो जाता है। इस प्रकार 'द्वि अङ्गुलि' शब्द में समासान्त अच् प्रत्यय होकर 'लि' के इ का लोप (यस्येति च) हो जाता है। तब द्व्यङ्गुल शब्द से नपुं० प्रथमा के एकवचन में 'द्व्यङ्गुलम्' रूप बनता है।

निरङ्गुलम्— निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः' (अंगुलियों से निकाला हुआ)—इस विग्रह में निर् का अङ्गुलि के साथ निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' से प्रादि समास होता है तथा समासान्त अच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'निरङ्गुलम्' रूप बनता है।

१६७ अहरिति—अहन् सर्व, एकदेश (एक अंश), संख्यात, पुण्य तथा संख्यावाची और अव्यय से पर 'रात्रि' शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

अहर्ग्रहणमिति—उपर्युक्त सूत्र में 'अहन्' शब्द का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिये है अर्थात् अहन् और रात्रि के द्वन्द्व समास में अच् प्रत्यय होता है, इन दोनों का तत्पुरुष समास नहीं होता है।

१६८ रात्रेति—रात्र, अह्न और अह—ये शब्द जिस द्वन्द्व और तत्पुरुष के अन्त में हों वे पुंलिङ्ग में ही होते हैं।

अहोरात्र—'अहश्च रात्रिश्च अनयोः समाहारः' (दिन और रात का समुदाय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अहन् सु रात्रि सु' इस अलौकिक विग्रह में द्वन्द्व समास होता है। सुप् लोप होकर न् को रु[1] तथा उत्व[2] होकर 'अहोरात्रि और समासान्त अच् प्रत्यय, इ का लोप तथा उपर्युक्त सूत्र के अनुसार पुंलिङ्ग होकर 'अहोरात्र' रूप बनता है।

सर्वरात्र—'सर्वा रात्रिः' अथवा 'सर्वा चासौ रात्रिश्च' (सारी रात)—इस विग्रह में 'सर्वा' शब्द का रात्रि' शब्द के साथ तत्पुरुष समास होता है। 'सर्वा' शब्द को पुंवद्भाव (पुंलिङ्ग के समान रूप) होकर तथा सर्वरात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'सर्वरात्र' रूप बनता है।

संख्यातरात्र—संख्याता रात्रिः अथवा संख्याता चासौ रात्रिश्च (गिनी हुई रात) इस विग्रह में 'सर्वरात्र' के समान तत्पुरुष समास होता है।

---

१ अहन् ८।२।६८। २ हशि च ६।१।११४॥

*(वा) संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् ।

द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

१६९ । राजाहःसखिभ्यष्टच् ।५।४।९१॥

एतदन्तात्तत्पुरुषात् टच् स्यात् । परमराजः ।

१७० । आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ।६।३।४६॥

टिप्पणी—एकदेश का उदाहरण 'पूर्वरात्रः' (पूर्वं रात्रेः अर्थात् रात्रि का पूर्व भाग) है । यहाँ भी सर्वरात्रः के समान कार्य होता है ।

संख्येति (वा)—संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है ।

द्विरात्रम्—द्वयोः रात्र्योः समाहारः (दो रात्रियों का समुदाय)—इस विग्रह में द्वि शब्द का रात्रि शब्द के साथ (तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च) समाहार अर्थ में द्विगु समास होता है । समासान्त अच् प्रत्यय होकर तथा उपर्युक्त वार्त्तिक के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होकर 'द्विरात्रम्' शब्द बनता है ।

त्रिरात्रम्—तिसृणां रात्रीणां समाहारः (तीन रात्रियों का समुदाय), 'द्विरात्रम्' के समान ।

१६९. **राजेति**—जिस तत्पुरुष के अन्त में राजा, अहन् या सखि शब्द होता है उसके समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

परमराजः—परमश्चासौ राजा च (बड़ा राजा या अच्छा राजा)—इस विग्रह में परम शब्द का राजन् शब्द के साथ (विशेषण विशेष्य का) कर्मधारय तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त नियम के अनुसार समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर 'परम राजन्+अ (टच्)' इस दशा में अन् १ का लोप हो जाता है । परमराज शब्द से प्र० एक० में परमराजः ।

टिप्पणी—समासान्त टच् प्रत्यय होकर ही धर्मराजः, भोजराजः आदि राजन् शब्दान्त, परमाहः, उत्तमाहः (श्रेष्ठ दिन) आदि अहन् शब्दान्त तथा राजसखः, ब्राह्मणसखः आदि सखिशब्दान्त समस्त पद बनते हैं ।

१७०. **आन्महतः इति**—महत् शब्द के अन्त अर्थात् 'त्' को आकार आदेश हो जाता है समानाधिकरण उत्तरपद तथा जातीय (जातीयर्) प्रत्यय परे होने पर ।

महाराजः—महान् च असौ राजा च, इस लौकिक विग्रह में तथा 'महत् सु राजन् सु, इस अलौकिक विग्रह में महत् को समानाधिकरण 'राजन्' शब्द परे होने पर आकार अन्तादेश होता है । शेष 'परमराज' के समान ।

---

१. नस्तद्धिते '६।४।१४४॥

महत आकारोऽन्तादेश स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराज । प्रकारवचने जातीयर् । महाप्रकारो महाजातीय ।

१७१ । द्वयष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो. ।६।३।४७।।

आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशति ।

१७२ त्रेस्त्रय. ।६।३।४८।।

इसी प्रकार महादेव, महावीर, महापुरुष, महायुद्धम् इत्यादि ।

महती सेना महासेना,महादेवी, महानदी आदि शब्दों में भी 'महती' का पुंल्लिङ्ग के समान (पुवद्भाव) होकर महत् शब्द हो जाता है और त् को आ होकर 'महा' ।

महाजातीय —महाप्रकार (बड़े ढङ्ग का)—इस अर्थ में 'प्रकारवचने जातीयर्' सूत्र से महत् शब्द से जातीयर्' प्रत्यय होता है । उपर्युक्त नियम से 'महत्' के अन्त को आकार होकर 'महाजातीय ' रूप बनता है ।

टिप्पणी—(१) 'महाजातीय ' तद्धितान्त शब्द है समस्त पद नहीं । यहाँ ऊपर के सूत्र से महत् के त् को आ होता है इसी से वहाँ उदाहरण दिया गया है ।

(२) समानाधिकरण उत्तरपद परे होने पर ही यह 'आत्व' होता है । अत महत सेवा=महत्सेवा इस षष्ठी समास में आत्व नहीं होता । महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहुः इस समानाधिकरण बहुव्रीहि में आत्व होता ही है ।

१७१ द्वयष्टन इति—द्वि और अष्टन् शब्द के अन्त को आकार (आदेश) होता है सङ्ख्यावाची उत्तरपद परे होने पर, किन्तु बहुव्रीहि समास में तथा 'अशीति' शब्द परे रहते नहीं होता ।

द्वादश—द्वौ च दश च (दो और दश अर्थात् बारह)—इस विग्रह में द्वि शब्द का दशन् शब्द के साथ द्वन्द्व समास होता है । उपर्युक्त नियम के अनुसार द्वि को आकार अन्तादेश होकर 'द्वादशन्' समस्त शब्द बनता है । इससे प्रथमा के एकवचन में 'सु' उसका लोप तथा 'न्' का लोप होकर 'द्वादश' रूप बनता है ।

अष्टाविंशतिः—अष्टौ च विंशतिश्च (आठ और बीस अर्थात् अट्ठाइस—यहाँ 'अष्टन्' शब्द का विंशति के साथ द्वन्द्व समास होता है यथा अष्टन् के अन्त को आकार हो जाता है ।

१७२ त्रेरिति—त्रि शब्द को 'त्रयस्' (आदेश) हो जाता है सङ्ख्यावाची उत्तर-पद परे रहते किन्तु बहुव्रीहि में तथा अशीति शब्द परे रहते नहीं होता ।

त्रयोदश—त्रयश्च दश च (तीन और दश अर्थात् तेरह)—इस विग्रह में 'त्रि' शब्द का 'दशन्' शब्द के साथ द्वन्द्व समास होकर त्रि को 'त्रयस्' हो जाता है । 'त्रयस्

त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् ।

१७३ । परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ।२।४।२६।।

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली ।

*** (वा) द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः ।।**

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः ।

१७४ । प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ।२।२।४।।

एतौ समस्येते अकारश्चानयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः ।

+दशन्' यहाँ 'स' को रु तथा उ होकर त्रयोदश रूप होता है । इसी प्रकार 'त्रयश्च विंशतिश्च'→'त्रयोविंशतिः' और त्रयश्च त्रिंशत् च'→'त्रयस्त्रिंशत्' रूप होते हैं ।

१७३. परवद् इति—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है ।

कुक्कुटमयूर्यौ इमे—कुक्कुटश्च मयूरी च (मुर्गा और मोरनी)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है । इसका परपद 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है तथा द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है, अतएव समस्त पद उपर्युक्त नियम के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में है । इसी स्त्रीलिङ्ग को 'इमे' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग स्पष्ट करता है ।

मयूरीकुक्कुटौ इमौ—मयूरी च कुक्कुटश्च (मयूरी और मुर्गा)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है । यहाँ परपद 'कुक्कुट' पुँल्लिङ्ग है अतएव समस्त पद पुँल्लिङ्ग में होता है । 'इमौ' इसी पुँल्लिङ्ग को प्रकट करता है ।

अर्धपिप्पली—अर्धं पिप्पल्याः (पिप्पली का अर्ध भाग)—यहाँ तत्पुरुष समास है । परपद पिप्पली स्त्रीलिङ्ग है अतएव समस्त पद स्त्रीलिङ्ग होता है ।

द्विगुप्राप्तेति (वा)—द्विगु समास और जिस समास में प्राप्त, आपन्न तथा अलम् शब्द पूर्व में (पूर्वपद) हैं एवं गति समास, इनमें परपद के समान लिङ्ग नहीं होता ।

पञ्चकपालः पुरोडाशः—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः (पाँच कपालों में संस्कृत)—इस विग्रह में तद्धितार्थ में द्विगु समास होता है । यहाँ परपद 'कपाल' नपुंसकलिङ्ग है किन्तु उसके अनुसार समस्त पद नपुंसकलिङ्ग में नही होता अपितु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है । यहाँ 'पुरोडाश' (विशेष्य) पुँल्लिङ्ग है अतएव समस्त पद पुँल्लिङ्ग में है ।

१७४. प्राप्तापन्ने च द्वितीययेति—प्राप्त और आपन्न शब्दों का द्वितीयान्त के साथ समास होता है और इनके अन्त को 'अकार' (आदेश) हो जाता है ।

आपन्नजीविक । अलङ्कुमार्यै अलङ्कुमारि.। अत एव ज्ञापकात्समास.। निष्कौशाम्बि.।

प्राप्तजीविक —प्राप्तो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त हुआ)—इस विग्रह में 'प्राप्त' शब्द का 'जीविका' द्वितीयान्त के साथ तत्पुरुष समास होता है। जीविका शब्द की उपसर्जन[1] संज्ञा होकर 'आ' को ह्रस्व हो जाता है।[2] यहाँ परपद 'जीविका' स्त्रीलिङ्ग है किन्तु इसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता, अपितु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।

टिप्पणी—'प्राप्ता जीविकाम्' स्त्री इस विग्रह में 'प्राप्तजीविका' यह समस्त पद होता है। यहाँ सूत्र के अर्थ (वृत्ति) में कहा हुआ 'प्राप्ता' शब्द को अकार अन्तादेश होता है।

आपन्नजीविक —आपन्नो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त हुआ)—इस विग्रह में 'प्राप्तजीविक' के समान समस्त कार्य होता है।

टिप्पणी—यहाँ पक्ष में 'द्वितीया श्रिता' १३५ इससे समास होता है तथा 'जीविकाप्राप्त' और 'जीविकापन्न' शब्द भी होते हैं।

अलङ्कुमारि —'अलं कुमार्यै' (कुमारी के लिये योग्य)—इस विग्रह में तत्पुरुष समास होता है। कुमारी की उपसर्जन संज्ञा होकर ई को ह्रस्व हो जाता है। यहाँ परपद 'कुमारी' स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु उसके समान समस्त पद का लिङ्ग नहीं होता अपितु विशेष्य के अनुसार होता है। अतः 'अलङ्कुमारि' पुंल्लिङ्ग है।

अतएवेति—उपर्युक्त वार्तिक में अलम् पूर्वक समास में परपद के समान लिङ्ग होने का निषेध किया गया है। इससे यह पता चलता है कि 'अलम्' का सुबन्त के साथ समास होता है।

काशिकाकार के मत में तो 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इस वार्तिक के अनुसार यहाँ समास होता है।

निष्कौशाम्बि —यहाँ परपद कौशाम्बी स्त्रीलिङ्ग है किन्तु उसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता अपितु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।

(देखिये पृष्ठ १०४)

टिप्पणी—निष्कौशाम्बि में प्रादि समास है। 'द्विगुप्राप्तापन्न०' इत्यादि वार्तिक में गतिसमास के साथ-साथ प्रादि समास का भी ग्रहण है। इसी से यह उदाहरण दिया गया है।

---

१. एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४।

२. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८।

१७५ । अर्धर्चाः पुंसि च ।२।४।३१॥

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः—अर्धर्चम् । एवं ध्वज-तीर्थशरीरमण्डपीयूषदेहाङ्कुशपात्रसूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् । इति तत्पुरुषः ॥३॥

अथ बहुव्रीहिसमासः ॥४॥

१७६ । शेषो बहुव्रीहिः ।२।२।२३॥

अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।

१७७ । अनेकमन्यपदार्थे ।२।२।२४॥

अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

---

१७५. अर्धर्चा इति—'अर्धर्च' इत्यादि शब्द पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसलिङ्ग (दोनों) में होते हैं ।

अर्धर्चः—अर्धर्चम्—'ऋचोऽर्धम्' (ऋचा का अर्धभाग)—इस विग्रह में अर्धं नपुंसकम् से तत्पुरुष समास होता है । समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर अर्ध + ऋच् + अ अर्धर्च समस्त पद बनता है। यहाँ परपद 'ऋच्' स्त्रीलिङ्ग है किन्तु उसके अनुसार समस्त पद का लिङ्ग नहीं होता अपितु पुँल्लिङ्ग और नपुँसक लिङ्ग दोनों होते हैं ।

एवमिति—इसी प्रकार ध्वज, तीर्थ शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अङ्कुश, पात्र सूत्र आदि दोनों लिङ्गों में होते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ समस्त पदों के लिङ्ग निर्देश के प्रकरण में अर्धर्चादि गण के कुछ शब्दों का लिङ्ग निर्देश कर दिया गया है । इनका समास प्रकरण में स्थान नहीं है ।

सामान्य इति—जहाँ लिङ्गविशेष का भाव नहीं होता, वह सामान्य है । सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग होता है, जैसे 'मृदु पचति' में 'मृदु' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । इसी प्रकार 'प्रातः कमनीयम्, यहाँ 'कमनीय' में सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग है ॥ इति तत्पुरुषः ॥

अथ बहुव्रीहिः । १७६. शेष इति—द्वन्द्व से पूर्व तक यह (बहुव्रीहि का) अधिकार है । शेष समास की बहुव्रीहि संज्ञा होती है । शेष का अर्थ है कहे हुए से बचा हुआ—'उक्तादन्यः शेषः' ।

१७७. अनेकम् इति—अन्यपद के अर्थ में विद्यमान अनेक प्रथमान्त पदों का विकल्प से समास होता है और वह बहुव्रीहि समास कहलाता है ।

१७८। सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ।२।२।३५॥

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

१७९। हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।६।३।९॥

हलन्ताद् अदन्ताच्च सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः।

प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः।

---

१७८ सप्तमीति—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग होता है।

एतएवेति—उपर्युक्त सूत्र में सप्तम्यन्त का बहुव्रीहि समास में पूर्वप्रयोग कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि भिन्न विभक्ति वाले पदों का बहुव्रीहि समास होता है, इसी को व्यधिकरण बहुव्रीहि समास कहते हैं। जहाँ सभी प्रथमान्त पदों का समास होता है वह समानाधिकरण बहुव्रीहि कहलाता है। इस प्रकार बहुव्रीहि समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण बहुव्रीहि, (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि। (१) विग्रह वाक्य में समानाधिकरण बहुव्रीहि के पद प्रथमा विभक्ति में रहते हैं जैसे प्राप्तम् उदकं यं स प्राप्तोदकः यहाँ 'प्राप्तम्' तथा 'उदकम्' दोनों प्रथमान्त हैं। यहाँ बहुव्रीहि द्वितीयार्थ में हुआ है (द्वितीयार्थे बहुव्रीहिः) जिसे 'यम्' शब्द द्वारा विग्रह में प्रकट किया जाता है। इसी प्रकार प्रथमा को छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि का विग्रह में एक पद प्रथमान्त होता है और दूसरा षष्ठी या सप्तमी विभक्ति में, जैसे कण्ठे कालः यस्य' (कण्ठेकालः) आदि।

१७९ हलदन्ताद इति—हलन्त तथा अकारान्त शब्द से परे वाली सप्तमी का लुक् (लोप) नहीं होता, संज्ञा के विषय में।

कण्ठेकालः—कण्ठे कालः यस्य सः (कण्ठ में है काला—काला चिह्न या विष—जिसके ऐसा, नीलकण्ठ महादेव) 'कण्ठ ङि काल सु' इस विग्रह में उपर्युक्त ज्ञापन से व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है। 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' से कण्ठे (सप्तम्यन्त) का पूर्व प्रयोग हो जाता है तथा उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी का लुक् नहीं होता। इस प्रकार प्रथमा के एक वचन में 'कण्ठेकालः' रूप होता है।

कण्ठेकालः—व्यधिकरण बहुव्रीहि का उदाहरण है। समानाधिकरण बहुव्रीहि के द्वितीयार्थ से लेकर सप्तम्यर्थ तक के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

प्राप्तोदको ग्रामः—'प्राप्तम् उदकं यं सः' (प्राप्त हुआ है अर्थात् पहुँच गया है जल जिसको ऐसा ग्राम)—इस विग्रह में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्राप्त तथा उदक

❀ (वा) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ।

प्रपतितपर्णः, प्रपर्णः ।

❀ (वा) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥

इन दो प्रथमान्त शब्दों का बहुव्रीहि १ समास होता है निष्ठान्त 'प्राप्त २ शब्द का पूर्व प्रयोग होकर प्राप्तोदक शब्द बनता है। उससे ग्रामः' (विशेष्य) के अनुसार पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्राप्तोदक. रूप होता है।

टिप्पणी—बहुव्रीहि समास प्रायः विशेषण होता है और उसमें लिङ्ग वचन आदि विशेष्य के अनुसार होते हैं।

ऊढरथोऽनड्वान्—'ऊढो रथो येन सः' (चलाया है रथ जिसने, ऐसा बैल)—इस विग्रह में तृतीया विभक्ति के अर्थ में ऊढ तथा रथ इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है।

उपहृतपशुः रुद्रः—'उपहृतः पशुः यस्मै सः' (उपहार किया गया है पशु जिसके लिये, ऐसा रुद्र)—इस विग्रह में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में उपहृत तथा पशु इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है।

उद्धृतौदना स्थाली—'उद्धृतम् ओदनं यस्याः सा' (निकाल लिया है भात जिससे ऐसी थाली या देगची)—इस विग्रह में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है।

पीताम्बरो हरिः—'पीतम् अम्बरं यस्य सः' (पीला है वस्त्र जिसका ऐसा हरिः)—इस विग्रह में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है।

वीरपुरुषकोग्रामः—'वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः' (वीर पुरुष हैं जिसमें, ऐसा ग्राम)—इस विग्रह में सप्तमी विभक्ति ने अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। यहाँ 'कप्' (क) समासान्त प्रत्यय है।

प्रादिभ्य इति (वा)—प्रादि से परे जो धातु से बना हुआ शब्द है, तदन्त का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और पूर्व भाग में जो उत्तरपद (अर्थात् धातुज शब्द) होता है उसका विकल्प से लोप होता है।

प्रपतितपर्णः, प्रपर्णः—'प्रपतितानि पर्णानि यस्मात्' सः (गिर गये हैं पत्ते जिससे ऐसा)। यह विग्रह है—यहाँ 'प्र' से परे धातुज शब्द 'पतित' है। तदन्त 'प्रपतित' शब्द है। इसका 'पर्ण' शब्द के साथ समास होता है। जब पतित शब्द (जो प्रपतित में उत्तरपद है) का लोप हो जाता है तो 'प्रपर्णः' अन्यथा 'प्रपतितपर्णः' इस प्रकार दो रूप हो जाते हैं।

नञ इति (वा)—नञ से परे जो विद्यमानता (अस्ति) अर्थ वाला पद, तदन्त का अन्य पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और विद्यमानता अर्थवाचक का विकल्प से लोप हो जाता है।

---

१. 'अनेकमन्यपदार्थे' २।२।२४॥

२. 'निष्ठा' २।२।३३॥ इस सूत्र से क्त-प्रत्ययान्त का पूर्व प्रयोग होता है।

अविद्यमानपुत्रः, अपुत्र ।

१८० । स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु । ६।३।३४॥

उक्तपुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिर्निपातनात्पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोऽभावो यत्र

अविद्यमानपुत्र , अपुत्र —'अविद्यमान पुत्रो यस्य स (नहीं है पुत्र जिसके ऐसा)—यह विग्रह है । यहाँ नञ् से परे अस्त्यर्थवाचक 'विद्यमान' शब्द है । अविद्यमान शब्द का पुत्र के साथ बहुव्रीहि समास होता है । जब विद्यमान शब्द का लोप हो जाता है तो 'अपुत्र' अन्यथा 'अविद्यमानपुत्र' इस प्रकार दो रूप बनते हैं ।

१८० स्त्रियाः इति—सूत्र में स्थित 'भाषितपुंस्कादनूङ्' एक समस्त पद है । जिसका अर्थ है—भाषितपुंस्क शब्द से परे जहाँ ऊङ् प्रत्यय नहीं है । यहाँ 'भाषितपुंस्कात्' शब्द में पञ्चमी विभक्ति का निपातन से लोप (लुक्) नहीं हुआ किन्तु 'अनूङ्' शब्द में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये थी उसका निपातन से ही लोप हो गया है । (यह समस्त पद 'स्त्रियाः' का विशेषण है) ।

'भाषितपुंस्कम्' शब्द का अर्थ है—उक्तपुंस्कम् अथवा तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यद् उक्तपुंस्कम् । भाषितपुंस्क वे शब्द हैं जिनका प्रयोग पुंलिङ्ग तथा अन्य लिङ्ग (स्त्रीलिंग या नपुंसकलिङ्ग) में भी होता और प्रवृत्तिनिमित्त भी दोनों लिङ्गों में समान होता है । प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है—प्रयोग का कारण अर्थात् जो शब्द समान निमित्त से पुंलिङ्ग तथा अन्य लिङ्ग में प्रयुक्त किया जाता है वह 'भाषितपुंस्क' कहलाता है, जैसे 'चित्रा' शब्द है । यह चित्रत्व के कारण पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।

सूत्र का अर्थ—प्रवृत्तिनिमित्त समान होने पर जो शब्द उक्तपुंस्क है और उससे परे ऊङ् प्रत्यय नहीं है, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंलिङ्गवाचक के समान रूप हो जाता है, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर, किन्तु पूरणी संख्या (प्रथमा आदि) और प्रिया आदि शब्द परे होने पर नहीं ।

चित्रगु —'चित्रा गौः यस्य' (चित्रा है गाय जिसकी)—इस लौकिक विग्रह में तथा चित्रा सु गो 'सु' इस अलौकिक विग्रह में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास[1] होता है । विभक्ति लोप होकर चित्रा + गो, इस दशा में समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग गो शब्द परे है तथा 'चित्रा' शब्द भाषितपुंस्क है अतः उपर्युक्त सूत्र से चित्रा को पुंवद्भाव होकर 'चित्र' हो जाता है तथा गो के ओ को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व (उ) होकर 'चित्रगु' शब्द बनता है । उससे प्र० एक० में 'चित्रगुः' ।

रूपवद्भार्य —'रूपवती भार्या यस्य' (रूप वाली है स्त्री जिसकी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । 'रूपवती' शब्द भाषितपुंस्क है । यहाँ समानाधिकरण

---

१. अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४।

तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम् ? वामोरूभार्यः। पूरण्यां तु--

१८१। अप्पूरणीप्रमाण्योः। ५।४।१६॥

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम् ? कल्याणीप्रिय इत्यादि।

स्त्रीलिङ्ग 'भार्या' शब्द उत्तरपद है अतः पुंवद्भाव होकर 'रूपवत्' हो जाता है तथा भार्या के आ को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व होता है। इस प्रकार 'रूपवद्भार्यः' शब्द बनता है।

अनूङ् किमिति—सूत्र में 'अनूङ्' क्यों कहा ? इसलिये कि जिस शब्द से परे 'ऊङ्' प्रत्यय होता है उसे पुंवद्भाव नही होता, अतः 'वामोरूभार्यः' में 'वामोरू' शब्द के स्थान पर 'वामोरु' नही होता। यहाँ पर वामोरू शब्द में (वाम+ऊरु+ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय[1] हुआ है)।

१८१. अप् इति—पूरणार्थक प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तदन्त तथा प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय होता है।

कल्याणीपञ्चमा रात्रयः—'कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः' [कल्याणमय है पाँचवी (रात्रि) जिन रात्रियों में]—इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। यहाँ उत्तरपद 'पञ्चमी' शब्द पूरणी संख्या है अतः 'स्त्रियाः पुंवद्०' सूत्र में 'अपूरणी' निषेध होने से पुंवद्भाव नही होता। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय होकर अन्त में ई का लोप (यस्येति च) हो जाता है। 'कल्याणीपञ्चम' शब्द से टाप् होकर प्रथमा बहु० में 'कल्याणीपञ्चमाः' रूप होता है।

स्त्रीप्रमाणः—'स्त्री प्रमाणी यस्य' (स्त्री है प्रमाण जिसका)—इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। उपर्युक्त सूत्रानुसार समासान्त 'अप्' प्रत्यय होकर 'ई' का लोप हो जाता है तथा प्रथमा एकवचन मे 'स्त्रीप्रमाणः' रूप होता है।

अप्रियादिष्विति—'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' आदि सूत्र में 'अप्रियादिषु' अर्थात् 'प्रिया' आदि शब्द परे होने पर पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता, यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'कल्याणीप्रियः' (कल्याणी प्रिया यस्य सः)—यहाँ प्रिया शब्द परे होने पर 'कल्याणी' शब्द को पुंवद्भाव नही होता।

---

१. संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०।

१८२। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् । ५।४।११३॥

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात् । दीर्घसक्थ । जलजाक्षी । स्वाङ्गात्किम ? दीर्घसक्थि शकटम् । स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः । 'अक्ष्णोऽदर्शनाद्' ५।४।७६। इति वक्ष्यमाणोऽच् ।

१८३। द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः । ५।४।११५॥

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।

१८४। अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः । ५।४।११७॥

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ।

---

१८२ बहुव्रीहाविति—जिसके अन्त में स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्द हों ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय होता है । (षच् में 'अ' शेष रहता है, षकार और चकार इत्संज्ञक हैं, 'षित्' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' ४।१।४१। से ङीष् प्रत्यय हो जाता है) ।

दीर्घसक्थ—दीर्घे सक्थिनी यस्य सः (बड़े हैं ऊरु जिसके)—इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त षच् (अ) प्रत्यय होकर 'दीर्घ+सक्थि+अ' इस अवस्था में 'यस्येति च' से 'इ' का लोप होकर 'दीर्घसक्थ' रूप होता है ।

जलजाक्षी—जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा (कमल के समान हैं आँखें जिसकी) —इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है । समासान्त षच् प्रत्यय तथा 'इ' का लोप होकर 'जलजाक्ष' शब्द बनता है । इसमें स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'जलजाक्षी' बन जाता है ।

स्वाङ्गात् किमिति—स्वाङ्ग शब्द में शरीर का अवयव लिया जाता है । अतएव 'दीर्घसक्थि शकटम्' (लम्बी सक्थि वाली गाड़ी) यहाँ 'सक्थि' शरीर का अङ्ग नहीं अपि तु गाड़ी की लम्बी पतली विशेष लकड़ी का नाम है अतः समासान्त षच् नहीं होता । इसी प्रकार—

स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः—(बड़ी आँखों वाली बाँस की लाठी)—यहाँ भी 'स्थूलाक्षा' में षच् समासान्त नहीं होता अपि तु 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' २०५ सूत्र से 'अच्' समासान्त होता है । इसी से 'स्थूलाक्षा' बनता है 'स्थूलाक्षी' नहीं ।

टिप्पणी—जहाँ 'षच्' समासान्त होता है' वहाँ 'ङीष्' स्त्री प्रत्यय होता है किन्तु जहाँ 'अच्' समासान्त होता है वहाँ 'टाप्' स्त्री प्रत्यय होता है ।

१८३ द्वित्रिभ्याम् इति—द्वि और त्रि शब्दों से परे मूर्धन् शब्द को, समासान्त 'ष' प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में । 'ष' में 'अ' शेष रहता है ।

द्विमूर्ध—द्वौ मूर्धानौ यस्य सः (दो सिर हैं जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'ष' प्रत्यय होकर 'द्वि+मूर्धन्+अ' इस दशा में 'अन्' का लोप (नस्तद्धिते) होकर 'द्विमूर्ध' शब्द बनता है । इसी प्रकार 'त्रिमूर्धः' (त्रयो मूर्धानो यस्य=तीन हैं सिर जिसके ।)

१८४. अन्तरिति—अन्तर् और बहिर् शब्द से परे लोमन् शब्द को समासान्त 'अप्' प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में ।

१८५। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः। ५।४।१३८॥

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः।

१८६। संख्यासुपूर्वस्य ।५।४।१४०॥

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

१८७। उद्विभ्यां काकुदस्य ।५।४।१४८॥

लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्।

अन्तर्लोमः—अन्तर् लोमानि यस्य (भीतर हैं लोम जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है तथा उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अप्' प्रत्यय होकर 'अन्तर्+लोमन्+अप्' इसमें 'अन्' का लोप (नस्तद्धिते) हो जाता है। फिर 'अन्तर्लोम' से प्र० एक० में अन्तर्लोमः रूप बनता है। इसी प्रकार 'बहिर्लोमः' बहिर् लोमानि यस्य (बाहर हैं लोम जिसके)।

१८५. पादस्येति—बहुव्रीहि समास में 'हस्ति' आदि से भिन्न उपमान से परे वाले पाद शब्द के अन्त का लोप (समासान्त) हो जाता है।

टिप्पणी—यह लोप समासान्त विधि के अन्तर्गत है, अतः समासान्त 'अप्' इत्यादि प्रत्ययों के समान समझा जाता है और इसके होने पर समासान्त 'कप्' प्रत्यय नहीं होता।

व्याघ्रपात्—व्याघ्रस्येव पादौ यस्य (बाघ के समान हैं पैर जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है और उपर्युक्त सूत्र से पाद के अन्त्य अकार का लोप (समासान्त) होने पर व्याघ्रपाद्→व्याघ्रपात् शब्द बनता है।

अहस्त्यादिभ्य इति—हस्ती आदि से भिन्न उपमान से परे क्यों कहा? इसलिये कि हस्तिपादः 'हस्तिन इव पादौ यस्य' (हाथी के समान हैं पैर जिसके) तथा कुसूलपादः, 'कुसूलस्येव पादौ यस्य' (कुसूल के समान हैं पैर जिसके) इत्यादि में अन्त का लोप नहीं होता।

१८६. संख्येति—जिसके पहले संख्यावाची या 'सु' शब्द हों, ऐसे पाद शब्द के अन्त का लोप (समासान्त) होता है, बहुव्रीहि समास में।

द्विपात्—द्वौ पादौ यस्य (दो पैर हैं जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। संख्या पूर्व होने के कारण पाद के अन्त्य अकार का लोप (समासान्त) हो जाता है तथा द्विपाद्, द्विपात् रूप बनता है। इसी प्रकार सुपात् शोभनौ पादौ यस्य (सुन्दर पैर हैं जिसके)।

१८७. उद्विभ्यां काकुदस्य—उद् और वि से परे वाले काकुद शब्द के अन्त का (समासान्त) लोप होता है, बहुव्रीहि में। उत्काकुत्—उद्गतं काकुदं यस्य (उठ

१८८ । पूर्णाद्विभाषा ।५।४।१४९॥

पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुद ।

१८९ । सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ।५।४।१५०॥

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्र ।

१९० । उरः प्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१॥

१९१ । सोऽपदादौ ।८।३।३८॥

पाशकल्पककाम्येषु विसर्गस्य स ।

१९२ । कस्कादिषु च ।८।३।४८॥

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य ष स्यादन्यत्र तु स. । इति स । व्यूढोरस्क. ।

गया है तालु जिसका)—इस विग्रह मे बहुव्रीहि समास होकर उत्+काकुद इस दशा मे उपर्युक्त सूत्र से 'अकार' का लोप (समासान्त) हो जाता है। तथा उत्काकुद—उत्काकुत् शब्द बनता है। इसी प्रकार विकाकुत् (विगत काकुद यस्य, विगत हुआ है तालु जिसका)।

१८८ पूर्णादिति—पूर्ण शब्द से परे काकुद शब्द का समासान्त लोप विकल्प से होता है, बहुव्रीहि समास मे।

पूर्णकाकुत् पूर्णकाकुद—पूर्ण काकुद यस्य (पूर्ण है तालु जिसका)—इस विग्रह मे बहुव्रीहि समास होता है। जब उपर्युक्त सूत्र से अन्त का लोप होता है तो पूर्णकाकुत्, जब लोप नही होता तो पूर्णकाकुद रूप बनते हैं।

१८९ सुहृद् इति—बहुव्रीहि समास मे सु और दुर् से परे हृदय शब्द का निपातन द्वारा (समासान्त) 'हृद्' हो जाता है क्रमश मित्र और शत्रु अर्थ मे।

सुहृद्—शोभन हृदय यस्य स. (अच्छा है हृदय जिसका वह, मित्र)—इस विग्रह मे 'सु' का हृदय के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा उपर्युक्त सूत्र मे निपातन से हृदय को 'हृद्' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार "दुष्ट हृदय यस्य"—दुष्ट है हृदय जिसका, शत्रु (अमित्र) इस अर्थ मे 'दुर्हृद्' शब्द बनता है।

१९० उर इति—उरस् आदि शब्दो से समासान्त कप् प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि मे। कप् मे प् का लोप हो जाता है क शेष रहता है।

१९१. स इति—पाश, कल्प, क और काम्य परे होने पर विसर्ग को स् हो जाता है।

१९२ कस्कादिष्विति—कस्क इत्यादि (गण पठित) शब्दो मे इण् (अर्थात् इ, उ, ऋ, ए, ऐ, आदि) से परे वाले विसर्ग को ष् (षकार) होता है, अन्य को स् (सकार)।

व्यूढोरस्क.—व्यूढम् उरो यस्य (विशाल है वक्षःस्थल जिसका)—इस विग्रह

१९३ । इणः षः ।८।३।३९॥

इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः पाशकल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिष्कः ।

१९४ । निष्ठा ।२।२।३६॥

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।

१९५ । शेषाद्विभाषा ।५।४।१५४॥

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा स्यात् । महायशस्कः । महायशाः ।

इति बहुव्रीहिः ॥४॥

में (व्यूढ + उरस्) बहुव्रीहि समास होता है । पूर्व सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय हो जाता है । 'व्यूढ + उरस्' + क' इस दशा में स् को विसर्ग[1] हो जाते हैं । फिर विसर्ग को स्[2] होता है ।

१९३. इण इति—इण् से परे वाले विसर्ग को ष् होता है—पाश, कल्प, क और काम्य परे होने पर—

प्रियसर्पिष्कः—प्रियं सर्पिः यस्य (घृत है प्रिय जिसको)—इस विग्रह में व्यूढोरस्कः के समान समस्त कार्य होता है । किन्तु यहाँ विसर्ग इकार से परे है अतः विसर्ग को ष्[3] होता है ।

१९४. निष्ठेति—बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययान्त शब्द का पहले प्रयोग होता है ।

टिप्पणी—क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है (क्तक्तवतू निष्ठा) अतः पठितः, पठितवान् आदि शब्द निष्ठान्त हैं ।

युक्तयोगः—युक्तो योगो येन सः (लगाया है योग जिसने)—इस विग्रह में युक्त तथा योग शब्द का बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र के अनुसार निष्ठान्त 'युक्त' शब्द का पूर्व प्रयोग हो जाता है ।

शेषाद् इति—जिस बहुव्रीहि समास से (कोई) समासान्त न कहा गया हो उससे समासान्त कप् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

टिप्पणी—शेष का अर्थ है कहने से बचा हुआ । वही शेष है जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त नहीं कहा गया है ।

महायशस्कः, महायशाः—महद् यशो यस्य (महान् यश है जिसका)—इस विग्रह में महत् शब्द का यशस् के साथ बहुव्रीहि समास होता है । 'महत् + यशस्' इस

---

१. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५॥

२. सोऽपदादौ ।८।३।३८॥ से स् होता है (तत्त्व बोधिनी) ।

३. इणः षः ।८।३।३९॥

अथ द्वन्द्वसमासः ॥५॥

१९६। चार्थे द्वन्द्वः ।२।२।२९॥

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ।

समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । 'भिक्षामट गां चानय' इति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात्समासो न ।

दशा म 'महत्' शब्द के 'त्' को 'आ' हो जाता है[1] । तथा उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विकल्प से समासान्त शैषिक 'कप्' होकर महायशस् क→महायशस्क', कप् प्रत्यय न होने पर 'महायशस् + सु' (प्र० एकवचन म) सु लोप तथा स् से परे वाले अ को दीर्घ होकर स् को विसर्ग हो जाते हैं और महायशाः रूप होता है ॥

इति बहुव्रीहि ॥४॥

अथ द्वन्द्व—१९६ चार्थ इति—च (और) के अर्थ म वर्तमान अनेक सुबन्तो का (विकल्प से) समास होता है और उसकी द्वन्द्व सज्ञा होती है ।

समुच्चयेति—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये चार 'च' के अर्थ हैं । इनमें (प्रत्येक का लक्षण यह है) ।

समुच्चय—परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों का एक मे अन्वय होना समुच्चय कहलाता है, जैसे—ईश्वर और गुरु की सेवा करो ।

यहाँ ईश्वर और गुरु पदार्थों का भजस्व (भजन क्रिया) मे स्वतन्त्र रूप से अन्वय होता है । 'ईश्वर भजस्व', 'गुरु भजस्व' इस प्रकार अलग-अलग दोनो का क्रिया मे अन्वय होता है । ये दोनो पदार्थ अन्वय म एक-दूसरे की अपेक्षा नही रखते । इसी हेतु दोनो परस्पर निरपेक्ष हैं ।

अन्वाचय—जब (च के अर्थ द्वारा जुडने वाले पदार्थों मे से) एक का गौण रूप से (आनुषङ्गिकत्वेन) अन्वय होता है, तो उसे अन्वाचय कहते हैं, जैसे 'भिक्षामट गां चानय'—भिक्षा को जाओ और गाय भी लाओ ।

यहाँ च से दो कार्य जुडे है—एक भिक्षा के लिये जाना दूसरा गाय लाना । इनमें भिक्षा के लिये जाना (भिक्षाटन) प्रधान कार्य है । यदि भिक्षाटन करते हुए गाय मिल जाये तो उसे भी लेते आना' इस तात्पर्य से 'गाय लाना' आनुषङ्गिक या गौण कार्य है, अतः यहाँ च 'अन्वाचय' अर्थ को प्रकट करता है ।

अनयोरिति—इन दोनो (समुच्चय और अन्वाचय) मे सामर्थ्य न होने के कारण समास नही होता ।

विशेष—जहाँ अनेक पदार्थों का एक दूसरे के प्रति आकाक्षा होने से परस्पर

---

१. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ।६।३।४६॥

धवखदिरौ छिन्धि' इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। संज्ञापरिभाषम्' इति, समूहः समाहारः।

सम्बन्ध होता है उसे सामर्थ्य कहते हैं'। वही समास होता है ('समर्थः पदविधिः २।१।१)। समुच्चय में दोनों पदार्थ निरपेक्ष हैं इसलिये उनमें सामर्थ्य नहीं। अन्वाचय में एक पदार्थ गौण होता है इसलिये वे परस्पर आकांक्षा नहीं रखते अतएव वहाँ भी सामर्थ्य नहीं। इसीलिये इन दोनों अर्थों में समास नहीं होता।

इतरेतरयोग—आपस में मिले हुए (इतर का इतर से योग) पदार्थों का एक में अन्वय होना इतरेतर योग कहलाता है, जैसे धवखदिरौ छिन्धि—धव और खदिर को काटो।

यहाँ धव और खदिर का एक साथ मिलकर 'काटना' (छेदन) क्रिया में अन्वय होता है। किन्तु दोनों का अपना अलग-अलग 'व्यक्तित्व' रहता है यही द्विवचन से प्रकट होता है।

समाहार—समाहार का अर्थ है समूह। जैसे; संज्ञापरिभाषम्–संज्ञा और परिभाषा का समूह।

यहाँ संज्ञा और परिभाषा को समुदाय रूप में एक मान लिया जाता है, इनका निजी व्यक्तित्व समुदाय में तिरोहित हो जाता है और समुदाय का ही अन्य अर्थ के साथ अन्वय होता है।

विशेष—इतरेतरयोग और समाहार इन दोनों (च के अर्थों) में सामर्थ्य होने के कारण द्वन्द्व समास होता है। इसी हेतु द्वन्द्व समास दो प्रकार का माना जाता है—१. इतरेतर द्वन्द्व। २. समाहार द्वन्द्व। इनके विग्रहादि निम्न प्रकार से होते हैं—

धवखदिरौ—धवश्च खदिरश्च (धव और खदिर)—इस विग्रह में धव और खदिर शब्दों का इतरेतर योग में द्वन्द्व समास हो जाता है। 'धव सु + खदिर सु' यहाँ विभक्ति का लोप हो जाने पर अल्पाच्तरम् २।२।३४ से 'धव' का पूर्वनिपात होकर 'धवखदिर' समस्तपद बनता है। धव और खदिर दो है अतः प्रथमा की 'औ' विभक्ति आने पर धवखदिरौ शब्द बनता है।

टिप्पणी—इतरेतरयोग द्वन्द्व में यदि पदार्थ दो हों तो समास में द्विवचन होता है यदि दो से अधिक हों तो समास में बहुवचन, जैसे—धवश्च खदिरश्च पलाशश्च धवखदिरपलाशाः।

संज्ञापरिभाषम्—संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः (संज्ञा और परिभाषा का समाहार)—इस विग्रह में समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास हो जाता है। समाहार द्वन्द्व सदा नपुंसक[2] लिङ्ग और एकवचन में ही होता है। नपुंसक लिङ्ग हो जाने से

---

१. देखिये सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनी टीका, समर्थः पदविधिः।

२. स नपुंसकम् २।४।२७॥

१९७। राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१॥

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः ।

* (वा) धर्मादिष्वनियमः अर्थधर्मौ धर्मार्थावित्यादि ।

१९८। द्वन्द्वे घि ।२।२।३२॥

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।

१९९। अजाद्यदन्तम् ।२।२।३३॥

'संज्ञा परिभाषा' इस समस्त पद के अन्त को ह्रस्व (आ को अ) हो जाता है।[1] तब प्रथमा एकवचन (नपुं०) की 'अम्' विभक्ति आकार 'संज्ञापरिभाषम्' रूप होता है।

१९७. राजदन्तेति—राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त हो, उसका परे (आगे) प्रयोग किया जाता है।

राजदन्त—दन्तानां राजा (दाँतों का राजा)—इस विग्रह में 'षष्ठी' सूत्र से (षष्ठी) तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'दन्त' शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त है।[2] इस सूत्र के अनुसार 'दन्त' का पर प्रयोग हो जाता है।

धर्मादि (वा)—धर्म (अर्थ) आदि शब्दों में किसको पहले रक्खा जाये, इसका नियम नहीं अर्थात् किसी को भी पहले रक्खा जा सकता है।

टिप्पणी—'धर्मादि० इत्यादि 'राजदन्तादि' गणपाठ के अन्तर्गत है। द्वन्द्व समास के प्रकरण में 'धर्मार्थौ आदि प्रयोगों को दिखलाना अभीष्ट था, इसीलिये 'राजदन्तादिषु परम्' यह सूत्र यहाँ दिया गया है। 'राजदन्त' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष है यह ध्यान देने योग्य है।

अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ—अर्थश्च धर्मश्च (अर्थ और धर्म)—इस विग्रह में इतरेतर-योग में द्वन्द्व समास होता है। पूर्व प्रयोग का नियम न होने के कारण दो रूप बनते हैं।

१९८ द्वन्द्व इति—द्वन्द्व समास में घि संज्ञक पद का पूर्व प्रयोग होता है। यहाँ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३० से पूर्व शब्द की अनुवृत्ति होती है।

टिप्पणी—पाणिनि ने 'घि' एक संज्ञा की है। प्रायः ह्रस्व इकारान्त हरि आदि और उकारान्त गुरु आदि शब्द (सखि शब्द को छोड़कर) घिसंज्ञक होते हैं।[3]

हरिहरौ—हरिश्च हरश्च (हरि और हर)=इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है। हरि (इकारान्त) की 'घि' संज्ञा होने से 'हरस्' पूर्व प्रयोग होता है।

१९९. अजादीति—अच् (स्वर) है आदि में जिसके वह अजादि कहलाता है और अत् (अकार) जिसके अन्त में होता है वह अदन्त कहलाता है। ये दोनों एक के

---

१ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७॥

२. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३॥ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०॥

४. शेषो घ्यसखि १।४।७॥

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ । —गीमनमीणा

२०० । अल्पाच्तरम् ।२।२।३४।।

शिवकेशवौ ।

२०१ । पिता मात्रा ।१।२।७०।।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ वा ।

ही विशेषण हैं । अर्थात् जिसके आदि में स्वर हो, अन्त में 'अ' हो ऐसा शब्द । द्वन्द्व समास में अजादि और अदन्त पद का पूर्व प्रयोग होता है ।

ईशकृष्णौ—ईशश्च कृष्णश्च (ईश और कृष्ण) इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है । यहाँ 'ईश' शब्द अजादि (अच् है, आदि में जिसके) और अकारान्त है अतएव इसका पूर्व प्रयोग होता है ।

२००. **अल्पाच् इति**—'अल्पाच का अर्थ है—'अल्प (थोडे) हैं अच् (स्वर) जिसमें । जिस शब्द में थोड़े स्वर होते हैं, उसका समास में पूर्व प्रयोग होता है ।

शिवकेशवौ—शिवश्च केशवश्च (शिव और केशव)—इस विग्रह में (इतरेतर) द्वन्द्व समास होता है । यहाँ शिव अल्पाच्तर है अत. शिव का पूर्व प्रयोग हो जाता है ।

'केशव' में तीन (ए, अ, अ) स्वर हैं तथा 'शिव' में (इ, अ) दो स्वर हैं इसलिये 'शिव' अल्पाच्तर है ।

२०१. **पितेति**—'मातृ' शब्द के साथ कथन होने पर 'पितृ' शब्द विकल्प से शेष रहता है ।

पितरौ अथवा मातापितरौ—माता च पिता च (माता और पिता)—इस विग्रह में मातृ और पितृ शब्द का इतरेतर द्वन्द्व समास होता है । उपर्युक्त सूत्र के अनुसार 'पितृ' पद शेष रह जाता है, किन्तु यहाँ पितृ शब्द 'माता और पिता' दोनों के अर्थ को कहता है इसलिये द्विवचन में प्रयोग होता है और 'पितरौ' बनता है ।

जब एकशेष नहीं होता तब अधिक पूज्य होने के कारण 'मातृ' का पूर्व प्रयोग होता है—(अभ्यर्हितं च, वार्तिक) । मातृ + पितृ इस दशा में, पूर्वपद 'मातृ' के ऋ को आनङ् होकर (आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५) माता पितृ—प्रथमा द्विवचन में—मातापितरौ ।

विशेष—जहाँ एक पद शेष रह जाता है उन समासों को एकशेष कहते हैं । वास्तव में एकशेष कोई पृथक् समास नही. अपितु एकशेषवृत्ति' नाम की भिन्न प्रकार की विधि है । एकशेष विधि में शेष रहने वाला पद चले जाने वाले पद के अर्थ को भी कहता है—यः शिष्यते, स लुप्यमानार्थाभिधायी भवति ।

२०२ । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ।२।४।२॥

एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकवैणविकम् । रथिकाश्वारोहम् ।

२०३ । द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ।५।४।१०६॥

चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ । इति द्वन्द्वः ॥५॥

---

२०२ द्वन्द्वश्चेति—यहाँ 'अङ्ग' शब्द का अन्वय प्राणि, तूर्य और सेना तीनों के साथ होता है । प्राणी, तूर्य (वाद्य) तथा सेना के अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचन में होता है । यह सूत्र नियमार्थ है । अभिप्राय यह है कि इनका समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास होता है, इतरेतर योग में नहीं । समाहार एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग में होता ही है ।

पाणिपादम्—पाणी च पादौ च (हाथ और पैर)—इस विग्रह में, प्राणी के अङ्गवाची होने से पाणि तथा पाद शब्द का, उपर्युक्त नियम के अनुसार, समाहार द्वन्द्व ही होता है, नपुंसकलिङ्ग एकवचन में पाणिपादम्' रूप होता है ।

मार्दङ्गिकवैणविकम्—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च (मृदङ्ग बजाने वाला और वीणा बजाने वाला)—इस विग्रह में 'तूर्याङ्ग' (वाद्य के अङ्ग) होने के कारण समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा नपु० एकवचन होता है ।

रथिकाश्वारोहम्—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च (रथिक और घुड़सवार—इस विग्रह में, सेना के अङ्ग होने के कारण समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा नपु०, एकवचन होता है ।

२०३. द्वन्द्वाद् इति—जिस द्वन्द्व समास के अन्त में चवर्ग (चु) द, ष या ह होते हैं, उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है, समाहार में ।

टच् में से ट् और च् चले जाते हैं केवल 'अ' शेष रहता है ।

वाक्त्वचम्—वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः (वाणी और त्वचा का समाहार)—इस विग्रह में वाच् और त्वच् का समाहार—अर्थ में द्वन्द्व समास होता है । पूर्वपद (वाच्) के च् को क् हो जाता है (चोः कुः) । 'वाक् त्वच्' यह चवर्गान्त है, अत एव समासान्त टच् प्रत्यय होकर 'वाक्त्वच् अ—वाक्त्वच, नपु० एकवचन में 'वाक्त्वचम्' ।

त्वक्स्रजम्—त्वक् च स्रक् च तयोः समाहारः (त्वचा और माला का समाहार)—इस विग्रह में त्वच् और स्रज् शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास होता है । शेष कार्य वाक्त्वचम् के समान ।

शमीदृषदम्—शमी च दृषद् च तयोः समाहारः (शमी और पाषाण का

अथ समासान्ताः

२०४। ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे।५।४।७४॥

अ अनक्ष इति च्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः। राजधुरा। अक्षे तु अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः।

समाहार)—इस विग्रह में शमी और दृषद् का समाहार द्वन्द्व समास होता है। अन्त में द् होने से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप बनता है।

वाक्त्विचम्—वाक् च त्विट् च तयोः समाहारः (वाणी और प्रभा का समाहार)—इस विग्रह मे 'वाच् और त्विष्' शब्दो का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। अन्त में 'ष्' होने से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर रूप बनता है।

छत्रोपानहम्—छत्रं चोपानहौ च तेषां समाहारः (छाता और जूतों का समाहार) —इस विग्रह में छत्र और उपानह् शब्दो का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। अन्त में 'ह्' होने के कारण उपर्युक्त सूत्र से समासान्त टच्' प्रत्यय होकर रूप बनता है।

समाहारे किमिति—'समाहार मे' ऐसा क्यो कहा ? इसलिये कि इतरेतर द्वन्द्व में समासान्त टच् प्रत्यय नही होता। जैसे—

प्रावृट्शरदौ—प्रावृट् च शरच्च (वर्षा और शरद्)—इस विग्रह में प्रावृष् और शरद् शब्दो का इतरेतरयोग मे द्वन्द्व समास होता है, अतः यहाँ समासान्त टच् प्रत्यय नहीं होता॥ इति द्वन्द्वः ॥५॥

अथ समासान्ताः। २०४. ऋक्पूरिति—यहाँ समासान्ताः ५।४।३८ से समासान्त शब्द की अनुवृत्ति होती है। सूत्र में स्थित 'आनक्षे' इस पद का अ+अनक्षे यह छेद है। जिस समास के अन्त में ऋक्, पुर्, अप्, धुर् या पथिन् शब्द होता है उस समास में समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है किन्तु अक्ष (रथचक्र का मध्यभाग) में जो 'धुर्' (धुरी) तदन्त को नहीं होता।

अर्धर्चः—अर्धं ऋचः (ऋचा का आधा)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है (पूर्ण सिद्धि पहले दी जा चुकी है)।

विष्णुपुरम्—विष्णोः पूः (विष्णु की नगरी)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर विष्णु+पुर्+अ→ नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में विष्णुपुरम्।

विमलापं सरः—विमला आपो यत्र (निर्मल है जल जिसमें)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय होकर विमल+आप् +अ→विमलाप शब्द बनता है। सरस् (नपुं०) शब्द का विशेषण होने से "विमलापं" नपुंसकलिङ्ग एकवचन मे होता है।

राजधुरा—राज्ञः धूः (राज्य का भार)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर राजन्+धुर्+अ। न् लोप होकर "राजधुर" स्त्रीलिङ्ग में टाप् (आ) प्रत्यय (अजाद्यतष्टाप्) होकर राजधुरा शब्द बनता है।

२०५। अक्ष्णोऽदर्शनात् ।५।४।७६॥

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः ।

२०६। उपसर्गादध्वनः ।५।४।८५॥

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।

अक्षे तु इति—अक्ष की धुरी के विषय में प्रयुक्त धुर् शब्द से तो समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता अतएव 'अक्षस्य धूः अक्षधूः' यही रूप बनता है। इसी प्रकार

दृढधूः—दृढा धूर्यस्य (दृढ धुरी है जिसकी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता। यहाँ 'धुर्' शब्द अक्ष के विषय में है।

सखिपथः—सख्युः पन्थाः (सखा का मार्ग)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। अन्त में 'पथिन्' शब्द होने से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है।' सखि+पथिन् अ' इस अवस्था में पथिन् के 'इन्' (टि) का (नस्तद्धिते) लोप होकर सखिपथ—सखिपथः रूप बनता है।

रम्यपथो देशः—रम्याः पन्थानो यस्मिन् (रमणीय हैं मार्ग जिसमें)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप बनता है।

२०५. अक्ष्ण इति—चक्षुवाची से भिन्न अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

गवाक्षः—गवाम् अक्षि इव (गौ की अक्षि जैसी— खिड़की)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। यहाँ अक्षि शब्द चक्षु का पर्याय नहीं, इसलिये उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है। 'गो+अक्षि+अ' इस दशा में इकार का लोप (यस्येति च), ओकार का 'अव' होकर गव+अक्ष्+अ→गवाक्ष रूप बनता है।

टिप्पणी—गवाक्ष शब्द के विग्रह-अर्थ में कुछ मतभेद है सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका के अनुसार अक्षि का अर्थ है—छिद्र (गावः किरणाः अक्षि शब्दो रन्ध्रवाची) इसलिये यहाँ यह चक्षु का पर्याय नहीं। बालमनोरमा के अनुसार यहाँ अक्षि शब्द अक्षिसदृश में लाक्षणिक है अतः यह चक्षु का वाचक नहीं तथा अच् प्रत्यय हो जाता है।

२०६. उपसर्गादिति—उपसर्ग से परे अध्वन् शब्द को समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है।

प्राध्वः रथः—प्रगतोऽध्वानम् (मार्ग पर गया हुआ)—इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इस (वार्त्तिक) से प्रादि समास (तत्पुरुष) होता है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर 'प्र+अध्वन्+अ' इस दशा में 'अन्' (टि) का लोप हो जाता है और 'प्राध्व' शब्द बनता है।

२०७। न पूजनात् ।५।४।६९॥

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः ।

*(वा) स्वतिभ्यामेव ।

सुराजा । अतिराजा । इति समासान्ताः ॥

---

२०७. न पूजनाद् इति—प्रशंसार्थक शब्दों से परे वाले शब्द से समासान्त प्रत्यय नहीं होते ।

स्वति'इति—(वा) सु और अति शब्दों से परे वाले शब्द से समासान्त प्रत्ययों का निषेध होता है ।

सुराजा—शोभनो राजा (अच्छा राजा) इस विग्रह में 'कुगतिप्रादयः' से प्रादि (तत्पुरुष) समास होता है । यहाँ 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त हुआ उसका उपर्युक्त सूत्र से निषेध हो जाने पर सुराजन्→(प्र०, एक०) 'सुराजा' रूप बनता है ।

अतिराजा—पूज्यो राजा (पूज्य राजा) इस विग्रह में प्रादि (तत्पुरुष) समास होता है । यहाँ भी समासान्त टच् प्रत्यय का निषेध हो जाता है ॥

इति समासान्ताः ।

इति समासप्रकरणम्

कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृदन्तकृत्यप्रक्रिया ॥१॥

२०८ । धातोः ।३।१।९१॥

आतृतीयाध्यायसमाप्त्यन्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङिति कृत्संज्ञा ।

२०९ । वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ।३।१।९४॥

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया । २०८ धातोः—यह अधिकार सूत्र है । यहाँ (३।१।९१) से अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे धातु से परे होते हैं ।

कृदिति—कृदतिङ् ३।१।९३॥ इस सूत्र से (तिङ् भिन्न) इन प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है ।

२०९ वासरूप इति—इस धातु के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्यय का विकल्प से बाधक होता है, 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४॥ इस अधिकार में उक्त प्रत्ययों को छोड़कर ।

उत्सर्ग का अर्थ है—सामान्य (General) और अपवाद का अर्थ है—विशेष या बाधक (Exception) । नियम यह है कि अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्यय का नित्य बाधक होता है । जैसे—कर्मण्यण् ३।२।१। इस सूत्र द्वारा कर्म उपपद होने पर सभी धातुओं से अण् प्रत्यय का विधान किया गया है । यह अण् सामान्य प्रत्यय है । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३। सूत्र द्वारा आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय का विधान किया गया है । यह 'क' प्रत्यय अण् प्रत्यय का सरूप प्रत्यय है । सरूप का अर्थ है—समान रूप वाला जैसे अण् और क दोनों सरूप प्रत्यय हैं क्योंकि दोनों में 'अ' शेष रहता है । अतः क प्रत्यय अण् का नित्य बाधक होता है गां ददाति' इति गोदः आदि में क प्रत्यय ही होता है अण् नहीं ।

जो सरूप नहीं वे असरूप प्रत्यय हैं, जैसे 'तव्यत्' प्रत्यय का 'यत्' प्रत्यय असरूप है । ये असरूप प्रत्यय इस प्रकरण में विकल्प से बाधक होते हैं, फलतः धातु से सामान्यतः उक्त प्रत्यय तव्यत् भी होता है और साथ में उसका अपवाद यत् भी,

२१० । कृत्याः ३।१।९५॥

ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ॥

२११ । कर्तरि कृत् ।३।४।६७॥

कृत्यप्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते ।

२१२ । तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०॥

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

२१३ । तव्यत्तव्यानीयरः ।३।१।९६॥

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम् एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वम् । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

जैसे दातव्यम्, दोनों रूप बनते है । किन्तु वासरूप परिभाषा स्त्रीअधिकारोक्त प्रत्ययों में नही लगती । अतः 'स्त्रियां क्तिन्' इस सामान्य नियम का 'अ प्रत्ययात्' ३।३।१०२। नित्य बाधक होता है और चिकीर्षा रूप ही बनता है ।

२१०. कृत्या इति—ण्वुल् तृचौ ३।१।११३। इससे पहले के प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है ।

२११. कर्तरीति—कृत्यप्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं । इसके प्राप्त होने पर—

२१२. तयोरेवेति—कृत्य, क्त, और खल् अर्थ वाले प्रत्यय भाव और कर्म (तयोः) में ही होते हैं ।

२१३. तव्यदिनि—धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। तव्यत् में 'तव्य' रूप शेष रहता है तथा इसको धातु से जोड़ने पर भी तव्य के समान ही रूप बनते हैं । केवल स्वर का भेद है, तव्यत् स्वरित होता है (तित्स्वरितम्)। अनीयर् में अनीय शेष रहता है ।

एधितव्यम्, एधनीयम् त्वया (तुझे बढ़ना चाहिये)—एध् (वृद्धि होना, अकर्मक) धातु से भाव में तव्य (तव्यत् भी) तथा अनीयर् प्रत्यय होते हैं । एध् + तव्य—तव्य से पूर्व इट्' (इ) का आगम होकर एधितव्य, कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि एधितव्यम् । एध् + अनीय—एधनीयम् ।

टिप्पणी—कृत्तद्धितसमासाश्च १।२:४६। से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है पाणिनि व्याकरण में प्रातिपदिक संज्ञा वाले शब्द से ही 'सु आदि (विभक्ति) प्रत्यय होते हैं ।

भाव इति—भाव में सामान्य एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है ।, कृत्य प्रत्यय अकर्मक धातुओं से भाव में होते हैं, तथा सकर्मक धातुओं से कर्म में (तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः) । एध् धातु अकर्मक है, इससे 'तव्यत्' आदि भाव में होते हैं। इसलिये 'एधितव्यम्' आदि में भाव में एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है । इनके साथ कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है (कर्तृकरणयोस्तृतीया) इसी से 'त्वया' यहाँ तृतीया विभक्ति है ।

* (६१) केलिमर उपसंख्यानम् ॥

पचेलिमा माषा । पक्तव्या ।

भिदेलिमा सरला । भेतव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययाः ।

२१४ । कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३॥

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" ॥

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

चेतव्य, चयनीय वा धर्मस्त्वया—(तुझे धर्म अर्जित करना चाहिये)—यहाँ चि (चुनना, सकर्मक) धातु से कर्म में तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। चि + तव्य = 'इ' को गुण १ (ए) होकर चेतव्य । चि + अनीय— इ को गुण ए तथा ए को 'अय्' होकर चयनीय.।

चि धातु सकर्मक है। ऊपर के उदाहरण में कर्म में प्रत्यय हुआ है, इसी से 'चेतव्य' आदि में कर्म (धर्म) के अनुसार पुंलिङ्ग और एकवचन होता है। यहाँ (अनुक्त) कर्त्ता में तृतीया होती है—(त्वया)।

केलिमर इति—केलिमर प्रत्यय भी तव्यत् आदि के साथ कहना चाहिये।—केलिमर् में 'एलिम' शेष रहता है।

पचेलिमा माषा —पक्तव्या (पकाने योग्य)—पच (पकाना, सकर्मक) + केलिमर्—पचेलिमा । कर्म में प्रत्यय होने से कर्म (माषा) के अनुसार पुंलिङ्ग तथा बहुवचन होता है।

भिदेलिमा सरला —भेतव्या इत्यर्थः (काटने योग्य सरल वृक्ष)—भिद् (भेदना, तोडना) + केलिमर्—भिदेलिमा । पूर्ववत् ।

कर्मणीति—पचेलिमा, भिदेलिमा में कर्म में प्रत्यय हुआ है, पच् और भिद् धातु सकर्मक हैं।

२१४ कृत्येति—कृत्य संज्ञक प्रत्यय और ल्युट् बहुलता से होते हैं। जहाँ कहे हैं उससे भिन्न स्थलों में भी होते हैं।

टिप्पणी—बहुल शब्द का अर्थ है 'बहुत प्रकार से' (बहूनर्थान् लातीति) अगली कारिका में बहुल के फल बताये गये हैं।

---

१ इस प्रकरण में इगन्त (इक् प्रत्याहार है अन्त में जिसके) अङ्ग को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ से गुण होता है तथा उपधा के लघु इक् को 'पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६ से।

२१५ । अचो यत् ।३।१।९७॥

अजन्ताद्धातोर्यत् । चेयम् ।

२१६ । ईद्यति ।६।४।६५॥

यति परे आत ईत्स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

२१७ । पोरदुपधात् ।३।१।९८॥

पवर्गान्ताददुपधाद्यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः, शप्यम्, लभ्यम् ।

क्वचिदिति—कहीं (नित्य) प्रवृत्ति होना, कहीं प्रवृत्ति न होना, कहीं विकल्प से होना, कहीं कुछ और ही होना इस प्रकार विधि का बहुत प्रकार का विधान देखकर (विद्वान्) चार प्रकार की (बहुलता) बतलाते हैं।

स्नानीयम्—स्नाति अनेन (जिससे स्नान किया जाता है वह चूर्ण स्नानीय कहलाता है)—जहाँ 'स्ना' धातु से करण अर्थ में अनीयर् प्रत्यय बाहुलकात् हो गया है—स्ना + अनीय √स्नानीयम् ।

दानीयः—दीयतेऽस्मै (जिसे दिया जाता है, वह दानीय विप्र है)—'दा' धातु से सम्प्रदान में अनीयर् प्रत्यय हो जाता है।

टिप्पणी—कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं; 'बहुल' कहने से वे ऊपर के उदाहरणों में करण और सम्प्रदान में भी हो गये हैं।

२१५. अच् इति—अजन्त (जिसके अन्त में स्वर हो) धातु से यत् प्रत्यय होता है।

चेयम्—(चुनने योग्य)—अजन्त चिञ् (चुनना) धातु से यत् प्रत्यय होकर चि + य → इ को गुण (ए) चेय । प्रातिपदिक संज्ञा होकर नपुंसकलिङ्ग में सु = अम् = चेयम् ।

२१६. ईदिति—यत् प्रत्यय परे होने पर आ को ई हो जाता है।

देयम्—(देने योग्य या देना चाहिये)—दा (देना) धातु से यत् प्रत्यय होकर दा + य → ऊपर के सूत्र से आ को ई होकर दी + य → ई को गुण ए होकर देयम् । इसी प्रकार ग्ला + य = ग्लेयम् ।

२१७. पोरिति—जिस धातु के अन्त में पवर्ग का कोई वर्ण हो तथा उपधा में अ हो उससे यत् प्रत्यय होता है।

ण्यत इति—यह यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।१२४ से प्राप्त ण्यत् का अपवाद है।

शप्यम्—(शाप के योग्य)—शप् (शाप देना या शपथ खाना) धातु के अन्त में 'प्' (पवर्ग) है और उपधा में 'अ' है इसलिये इससे यत् प्रत्यय होकर शप् + यत् → शप्यम् ।

लभ्यम्—(पाने योग्य)—लभ् (पाना) धातु से यत् प्रत्यय होकर लभ् + यत् → लभ्यम् ।

२१८। एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ।३।१।१०९॥

एभ्यः क्यप् स्यात् ।

२१९। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ।६।१।७१॥

इत्य । स्तुत्य । शासु अनुशिष्टौ ।

२२०। शास इदङ्हलोः ।६।४।३४।

शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति च। शिष्य । वृत्य। आदृत्य । जुष्य ।

२२१। मृजेर्विभाषा ।३।१।११३॥

मृजे क्यब्वा स्यात् । मृज्य ।

टिप्पणी—लभ् धातु के अन्त मे पवर्ग का वर्ण भ् है तथा अन्त के वर्ण से पहला वर्ण (उपधा) अकार है ।

२१८ एति इति—इण् (एति) स्तु शास् वृ दृ और जुष् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है । क्यप् मे य शेष रहता है, क् और प् इत्संज्ञक हैं । उनका लोप हो जाता है।

२१९. ह्रस्वस्येति—पित (जिसम प् की इत् संज्ञा हो) कृत् प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व को तुक् का आगम होता है । (क्यप् पित् है) ।

इत्य —(जाने योग्य)—इण् (जाना) धातु से क्यप् प्रत्यय होकर इ+य→ 'इ' से परे तुक् (त्) का आगम इ+त्+य इत्य । इसी प्रकार स्तु (स्तुति करना) धातु से स्तु+क्यप्←स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) ।

शासु इति—शास् धातु अनुशासन अर्थ मे है ।

२२०. शास इति—शास् धातु की उपधा को इकार हो जाता है अङ् या हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर । (क्यप् कित् है) ।

शिष्य —शास् (अनुशासन करना)—धातु से क्यप् प्रत्यय होकर शास्+क्यप् →शास् के आ (उपधा) को इकार होकर शिस्+य→स को ष[1] शिष्य ।

वृत्य —(वरण करने योग्य)—वृ (वरण करना) धातु से क्यप्, वृ+य→तुक् होकर→वृत्य ।

आदृत्य —(आदर—योग्य, आदरणीय)—आङ् (उपसर्ग) पूर्वक दृ (आदर करना) धातु से क्यप् होकर आदृ+य→तुक्→आदृत्यः ।

जुष्य —(सेवनीय)—जुष् (प्रीति तथा सेवा करना) धातु से क्यप् होकर जुष्य ।

२२१. मृजेरिति—मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

---

1. शासिवसिघसीनां च ८।३।६०॥

२२२। ऋहलोर्ण्यत् ।३।१।१२४॥

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् स्यात् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।

२२३। चजोः कु घिण्ण्यतोः ।७।३।५२॥

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे ।

२२४। मृजेर्वृद्धि ।७।२।११४॥

मृजेरिको वृद्धिः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः मार्ग्यः ।

२२५। भोज्यं भक्ष्ये ।७।३।६९॥

मृज्य—(शुद्ध करने योग्य)—मृज् (शुद्ध करना) धातु से क्यप् होकर मृज् + य = मृज्यः ।[1] [मृज् धातु हलन्त है, उससे ण्यत् प्रत्यय प्राप्त है, यह क्यप् ण्यत् का विकल्प से बाधक है] ।

२२२. ऋहलोरिति—जिस धातु के अन्त में ऋकार अथवा व्यञ्जन (हल्) हो उससे ण्यत् प्रत्यय होता है ।

कार्यम्—(करने योग्य, करना चाहिये)—कृ (करना) धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर कृ + य → णित् प्रत्यय परे होने से ऋ को वृद्धि[2] आर् होकर कार् + य → कार्यम् । इसी प्रकार हृ (हरण करना) से हृ + ण्यत् → हार्यम् (हरने योग्य) । धृ (धारण करना) से धृ + ण्यत् → धार्यम् (धारण करने योग्य) ।

२२३. चजोरिति—च और ज को 'कुत्व' (कवर्ग) हो जाता है घित् (जिसमें घ इत् हो) और ण्यत् प्रत्यय परे होने पर ।

२२४. मृजेरिति—मृज् धातु के ऋ (इक्) को वृद्धि हो जाती है सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर ।

टिप्पणी—धातु से होने वाले तिङ् (तिप्, तस्, झि आदि) और शित् (जिसमें श् इत् हो) प्रत्यय 'सार्वधातुक' कहलाते हैं तथा इनसे भिन्न आर्धधातुक (तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३ आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४॥) ।

मार्ग्यः—(शुद्ध करने योग्य)—मृज् धातु से क्यप् के विकल्प में ण्यत् प्रत्यय होकर मृज् + क्यप् → ऊपर के सूत्रों से जकार को गकार (कुत्व) तथा ऋ को आर् (वृद्धि) मार् + ग् + य → मार्ग्यः ।

२२५. भोज्यमिति—भक्ष्य अर्थ में भोज्य शब्द बनता है ।

---

१. कित् 'गित्' ङित् प्रत्यय परे होने पर क्ङिति च १।१।५ से गुण वृद्धि का निषेध हो जाता है । अतः 'क्यप्' प्रत्यय परे होने पर गुण नहीं होता ।

२. अचोऽञ्णिति ७।२।११५ ञित् और णित् प्रत्यय परे होने पर अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है ।

भोग्यमन्यत् । इति कृत्यप्रक्रिया ।

अथ पूर्वकृदन्तम् ॥२॥

२२६ । ण्वुल्तृचौ ।३।१।१३३ ।

धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

२२७ । युवोरनाकौ ।७।१।१॥

यु वु एतयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्ता ।

२२८ । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।३।१।१३४॥

भोज्यम्—(खाने योग्य, भक्ष्य)—भुज् (पालन तथा भोजन करना) धातु से हलन्त होने के कारण ण्यत् प्रत्यय होता है । भुज्+य इस दशा में ज को कुत्व (ग) प्राप्त होता है किन्तु ऊपर के सूत्र से भक्ष्य अर्थ में कुत्व का अभाव निपातन करने से वह नहीं होता, 'उ' को गुण[1] (ओ) होकर भोज्यम् । अन्य अर्थात् भोगने योग्य अर्थ में कुत्व होकर भोग्यम् । इति कृत्यप्रक्रिया ॥११॥

२२६ अथ पूर्वकृदन्तम् । ण्वुलिति—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं । ण्वुल् में वु तथा तृच् में तृ शेष रहता है ।

टिप्पणी—ण्वुलतृचौ से आरम्भ करके 'करणे यजः २४९' से पूर्व के प्रत्यय वर्तमान काल में होते हैं ।

कर्तरीति—'कर्तरि कृत् २११', इस सूत्रानुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं ।

२२७. युवोरीति—यु और वु इन दोनों को क्रमशः अन और अक आदेश हो जाते हैं ।

कारकः—करोति इति (करने वाला)—कृ (करना) धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होकर कृ+ण्वुल्→वु को अक तथा ऋ को वृद्धि[2] (आर्) होकर→कार्+अक →कारकः । स्त्रीलिङ्ग में कारिका, नपुंसकलिङ्ग में कारकम् ।

कर्ता—करोति इति (करने वाला)—कृ=तृच्→ऋ को गुण[3] अर्→कर्+तृ=कर्तृ । पु० प्रथमा एक० में कर्ता । (स्त्री०) कर्त्री, (नपु०) कर्तृ ।

२२८. नन्दीति—नन्दि आदि धातुओं से ल्यु प्रत्यय, ग्रह् आदि से णिनि तथा पच् आदि से अच् होता है ।

ल्यु में यु शेष रहता है, णिनि में इन् और अच् में अ । ये तीनों प्रत्यय कर्ता अर्थ में ही होते हैं ।

नन्दनः—नन्दयति इति (आनन्दित करने वाला)—णिच् प्रत्ययान्त (प्रेरणार्थक)

---

१ पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६ २. अचो ञ्णिति ७।२।११५।
३. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४।

नन्द्यादेर्ल्युः ग्रह्यादेर्णिनिः पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः । जनमर्दयतीति जनार्दनः । लवणः । ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचादिराकृतिगणः ।

२२९ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ।३।१।१३५॥

एभ्यः कः स्यात् । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

नन्दि धातु से ल्यु प्रत्यय होकर नन्दि+यु→यु को अन (युवोरनाकौ) नन्दि+अन→इ (णि) का लोप[1] होकर नन्द्+अन→नन्दनः ।

जनार्दनः—जनमर्दयति इति (जन को गति देने वाला, विष्णु) जन उपपद-युक्त णिजन्त अर्द् (गति और याचना) धातु से ल्यु प्रत्यय होता है । जन+अर्द्+इ+यु→यु को अन तथा इ (णि) लोप जनार्दनः ।

लवणः—लुनाति इति (काटने वाला, नमक)—लूञ् (काटना) धातु से ल्यु प्रत्यय होकर लू+यु→लू+अन→ऊ को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) ओ तथा ओ को अव् होकर लव्+अन । नन्दादिगण में निपातन से न को ण होता है—लवणः ।

ग्राही—गृह्णाति इति (ग्रहण करने वाला)—ग्रह् (ग्रहण करना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर ग्रह्+इन् इस दशा में उपधा के अ को वृद्धि[2] (आ) होकर ग्राह्+इन्→ग्राहिन् । पुं० प्रथमा एकवचन में ग्राही ।

स्थायी—तिष्ठति इति (स्थिर)—ष्ठा (ठहरना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर स्था+इन् इस दशा में णित् प्रत्यय होने से स्था धातु को युक् का आगम[3] होता है । स्था+य्+इन्+स्थायिन्→पुं० एक० में स्थायी ।

मन्त्री—मन्त्रयति इति (मन्त्रणा देने वाला)—णिच् प्रत्ययान्त मंत्रि (चुरादि; गुप्त वार्तालाप करना) धातु से णिनि प्रत्यय होता है । मन्त्+इ (णिच्)+णिनि→मन्त्+इ+इन्→इ (णि) का लोप होकर मन्त्र—इन्→मन्त्रिन्→मन्त्री ।

पचादिरिति—पच आदि आकृतिगण है पचति इति पचः । पच्+अच् (पकाने वाला) । इस प्रकार के शब्द अच् प्रत्ययान्त हैं ।

२२९. इगुपधेति—जिन धातुओं की उपधा में इ, उ, ऋ, लृ (इक्) में से कोई हो (इगुपध) इनसे तथा ज्ञा, प्री और कृ धातु से क प्रत्यय होता है । क प्रत्यय में अ शेष रहता है । यह प्रत्यय कित् है अतः इसके परे रहते 'क्ङिति च' से गुण-निषेध हो जाता है ।

---

१. णेरनिटि ६।४।५१।

२. अत उपधायाः ७।२।११६। उपधा के अ को वृद्धि होती है ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर ।

३. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३। आकारान्त को युक् का आगम होता है चिण् तथा ञित् कृत् प्रत्यय परे होने पर ।

२३०। आतश्चोपसर्गे ।३।१।१३६॥

प्रज्ञ.। सुग्ल ।

२३१। गेहे कः ।३।१।१४४॥

गेहे कर्तरि ग्रहे कः स्यात्। गृहम्।

बुध —बुध्यते इति (जानने वाला, विद्वान्) बुध (जानना) धातु की उपधा में उ (इक्) है। अत इससे क प्रत्यय होकर बुध+अ→बुध। प्रत्यय के कित् होने से उ को गुण (ओ) नहीं होता (क्ङिति च)।

कृश – कृश्यति इति (दुबला क्षीण)—कृश (दुबला होना) धातु से क प्रत्यय होकर कृश। (ऋ को गुण नहीं होता)।

ज्ञ —जानाति इति (जानने वाला)—ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय होकर ज्ञा+अ→प्रत्यय के कित् होने से आ का लोप (आतो लोप इटि च ६।४।६४) होकर ज्ञ्+अ→ज्ञ।

प्रिय —प्रीणाति इति (तृप्त करने वाला)—प्रीञ् (तृप्त करना, क्र्यादि) धातु से क प्रत्यय होकर प्री+क→प्री+अ इस दशा में ईकार को इयङ्[1] (इय्) आदेश होकर प्रिय्+अ→प्रिय।

किर.—किरति इति (बिखेरने वाला)—कॄ (बिखेरना) धातु से क प्रत्यय होकर कॄ+अ→ॠ को इर्[2]—किर्+अ→किर।

२३० आतश्चेति—उपसर्ग पूर्वक आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है।

प्रज्ञ —प्रजानाति इति (प्रकृष्टता से जानने वाला)—प्र उपसर्ग सहित ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय होकर प्रज्ञा+अ→आकार का लोप प्रज्ञ्+अ→प्रज्ञ।

सुग्ल —सुग्लायति इति (भली भाँति ग्लानि करने वाला)—सुपूर्वक ग्लै (ग्लानि) धातु के ऐ को आ (आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५) होकर क प्रत्यय होता है। सुग्ला+क→आ का लोप सुग्ल्→अ→सुग्ल।

२३१ गेहे इति—यदि गेह (घर) कर्ता हो अर्थात् गेह अर्थ को प्रकट करने में ग्रह् धातु से क प्रत्यय होता है।

गृहम्—गृह्णाति धान्यादिकम् इति (जो अन्न आदि को रखता है, घर)—इस विग्रह में ग्रह् (ग्रहण करना) धातु से क प्रत्यय होकर ग्रह्+क इस दशा में धातु के र् को ऋ (सम्प्रसारण[3]) होता है, गृह्+अ→गृहम्। गृह शब्द पुंलिङ्ग में सदा बहुवचनान्त होता है, जैसे—गृहा दाराः।

---

१. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।

२ ऋत इद् धातोः ७।१।१०० इस सूत्र से ॠ को इ। इ अण् है अतः यह र् के साथ (उरण् रपरः) होती है तथा ॠ=इर् हो जाती है।

३ ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६।

२३२। कर्मण्यण् ।३।२।१॥

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

२३३ । आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्ययुपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोपः । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दायः ॥

*(वा) मूलविभुजादिभ्यः कः ॥

---

२३२. कर्मणीति—कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है।

कुम्भकारः—कुम्भं करोति इति (घड़ा बनाने वाला-कुम्हार)—इस विग्रह में कुम्भ + कृ + अण् → कृ के ऋकार को वृद्धि[1] आर् होकर कुम्भ + कार → कुम्भ का कार शब्द के साथ उपपद समास (उपपदमतिङ्) होकर कुम्भकारः।

टिप्पणी—इस धातु अधिकार में सप्तम्यन्त पदों से समझा जाने वाला (बोध्य) पद उपपद कहलाता है और उसका अगले पद से समास होता है (उपपदमतिङ्)। (विशेष द्रष्टव्य 'उपपदमतिङ् १५५)

२३३. आत इति—जिससे पहले उपसर्ग न हो ऐसी आदन्त धातु से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय होता है। यह अण् का बाधक है।

गोदः—गां ददाति इति (गाय देने वाला)—गो + दा + क → गो + दा + अ → आ का लोप होकर गो + द् + अ → गोदः। इसी प्रकार धनं ददाति इति धनदः (धन + दा + क)। कम्बलं ददाति इति कम्बलदः (कम्बल + दा + क)।

अनुपसर्गे किमिति—उपसर्ग रहित आकारान्तधातु से क होता है यह क्यों कहा ? इसलिये कि गोसन्दायः में 'सम्' उपसर्ग सहित दा धातु है अतः यहाँ क नहीं होता अपि तु अण् प्रत्यय होता है गो + सम् + दा + अण् → दा से परे युक् का आगम[3] गो + दा + य् → अ → गोसन्दायः।

मूलेति (वा)--मूलविभुज आदि शब्दों में क प्रत्यय होता है।

मूलविभुजो रथः—मूलानि विभुजति (जड़ों को कुचलने वाला रथ)—मूल + विभुज् + क → मूल + विभुज, उपपद समास होकर मूलविभुजः।

आकृतीति—यह (मूलविभुज आदि) आकृति गण है। अतएव महीं धरति इति → मही + धृ + क → प्रत्यय के कित् होने से गुण नहीं होता अपि तु ऋ को र् (यण्) होकर मही + ध् + र् + अ = महीध्रः। इसी प्रकार कुं पृथिवीं धरति कुध्रः। महीध्र और कुध्र शब्द 'पर्वत' के पर्याय हैं।

---

१. अचोञ्णिति ७।१।११५॥ २. आतो लोप इटि च ६।४।६४॥

३. आतो युक् चिण् कृतोः ।७।३।३३॥

मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथ । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः। कुध्र ।

२३४ । चरेष्ट ।३।२।१६।

अधिकरणे उपपदे । कुरुचर ।

२३५ । भिक्षासेनादायेषु च ।३।२।१७॥

भिक्षाचर । सेनाचर । आदायेति ल्यबन्तम् आदायचर ।

२३६ । कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ।३।२।२०॥

एषु द्योत्येषु करोतेष्ट स्यात ।

२३७ । कृकमिकसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६॥

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्य सादेश स्यात् करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकर । वचनकर ।

---

२३४ चरेरिति—अधिकरण उपपद होने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता है। ट म अ शेष रहता है। टित् होन म स्त्री० म ङीप् ।[1]

कुरुचर —कुरुषु चरति इति (कुरुप्रदेश मे घूमने वाला)—कुरु + चर् + ट → कुरु + अ → उपपद समास कुरुचर । स्त्रीलिङ्ग म टित् होने स ङीप् कुरुचरी ।

२३५ भिक्षेति—भिक्षा, सेना और आदाय शब्द उपपद होने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता है ।

भिक्षाचर —भिक्षा चरति (भिक्षाचरण करने वाला)—भिक्षा + चर् + ट ।

सेनाचर.—सेना चरति (सेना म प्रविष्ट[2] होता है)—सेना + चर् + ट ।

आदायेति—'आदाय' यह ल्यप् प्रत्ययान्त शब्द है ।

आदायचर —आदाय गृहीत्वा चरति (लेकर चलने वाला)—आदाय + चर् + ट ।

२३६ कृञ इति—हेतु ताच्छील्य (वैसा स्वभाव होना) तथा आनुलोम्य (अनुकूलता) प्रकट हो तो (कर्म उपपद होन पर) कृ धातु से ट प्रत्यय होता है ।

२३७ आद् इति—अवर्ण से परे उस विसर्ग को, जो अव्यय का न हो, समास मे नित्य सकार आदेश हो जाता है कृ, कम् धातु तथा कुम्भ, पात्र, कुश और कर्णी शब्द परे होने पर ।

यशस्करी विद्या—यशः करोति, तद्धेतु (यश का हेतु विद्या)—कृञो हेतु० सूत्र से हेतु अर्थ म ट प्रत्यय होकर यश + कृ + ट → यश + कृ + अ → ऋ को गुण

---

१ टिड्ढाणञ्० ४।१।१५॥

२ सेना चरति प्रविशतीत्यर्थ. (तत्त्वबोधिनी)

२३८ । एजेः खश् ।३।२।२८।।

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात् ।

२३९ । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ।६।३।६७।

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात् खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य । शित्वाच्छवादिः । जनमेजयतीति जनमेजयः ।

२४० । प्रियवशे वदः खच् ।३।२।३८।।

प्रियंवदः । वशंवदः ।

अर् यशः + कर → उपपद समास तथा ऊपर के सूत्र से विसर्ग को स् होकर यशस्कर (स्त्री०) ङीप् प्रत्यय यशस्करी ।

श्राद्धकरः—श्राद्धं करोति, तच्छीलः अथवा श्राद्धं कर्तुं शीलमस्य (स्वभाव से श्राद्ध करने वाला)—श्राद्ध + कृ + ट → श्राद्ध + कृ + अ → ऋ को गुण अर् श्राद्ध + कर, उपपद समास श्राद्धकरः ।

वचनकरः—वचनं करोति, तदनुलोमः । (वचनानुकूल कार्य करने वाला)—वचन + कृ + ट → वचनकरः ।

२३८. एजेरिति—णिच् प्रत्ययान्त (प्रेरणार्थक) एज् (कांपना) धातु से खश् प्रत्यय होता है ।

खश् प्रत्यय में अ शेष रहता है । शित् होने से इसकी सार्वधातुक (तिङ् शित् सार्वधातुकम्) संज्ञा होती है । अतः बीच में शप् (अ) आदि आ जाता है । 'खित्' करने का फल आगे बतलाया जाता है—

२३९. अरुरिति—अरुष् द्विषत् और अजन्त (स्वरान्त) शब्द को मुम् का आगम होता है खिदन्त शब्द परे होने पर; किन्तु अव्यय को नहीं ।

शित्वादिति—खश् प्रत्यय के शित् होने से शप् आदि होते हैं ।

जनमेजयः—जनमेजयति (जनता को कँपाने वाला, संज्ञा है)—णिजन्त एज् धातु (एजि) से खश् प्रत्यय होता है । जन अम् + एजि + खश् → एजि और खश् के बीच में शप्[1] (अ) होकर जन अम् + एजि + अ + अ (खश्) → 'इ' को गुण ए तथा अय् होकर जन अम् + एजय् + अ + अ पहले अ को पररूप[2] होता है तथा अम् का लुक् (सुपो धातु०) होकर → खिदन्त एजयशब्द पर रहने पर अजन्त जन को मुम् (म्)—जन + म् + एजय → जनमेजयः ।

प्रियवश इति—प्रिय और वश (कर्म) उपपद होने पर वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है । खच् में अ शेष रहता है ।

प्रियंवदः—प्रियं वदति (प्रिय बोलने वाला)—प्रिय + वद् + खच् → प्रिय +

१. कर्तरि शप् ३।१।६८।

२. अतो गुणे ६।१।९७।।

२४१ । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५।

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातो स्यु ।

२४२ । नेड्वशि कृति ।७।२।८॥

वशादे कृत इण् न स्यात् । शॄ हिंसायाम् सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

२४३ । विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ।६।४।४१॥

अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् । विजायत इति विजावा । ओणृ अपनये । अवावा । विच् । रिष् हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।

वद् + अ → प्रिय से पर मुम् (म्) का आगम होकर प्रिय + म् + वद् → म् को अनुस्वार प्रियंवद ।

वशंवद —वश वदति (अधीन)—वश + वद् + खच् ।

२४१. अन्येभ्य इति—मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् ये प्रत्यय धातु से देखे जाते हैं ।

इस सूत्र में 'अन्येभ्य' का अर्थ है—पहले सूत्र—आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च ३।२।७४ में कही गई (आकारान्त) धातुओं से भिन्न धातुओं से परे, इसलिये प्रयोग का अनुसरण करके धातु मात्र से ये प्रत्यय होते हैं । मनिन् में मन्, क्वनिप् और वनिप् में वन् शेष रहता है । विच् का लोप (सर्वापहार) हो जाता है ।

२४२ नेडिति—जिस कृत् के आदि में व्, र्, ल् तथा वर्गों के पाँचवे, चौथे, तीसरे अक्षर (वश्) होते हैं (वशादि) उस इट् का आगम नहीं होता । [यह 'आर्धधातुकस्येड् वलादे' का बाधक है] ।

सुशर्मा—सुष्ठु शृणाति (अच्छी तरह हिंसा करता है)—सु उपसर्गपूर्वक शॄ (हिंसा करना) धातु से मनिन् प्रत्यय होकर सुशॄ + मन् → ॠ को गुण अर् होकर सुशर् + मन् → ऊपर के सूत्र से इट् का निषेध होकर सुशर्मन्, प्र० एक० सुशर्मा ।

प्रातरित्वा—प्रातः एति (प्रातः जाने वाला)—प्रातर् पूर्वक इण् (जाना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर प्रातर् + इ + वन् → प्रत्यय के पित् होने से ह्रस्व 'इ' को तुक्[1] का आगम होकर प्रातर् + इ + त् → वन् → प्रातरित्वन्, प्र० एक० प्रातरित्वा ।

२४३ विडिति—विट् और वनिप्, क्वनिप् (वन्) प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक वर्ण को आ हो जाता है ।

विजावा—विजायते (विविध प्रकार से होने वाला)—वि पूर्व जन् (उत्पत्ति, प्रादुर्भाव) धातु से वनिप् प्रत्यय होकर विजन् + वन् → न् (अनुनासिक) को आ विज + आ + वन् → विजावन् । प्र० एक० में विजावा ।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१॥

२४४ । क्विप् च ।३।२।७६।।

अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।

२४५ । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ।३।२।७८।।

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिः स्यात् ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।

अवावा—ओणति अपनयति इत्यर्थः (हटाने वाला)—ओण् (हटाना) धातु से वनिप् प्रत्यय होता है । ओण् + वन् → ण् को आ होकर ओ + आ + वन् → ओ को अव्–अवावन् । प्र० एक० मे अवावा ।

रोट्—(हिंसा करने वाला) रुप् (हिंसा करना) धातु से विच् प्रत्यय होता है । रुप् + विच् → विच् का लोप (सर्वापहारी) तथा 'उ' को गुण ओ होकर रोप् । रोप् से प्रथमा एकवचन मे प् को ड् (जश्त्व) तथा ट् (चर्त्व) होकर रोट् । इसी प्रकार 'रिप्' (हिंसा करना) धातु से रेट् ।

सुगण्—सुष्ठु गणयति (अच्छी तरह गिनने वाला) सु पूर्वक गण धातु से विच् प्रत्यय होता है । सुगण् + विच् → विच् का लोप सुगण् ।

२४४. क्विप् चेति—धातुओं से क्विप् प्रत्यय भी देखा जाता है ।

टिप्पणी—क्विप् का सर्वापहार हो जाता है । यह प्रत्यय कित् और पित् है । कित् होने से गुण-निषेध तथा धातु के नकार का लोप, पित् होने से ह्रस्वान्त धातु को तुक् का आगम होता है ।

उखास्रत्—उखायाः [1] (पात्रात्) स्रंसते [पतीली से गिरने वाला]—उखा-पूर्वक स्रंस् धातु से क्विप् प्रत्यय उखा + ङसि + स्रंस् + क्विप् → क्विप् का लोप तथा प्रत्यय के कित् होने से धातु के न् [अनुस्वार] का लोप उपपद समास तथा सुप् (अस्) लोप होकर उखास्रस् । प्र० एक० मे अन्त के स् को द् और द् को विकल्प से त् (वावसाने से चर्त्व) होकर उखास्रत् ।

पर्णध्वत्—पर्णाद् ध्वंसते [पत्ते से गिरने वाला]—पर्ण + ध्वंस् + क्विप् । शेष उखास्रत् के समान है ।

वाहभ्रट्—वाहात् [अश्वात्] भ्रंशते [अश्व से गिरने वाला]—वाह + भ्रंश् + क्विप्, क्विप् का लोप, न् का लोप होकर वाहभ्रश् । प्र० एकवचन में 'सु' प्रत्यय, सुलोप तथा श् को व्रश्च०' इत्यादि सूत्र से ष् और ष् को ड् [जश्त्व] ट् [चर्त्व] होकर वाहभ्रट् ।

२४५. सुपीति—जातिवाचक [गौ आदि] से भिन्न कोई सुबन्त उपपद होने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है यदि ताच्छील्य (आदत) प्रकट करना हो । 'णिनि' मे इन् शेष रहता है ।

१. पिठरः स्थाली उखा कुण्डम्-अमरकोष ।

२. अनिदितां हल उपाधायाः क्ङिति ।६।४।२४।

३. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।८।२।७२।

२४६। मन ।३।२।८२॥

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी।

२४७। आत्ममाने खश्च ।३।२।८३॥

स्वकर्मके मनने वर्तमानान् मन्यते सुपि खश् स्यात् चाण्णिनिः।

पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितम्मन्यः। पण्डितमानी।

२४८। खित्यनव्ययस्य ।६।३।६६॥

उष्णभोजी—उष्ण भुङ्क्ते तच्छील अथवा उष्ण भोक्तु शीलमस्य (गर्म-गर्म खाने की आदत वाला)—यहाँ उष्ण सुबन्त उपपद है, जो जातिवाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है। उष्णपूर्वक भुज् (खाना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर उष्ण अम्+भुज् इन्→'उ' को गुण ओ तथा उपपद समास और सुप् (अम्) लुक् होकर उष्णभोजिन्; प्र० एक० में उष्णभोजी।

२४६ मन इति—सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से णिनि होता है।

दर्शनीयमानी—दर्शनीय मन्यते (दर्शनीय मानने वाला)—'दर्शनीयम्' सुबन्त उपपद होने पर मन् (जानना, दिवादि) धातु से णिनि प्रत्यय होता है। दर्शनीय अम् +मन्+इन्→मन् के अ को वृद्धि[1] (आ) तथा उपपद समास और सुप् (अम्) लुक् होकर दर्शनीय+मान्+इन्→दर्शनीयमानिन्, प्र० एक० में दर्शनीयमानी।

२४७ आत्ममान इति—अपने आपको (स्वकर्मक) कुछ मानने के अर्थ में विद्यमान मन् से सुबन्त उपपद होने पर खश् प्रत्यय होता है और णिनि भी।

पण्डितम्मन्य —पण्डितमात्मान मन्यते (अपने आपको पण्डित मानता है)—इस विग्रह में 'पण्डितम्' सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है। पण्डित अम्+मन्+खश्→शित् होने से खश् की सार्वधातुक[2] संज्ञा होती है और धातु से[3] श्यन् (य) हो जाता है। उपपद समास तथा सुप् (अम्) का लोप होकर→ पण्डित+मन्+य (श्यन्)+अ=खिदन्त शब्द से पूर्व अजन्त (पण्डित) को मुम् (म्) का आगम होकर पण्डित+म्+मन्य+अ→अ को पररूप[4] होकर पण्डितम्मन्य।

पण्डितमानी —पक्ष में णिनि प्रत्यय होकर पण्डित अम्+मन्+णिनि→ दर्शनीयमानी के समान कार्य होकर रूप बनता है।

२४८ खितीति—खिदन्त परे होने पर अव्यय-भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व होता है।

---

१ अत उपधायाः ।७।२।११६।

२. तिङ्शित् सार्वधातुकम् ।३।४।११३।

३ दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९।

४. अतो गुणे ६।१।९७।

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः स्यात् । ततो मुम् । कालिम्मन्या ।

२४९ । करणे यजः ।३।२।८५।।

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः स्यात्, कर्तरि । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

२५० । दृशेः क्वनिप् ।३।२।९४।।

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान् पारदृश्वा ।

२५१ । राजनि युधि कृञः ।३।२।९५।।

कालिम्मन्या—कालीम् आत्मानं मन्यते (अपने आप को काली समझती है)–काली सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है । धातु से श्यन् होकर काली + मन्य + अ→ऊपर के सूत्र से ई को ह्रस्व इ होकर मुम् का आगम होता है तथा स्त्रीबोधक टाप् प्रत्यय होकर कालिम्मन्या ।

२४९. करण इति—करण कारक उपपद होने पर भूतकाल में यज् धातु से णिनि प्रत्यय होता है, कर्त्ता में ।

टिप्पणी—'करणे यजः २४९' से क्वसुश्च २७१ तक के प्रत्यय भूतकाल में कर्तृ अर्थ में होते हैं ।

सोमयाजी—सोमेन इष्टवान् (जिसने सोमयाग किया, वह)—सोम उपपद होने पर यज् (देवपूजा करना आदि) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । उपपद समास तथा सुप् (टा) लोप होकर सोम यज् + इन् → यज् के अ को वृद्धि[1] (आ) सोमयाजिन्; प्र० एकवचन में इ (उपधा) को दीर्घ तथा न् का लोप होकर सोमयाजी । इसी प्रकार 'अग्निष्टोमेन इष्टवान् इति' अग्निष्टोमयाजी ।

२५०. दृशेरिति—कर्म उपपद होने पर भूतार्थ में दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

पारदृश्वा—पारं दृष्टवान् (जिसने पार को देख लिया)—'पार' उपपद होने पर दृश् (देखना) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में 'क्वनिप्' प्रत्यय, उपपद समास तथा सुप् लोप होकर पार + दृश् + वन्→पारदृश्वन् । प्र० एकवचन में पारदृश्वा ।

टिप्पणी—पारदृश्वन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय तथा न् को 'र्'[2] होकर 'पारदृश्वरी' रूप होता है ।

२५१. राजनि इति—राजन् कर्म उपपद होने पर युध् और कृञ् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

---

१. अत उपधायाः ७।२।११६।

२. वनो र च ४।१।७।

क्वनिप् स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

२५२ । सहे च ।३।२।९६॥

कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा ।

२५३ । सप्तम्यां जनेर्डः ।३।२।९७॥

२५४ । तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।३।१४॥

युधीति—युध् धातु अकर्मक है । इससे पूर्व कर्म उपपद कैसे हो सकता है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं—यहाँ युध धातु अन्तर्भावित—ण्यर्थ ली गई है अर्थात् 'युध्' धातु योधि (युध्+णिच्) प्रेरणार्थक को प्रकट करती है ।

राजयुध्वा—राजान योधितवान् (जिसने राजा को लड़ाया)—राजन् (कर्म) उपपद होने पर युध् (युध करना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । उपपद समास तथा सुप् लोप होकर राजन् के नकार का लोप[1] हो जाता है । राज युध्+वन्→राज युध्वन्→प्र० एक० म राजयुध्वा ।

राजकृत्वा—राजान कृतवान् (जिसने राजा बनाया)—राजान् (कर्म) उपपद होने पर कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । उपपद समास, 'सुप' लोप तथा न् लोप होकर राजकृ+वन् इस दशा मे क्वनिप् के पित् होने से 'कृ' को तुक्[2] का आगम हो जाता है । राजकृ+त्+वन्→राजकृत्वन् । प्र० एक० राजकृत्वा ।

२५२. सहे चेति—'सह' उपपद होने पर युध् और कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

कर्मणीति—इस सूत्र मे कर्मणि निवृत्त हो गया, यहाँ उसकी अनुवृत्ति नही आती, 'क्योंकि 'सह' अव्यय है । इसका विशेषण कर्म नही हो सकता ।

सहयुध्वा—सह योधितवान् (साथ लड़ाया जिसने)—सह उपपद होने पर युध् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर प्र० एक० मे सहयुध्वा । इसी प्रकार 'सह कृतवान् इति' सहकृत्वा ।

२५३ सप्तम्याम् इति—सप्तम्यन्त उपपद होने पर जन् धातु से भूतार्थ मे ड प्रत्यय होता है । [ड मे अ शेष रहता है । यह डित् है]

२५४ तत्पुरुष इति—तत्पुरुष समास मे कृदन्त उत्तरपद होने पर ङि (सप्तमी एक०) का बहुत करके लोप नही होना ।

---

१. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

२. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१॥

ङेरलुक् स्यात् । सरसिजम् । सरोजम् ।

२५५ । उपसर्गे च संज्ञायाम् ।३।२।९९॥

"प्रजा स्यात्सन्ततौ जने ।"

२५६ । क्तक्तवतू निष्ठा ।१।१।२६॥

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

२५७ । निष्ठा ।३।२।१०२॥

सरसिजम्, सरोजम्—सरसि जातम् (सरोवर में उत्पन्न हुआ)—सप्तम्यन्त 'सरस' शब्द उपपद होने पर जन् (उत्पन्न होना) धातु से ड प्रत्यय होता है। सरस् + ङि + जन् + अ (ड) → प्रत्यय के डित् होने से अन् (टि) का लोप[1] होकर सरस् + ङि + ज् + अ → सरस् + ङि + ज यहाँ उपपद समास होने पर ङि (सुप्) का लुक् प्राप्त हुआ[2] ऊपर के सूत्र के अनुसार सप्तमी का विकल्प से लुक् हुआ। जब लुक् नहीं हुआ तो सरसिज रूप बना। लुक् हो जाने पर सन्धि नियम से सरस् के स् को रु, रु को उ तथा अ + उ = ओ होकर 'सरोज'। नपुं० प्र० एक० में सरसिजम्, सरोजम्।

२५५. उपसर्ग इति—उपसर्ग उपपद होने पर जन् धातु से ड प्रत्यय होता है, संज्ञा में।

प्रजा—प्रजाता इति प्रजा (सन्तति, जनता)—प्रपूर्वक जन् धातु से संज्ञा में ड प्रत्यय होकर प्रजन् + अ → अन् (टि) लोप प्रज → स्त्रीत्वबोधक टाप् (आ) होकर प्रजा।

प्रजा स्यादिति—सन्तति और जन (जनता) अर्थ में प्रजा शब्द होता है 'अर्थात्' 'प्रजा' शब्द इनकी संज्ञा है। (अमरकोष)

टिप्पणी—यहाँ से उपपद रहित धातु से होने वाले कृदन्त प्रत्यय कहे जा रहे हैं।

२६६. क्तेति—क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है।

२५७. निष्ठा—भूत-अर्थ में प्रयुक्त धातु से निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

तत्रेति—इन दोनों में से 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः २१२' इसके अनुसार क्त प्रत्यय भाव और कर्म में होता है। क्तवतु प्रत्यय 'कर्तरि कृत् २११' से कर्त्ता में होता है।

उकाविति—उ और क् इत्संज्ञक हैं। क्तवतु में 'उ' की इत् संज्ञा होती है।

---

१. टेः ६।४।१४३—डित् प्रत्यय परे होने पर टि का लोप होता है।

२. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र 'तयोरेव'—इति भावकर्मणोः क्तः। 'कर्तरि कृद्' इति कर्तरि क्तवतु। उकारावितौ। स्नातं मया।

स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

और क्त, क्तवतु दोनों में क की इत् संज्ञा होती है। इत् संज्ञक का लोप हो जाता है। ये दोनों प्रत्यय कित् हैं।

स्नातं मया—(मैंने स्नान किया)—भूतार्थ में विद्यमान स्ना (ष्णा शौचे) धातु से भाव में क्त प्रत्यय होकर स्ना + त → नपु० प्र० एक० में स्नातम्।

विशेष—(१) साधारणतया अकर्मक धातुओं से भाव में क्त होता है, 'स्ना' अकर्मक है। अतः भाव में क्त हुआ है। भाव में (सामान्य) नपुंसक लिङ्ग तथा एकवचन होता है। भाववाच्य का कर्ता तृतीया विभक्ति में होता है इसी से 'मया' यह दिया गया है।

(२) गत्यर्थक, अकर्मक तथा श्लिष्, शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना), वस (रहना) जन् (उत्पन्न होना) रुह् (उगना) जॄ (जजरित होना)—इन धातुओं से कर्ता अर्थ (कर्तृवाच्य) में भी क्त प्रत्यय होता है, जैसे गतं देवदत्तेन, गतः देवदत्तः आदि इसके कुछ उदाहरण इस प्रकरण में आगे मिलेंगे।[1]

स्तुतस्त्वया विष्णुः—(तुमने विष्णु की स्तुति की)—भूतार्थ में स्तु (स्तुति करना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होकर स्तु + त → प्रत्यय के कित् होने से 'उ' को गुण नहीं होता[2] स्तुत, पु० प्रथमा एक० में स्तुतः।

विशेष—सकर्मक धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है, स्तु धातु सकर्मक है। अतः इससे कर्म में 'क्त' हुआ है। कर्म के अनुसार ही उसके लिङ्ग वचन और विभक्ति होते हैं, यह दिखलाने के लिये स्तुतः विष्णुः (पु०, प्रथमा एक०) दिया गया है, कर्म क्त प्रत्यय द्वारा 'उक्त' है, अतः विष्णु (कर्म) में प्रथमा है। कर्म में प्रत्यय होने से कर्ता अनुक्त है। अतः कर्ता तृतीया विभक्ति में है। इसी से 'त्वया' में तृतीया विभक्ति है।

विश्वं कृतवान् विष्णुः (संसार को विष्णु ने बनाया)—'कृ' धातु से कर्ता में क्तवतु प्रत्यय होता है, कृ + तवत् → कित् होने से गुण का अभाव कृतवत्। पु० प्रथमा एकवचन में कृतवान्।

विशेष—प्रातिपदिक से सुबन्त पद कैसे बनते हैं, यह कौमुदी के सुबन्त प्रकरण में दिया गया है। यहाँ संक्षेपतः पुंल्लिङ्ग में कृतवत् + सु → क्तवतु के उगित् होने से नुम्[3] का आगम कृतवन्त् + सु → सुलोप, त् लोप तथा नान्त की उपधा (अ) को दीर्घ[4] होकर कृतवान् बनता है।

---

१. गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च ३।४।७२।

२. क्ङिति च १।१।५।

३. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०।

४. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८।

२५८। **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** ।८।२।४२॥

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्। निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ हिंसायाम्। ऋत इत्। रपरः। णत्वम्। शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

२५९। **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** ।८।२।४३॥

निष्ठातस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

२६०। **ल्वादिभ्यः** ।८।२।४४॥

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या धातुः। ग्रहिज्येति संप्रसारणम्।

स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) होकर कृतवत्+ई कृतवती। प्र० एक० में सुलोप होकर कृतवती (नदी के समान) नपुंसकलिङ्ग में सुलोप होकर कृतवत्।

२५८. **रदाभ्यामिति**—र् और द् से परे निष्ठा के त् को न् हो जाता है और निष्ठा से पूर्व धातु के द् को भी न् हो जाता है।

शीर्णः—(नष्ट हुआ)—शॄ (हिंसा करना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है। ॠ को रेफ सहित इकार होकर इर्[1] तथा इ को दीर्घ[2] (ई) होकर शीर्+त इस अवस्था में र् से परे निष्ठा के त् को न हो जाता है, न् को ण् होकर शीर्+ण→ शीर्ण, पुं० प्र० एक० में शीर्णः।

भिन्नः (फाड़ा हुआ)—भिद् (फाड़ना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है। भिद्+त यहाँ द् से परे निष्ठा के त् को न तथा पहले द् को भी न् होकर भिन्+न् →भिन्नः। इसी प्रकार छिद् (काटना) छिन्नः (काटा हुआ)।

२५९. **संयोगादेरिति**—जिस धातु के आदि में व्यञ्जनों का संयोग हो, अन्त में आकार हो तथा उसमें य् र् ल्, व् (यण्) में से कोई अक्षर हो, उस धातु से परे निष्ठा के त् को न् होता है।

द्राणः—द्रा (कुत्सित गति) धातु से क्त प्रत्यय होकर द्रा+त यहाँ द्रा धातु के आदि में (द् और र् का) संयोग और अन्त में आकार है तथा इसमें र् (यण्) भी है अतः निष्ठा के त् को न् होकर द्रा+न→न को ण→द्रा+ण→द्राणः।

ग्लानः—(दुःखी)—ग्लै (हर्षक्षय) धातु से क्त प्रत्यय होता है। धातु के ऐ को आ होकर[3] ग्ला+त इस दशा में ऊपर के सूत्र से त् को न होकर ग्लानः।

१६०. **ल्वादिभ्य इति**—इक्कीस लूञ् (छेदने) आदि धातुओं से परे निष्ठा के त् को न् होता है।

ये धातुएँ धातु पाठ में क्र्यादि गण में स्थित हैं।

---

१. ऋत इद् धातोः ७।१।१००।

२. हलि च ८।२।७७।

३. आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५।

२६१। हलः ।६।४।२॥

अङ्गावयवाद्धल परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः स्यात्। जीनः।

२६२। ओदितश्च ।८।२।४५॥

भुजो—भुग्नः। टुओश्वि—उच्छूनः।

२६३। शुषः कः ।८।२।५१॥

निष्ठातस्य कः स्यात्। शुष्कः।

लूनः—(काटा हुआ)—लूञ (काटना) धातु से क्त प्रत्यय होकर लू+त→त् को न→लून।

२६१ हल इति—अङ्ग के अवयव व्यञ्जन (हल्) से परे जो सम्प्रसारण हो तदन्त को दीर्घ हो जाता है।

जीन—(जीर्ण आयु वाला) ज्या (जीर्ण होना) धातु से क्त प्रत्यय होकर ज्या+त इस दशा में क्त के कित् होने के कारण य को इ (सम्प्रसारण[1]) हो जाता है। ज्+इ+आ त इस दशा में आकार का 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप (इ+आ =इ) जि+त=ल्वादि में होने से निष्ठा त् को न् तथा 'हलः' से इ को दीर्घ (ई) जी+न=जीन।

२६२ ओदितश्चेति—जिन धातुओं में 'ओ' की इत् संज्ञा होती है, उनसे परे निष्ठा के त् को न् होता है।

भुग्न—(टेढ़ा)—भुजो (कौटिल्ये) धातु में 'ओ' की इत्संज्ञा और लोप होकर भुज् शेष रहता है। भुज्+क्त=भुज्+त=ऊपर के सूत्र से त् को न्—भुज्+न्—ज् को ग्[2] होकर भुग्+न=भुग्न।

उच्छून—(बढ़ा हुआ, सूजा हुआ)—उत् पूर्वक टुओश्वि (गति तथा वृद्धि) धातु में क्त प्रत्यय होता है। उत्+श्वि+त→ओदित् होने से निष्ठा त् को न् उत्+श्वि+न इस दशा में व् को सम्प्रसारण[3] (उत्+श्+उ+इ)+न→इ को पूर्वरूप[4] (उ+इ=उ) उत्+श्+उ+न→उ को दीर्घ[5] उत्+शू+न→सन्धि कार्य होकर उच्छून।[6]

२६३ शुष इति—शुष् धातु से परे निष्ठा के त् को क् हो जाता है।

शुष्क (सूखा)—शुष्+त→त को क होकर शुष्+क=शुष्क।

---

१. ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६। सूत्र,पठित धातुओं को कित् ङित् परे होने पर सम्प्रसारण होता है।

२. चोः कुः ८।२।३०।

३ वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५। [श्वि धातु यजादि धातुओं में है]

४ सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८। ५. हल. ६।४।२।

६ यहाँ 'श्वीदितो निष्ठायाम् ७।२।१४।' से इट् का निषेध हो जाता है।

२६४। पचो वः ।८।२।५२॥

पक्वः। क्षै क्षये।

२६५। क्षायो मः ।८।२।५३॥

क्षामः।

२६६। निष्ठायां सेटि ।६।४।५२॥

णेर्लोपः। भावितः। भावितवान्। दृह हिंसायाम्।

२६७। दृढः स्थूलबलयोः ।७।२।२०॥

स्थूले बलवति च निपात्यते।

२६८। दधातेर्हिः ।७।४।४२॥

तादौ किति। हितम्।

---

२६४. पच इति—पच् धातु से परे निष्ठा के त् को व् होता है।

पक्वः (पका हुआ)—पच् (पकाना) धातु से क्त प्रत्यय होकर पच्+त, त को व→पच्+व→च् को क्[1] पक्व,।

२६५. क्षाम इति—क्षै (हर्षक्षये) धातु से परे निष्ठा के त् को म् होता है।

क्षामः (क्षीण, कृश)—क्षै धातु से क्त प्रत्यय होकर धातु के ऐ को 'आ' हो जाता है, क्षा+त इस दशा में त् को म् होकर क्षा+म=क्षामः। (यहाँ कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ है)।

२६६. निष्ठायामिति—इट् सहित (सेट्) निष्ठासंज्ञक प्रत्यय परे होने पर णि (णिच्) का लोप होता है।

भावितः, भावितवान्—यहाँ णिजन्त (प्रेरणार्थक) भू धातु (भू+णिच् वृद्धि आवादेश भावि) से क्त तथा क्तवतु प्रत्यय होते हैं। भावि+क्त, भावि+क्तवतु→त और तवत् के वलादि होने से इट्[2] का आगम होता है। भावि+इ+त तथा भावि+इ+तवत् इस दशा में णि का लोप होकर भाव्+इ+त=भावितः, भावितवान्।

२५७. दृढ इति—स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द का निपातन किया जाता है।

दृढः—(स्थूल, बलवान्)—दृह् (हिंसार्थक) धातु से क्त प्रत्यय होकर निपातन से इट् का अभाव, निष्ठा त को ढ तथा ह् का लोप होकर दृढ शब्द बनता है। (द्र० सिद्धान्त कौमुदी)

टिप्पणी—सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार दृह्, दृहि वृद्धौ, से यह शब्द बनता है। यही उचित भी है 'दृह' हिंसायाम् से नहीं।

२६८. दधातेरिति—धा धातु को 'हि' आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर।

---

१. चोः कुः ८।२।३०। २. आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५।

२६९। दो दद्घोः ७।४।४६॥

घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य दथ् स्यात् तादौ किति । चर्त्वम् । दत्तः ।

२७०। लिटः कानज्वा ।३।२।१०६॥

२७१। क्वसुश्च ।३।२।१०७॥

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् । चक्राणः ।

२७२। म्वोश्च ।८।२।६५॥

मान्तस्य धातोर्नत्वं स्यात् म्वोः परतः । जगन्वान् ।

हितम्—धा (धारण तथा पोषण करना) धातु से क्त प्रत्यय होकर धा+क्त→धा+त इस दशा में क्त के कित् होने से धा को हि आदेश हो जाता है। हि+त→नपुं० प्रथमा एक० में हितम्।

२६९ दो दद्घोरिति—घुसंज्ञक दा धातु को दद् आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर।

दत्तः (दिया हुआ)—दा (देना) धातु से क्त प्रत्यय होकर दा को दद् आदेश हो जाता है। दद्+त→द् को त् (चर्त्व) होकर दत्+त→दत्त।

टिप्पणी—यहाँ दा को दद् या दथ् आदेश होता है, ये दो मत हैं।

२७० लिट इति—लिट (लकार) को कानच् आदेश होता है विकल्प से। कानच् में आन शेष रहता है।

२७१ क्वसुरिति—लिट को क्वसु आदेश भी होता है विकल्प से। क्वसु में वस् शेष रहता है।

तङ् इति—तङ् (त से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले ९ प्रत्यय) तथा आन (कानच् शानच् आदि) की आत्मनेपद संज्ञा होती है। ये आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं यह भाव है।

चक्राणः—(भूतकाल में करता हुआ)—कृ (करना) धातु से परे लिट् के स्थान में कानच् होता है। कृ+आन→कानच् (लिट्) परे होने धातु को द्वित्व कृ+कृ+आन→अभ्यासकार्य[1] होकर च+कृ+आन→ऋ को र् (यण्), न को ण होकर चक्राण।

२७२ म्वोश्चेति—मकारान्त धातु (के अन्त्यवर्ण) को नकार आदेश हो जाता है मकार और वकार परे रहने पर।

जगन्वान्—गम् (जाना) धातु से परे लिट् के स्थान में क्वसु हो जाता है। गम्+वस्→धातु को द्वित्व आदि कार्य होकर जगम्+वस् इस दशा में ऊपर के सूत्र से म् को न् होकर 'जगन्वस्'। पुं० प्रथमा एकवचन में जगन्वान्।

टिप्पणी—जगन्वस् शब्द के रूप 'विद्वस्' के समान चलते हैं।

---

१. पूर्व कृ की अभ्याससंज्ञा (पूर्वोऽभ्यासः) उसके 'ऋ' को अर् (उरत्, उरण् रपरः), र लोप (हलादि शेष), क्=च्।

२७३। लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ।३।२।१२४॥

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ स्तः। शबादि। पचन्तं चैत्रं पश्य।

२७४। आने मुक् ।७।२।८२॥

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः।

---

२७३. लट इति—प्रथमान्त से। भिन्न पद के साथ समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान में शतृ और शानच् होते हैं।

शतृ में 'अत्' तथा शानच् मे 'आन' शेप रहता है। ये दोनों प्रत्यय वर्तमान काल में होते है। शतृ परस्मैपदी धातुओं से होता है तथा शानच् आत्मनेपदी धातुओं से।

शबादिति—शतृ और शानच् प्रत्यय परे होने पर शप् आदि प्रत्यय (विकरण) होते है। इन दोनों में श् की इत्संज्ञा होने से ये शित् हैं। शित् होने से इनकी सार्वधातुक संज्ञा है अतः भू + शप् + ति = भवति आदि के समान इनके परे रहने पर भी शप् आदि होते हैं। शप् में अ शेप रहता है।

पचन्तं चैत्रं पश्य—(पकाते हुए चैत्र को देखो)—पच् धातु से परे लट् के स्थान मे शतृ होता है। पच् + अत् → धातु से आगे शप् होकर पच् + अ + अत् → 'अतो गुणे' से पररूप (अ + अ = अ) होकर पचत्। यह द्वितीयान्त "चैत्र" का समानाधिकरण है इसलिये पुंल्लिङ्ग द्वितीया एकवचन मे पचन्तम्।

टिप्पणी—शतृ प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं:—नपुं० लिङ्ग में 'पचत्' आदि 'जगत्' के समान, पुंल्लिङ्ग में पचन्, पचन्तौ, पचन्तः इत्यादि तथा स्त्रीलिङ्ग में ङीप्[1] और नुम्[2] (न्) का आगम होकर पचन्ती इत्यादि नदी के समान रूप होते हैं।

२७४. आन इति—अकारान्त अङ्ग को मुक् (म) का आगम होता है, आन परे होने पर।

पचमानं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो);—पच् धातु से परे लट् के स्थान पर 'शानच्' होता है। पच् + आन → शप् (अ) होकर पच् + अ + आन → पच + आन इस अवस्था में अदन्त अङ्ग 'पच' को 'आन्' परे होने पर मुक् (म्) का आगम हो जाता है → पच् + म् + आन, पुं० द्वितीया एक० में पचमानम्।

---

१. उगितश्च ४।१।६ शतृ प्रत्यय में ऋकार की इत् संज्ञा होती है अतः पचत् इत्यादि शतृ प्रत्ययान्त शब्द उगित् हैं। २. शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१।

२७५। विदे शतुर्वसु ।७।१।३६॥

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा स्यात् । विदन् । विद्वान् ।

२७६। तौ सत् ।३।२।१२७॥

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।

२७७। लृट सद्वा ।३।३।१४॥

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनाप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम् । करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य ।

टिप्पणी—शानच् प्रत्ययान्त शब्द भी तीनों लिङ्गों में होते हैं पु० तथा नपु० में अकारान्त शब्दों के समान तथा स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होकर पचमान+आ→पचमाना आदि 'रमा' के समान रूप होते हैं।

लडिति—इस सूत्र में वर्तमाने लट् ३।२।१२३। से लट् की अनुवृत्ति हो ही जाती, फिर भी यहाँ लट् ग्रहण किया है, इससे प्रथमान्त से सामानाधिकरण्य होने पर भी कहीं लट् को शतृ, शानच् हो जाते हैं।

सन् द्विजः (विद्यमान ब्राह्मण)—'अस्ति द्विजः' इस अर्थ में प्रथमान्त की समानाधिकरण अस् धातु से लट् के स्थान में शतृ हो जाता है। अस्+अत् इस दशा में धातु के अ का लोप[1] होकर स् अत्—सत् प्रातिपदिक बनता है। इससे पु० प्रथमा-एकवचन में सन्। नपु० सत्। स्त्री० सती।

टिप्पणी—सूत्र के अनुसार शतृ और शानच् प्रत्ययों का अप्रथमान्त प्रयोग ही प्राप्त है। इस ज्ञापक से प्रथमान्त प्रयोग भी होता है यह बात जानी जाती है। वास्तव में प्रथमान्त प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं, उनमें से ही 'सन् द्विजः' यह एक है।

२७५. विदेरिति—विद् (ज्ञाने अदा०) से परे शतृ को 'वसु' आदेश हो जाता है विकल्प से। वसु में वस् शेष रहता है।

विदन्, विद्वान्—विद् (जानना) धातु से परे लट् के स्थान में शतृ होता है। शतृ के स्थान में विकल्प से वसु होकर विद्+वस्→विद्वस्→पु० प्र० एक० में विद्वान्। स्त्री० विदुषी। पक्ष में विद्+अत् (शतृ) विदत्—विदन्।

२७६. तौ सदिति—वे शतृ और शानच् सत्संज्ञक होते हैं।

२७७. लृट इति—लृट् के स्थान में सत् संज्ञक (शतृ शानच्) प्रत्यय होते हैं विकल्प से।

व्यवस्थितेति—यह व्यवस्थित विभाषा है अर्थात् सत् संज्ञक प्रत्ययों का विकल्प व्यवस्थित रूप में होता है, कहीं ये नित्य हो जाते हैं कहीं नहीं होते। इस-

---

१. श्नसोरल्लोपः ६।४।१११।

२७८. । आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ।३।२।१३४॥

-क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

२७९. । तृन् ।३।२।१३५॥

कर्ता कटान् ।

२८०. । जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ।३।२।१५५॥

लिये अप्रथमा-सामानाधिकरण्य मे, प्रत्यय तथा उत्तर पद परे होने पर, सम्बोधन में तथा लक्षण और हेतु अर्थ में नित्य (लृट् को) शतृ शानच् होते हैं।

इनमें से यहाँ (लघुकौमुदी में) अप्रथमा सामानाधिकरण्य में शतृ आदि का उदाहरण पहले दिया गया है अन्यों (प्रत्यय आदि) मे नहीं। इसी से अप्रथमा सामानाधिकरण्य का उदाहरण ही नीचे देते हैं।

करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य (भविष्य में कार्य करने वाले को देखो)--कृ धातु से परे लृट् के स्थान मे शतृ और शानच् होते है। लृट् के स्थान में होने के कारण इनके परे होने पर 'स्य'[1] आ जाता है। कृ+स्य+अत् तथा कृ+स्य+मान—इट् होकर तथा ऋ को गुण अर् होकर कर्+इ स्य+अत् तथा कर्+इ+स्य+मान →स् को ष् तथा न् को ण् करिष्यत्, करिष्यमाण पुं० द्वितीया एकवचन में करिष्यन्तं करिष्यमाणम्।

२७८. आ क्वेरिति—आगे कहे जाने वाले क्विप् पर्यन्त प्रत्यय तच्छील तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्ता के अर्थ में होते है, यह जानना चाहिये।

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८ में विहित क्विप् प्रत्यय पर्यन्त यहाँ से आगे कहे गये प्रत्यय इन तीन अर्थों मे होते हे :—१. उस शील (आदत) वाला, २. उसे धर्म कर्तव्य मान कर करने वाला, ३. उसे भली प्रकार करने वाला।

२७९. तृन् इति--धातु से तृन् प्रत्यय होता है तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में। कर्ता कटान्—(चटाई बनाने की आदत वाला, धर्म मानकर चटाई बनाने वाला या अच्छी प्रकार चटाई बनाने वाला)—कृ (करना) धातु से कर्तुं शीलमस्य (करना जिसका स्वभाव है) इस अर्थ में तृन् प्रत्यय होकर कृ+तृ→ऋ को गुण कर्+तृ=कर्तृ—पुं० एकवचन में कर्ता।

यहाँ 'कटान्' में द्वितीया होती है 'कर्तृकर्मणोः कृति' से जो षष्ठी प्राप्त होती है उसका 'न लोका०' निषेध हो जाता है।

२८०. जल्पेति—जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट और वृङ् धातुओं से तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में षाकन् प्रत्यय होता है।

१. स्यतासी लृलुटोः ३।१।३३

२८१. । षः प्रत्ययस्य ।१।३।६॥

प्रत्ययस्यादि. ष. इत्संज्ञ स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाक । वराक, वराकी ।

२८२. । सनाशंसभिक्ष उ ।३।२।१६८॥

चिकीर्षु । आशंसुः । भिक्षु ।

२८३. । भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुव क्विप् ।३।२।१७७॥

विभ्राट् । भा ।

---

२८१. ष इति—प्रत्यय के आदि ष् की इत् संज्ञा होती है । इत्संज्ञक ष् का लोप हो जाता है तथा षाकन् में आक बचता है ।

जल्पाकः—जल्पितु शीलमस्य (बोलना है स्वभाव जिसका)—जल्प धातु से षाकन् प्रत्यय होकर जल्प् + आक → जल्पाक ।

इसी प्रकार भिक्ष् + षाकन् → भिक्षाक (मांगने के स्वभाव वाला) । कुट्ट + षाकन् → कुट्टाक (कूटने के स्वभाव वाला) लुण्ट + षाकन् → लुण्टाक (लूटने के स्वभाव वाला) । वृ (चाहना) + षाकन् → वर् + आक = वराकः (चाह के स्वभाव वाला, बेचारा) ।

वराकी—षाकन् प्रत्यय के षित् होने के कारण इससे बने हुए शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष्[1] प्रत्यय हो जाता है—वराक + ई (ङीष्) = वराकी ।

२८२. सनेति—सन् प्रत्ययान्त धातु से तथा आङ् पूर्वक शस् और भिक्ष् धातु से उ प्रत्यय होता है, तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में ।

चिकीर्षुः—(करने की इच्छा वाला)—कृ धातु से कर्तुमिच्छति (करना चाहता है) इस अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष' सन्नन्त धातु बनती है । चिकीर्ष धातु से उ प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष + उ → ष् से पर वाले अ का लोप[2]' चिकीर्ष् + उ = चिकीर्षु ।

आशंसु (आशा करने वाला)—आङ् (उपसर्ग) सहित शस् धातु से उ प्रत्यय होकर आशस् + उ = आशंसु ।

भिक्षु (भिक्षा करने वाला)—भिक्ष् धातु से उ प्रत्यय होकर भिक्ष् + उ = भिक्षु ।

२८३. भ्राजेति—भ्राज्, भास्, धुर्वि, द्युत्, ऊर्ज्, पृ, जु तथा ग्राव पूर्वक स्तु धातु से क्विप् प्रत्यय होता है तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में ।

विभ्राट् (विशेष दीप्ति वाला) वि पूर्वक भ्राज् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय होता है । क्विप् का (सर्वापहार) लोप होकर विभ्राज् शब्द बनता है । प्र०

---

१. षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१॥

२. अतो लोपः ६।४।४८॥

२८४। राल्लोपः ।६।४।२१॥

रेफाच्छ्वोर्लोपः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः. जूः। ग्रावस्तुत्।

*(वा) क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च॥

वक्तीति वाक्।

एक० में 'सु' आकर उसका लोप हो जाता है। ज् को ष्[1] और ष् को ड् (जश्त्व) तथा ड् को ट् (चर्त्व) होकर विभ्राट्।

भाः (दीप्ति, चमक)—भास्+क्विप्→क्विप् का लोप भास्। प्रथमा एक० 'सु' का लोप होकर भास् के स् को विसर्ग होकर भाः।

२८४. राल्लोप इति—रेफ (र) से परे च्छ् और व् का लोप होता है, क्विप् और झलादि (जिसके आदि मे वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम अक्षर तथा श ष स ह=झल् हो) कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।

धूः (धुर्)—धुर्व (हिंसार्थक) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर क्विप् का लोप हो जाता है। 'राल्लोपः' से व् का लोप होकर 'धुर्' कृदन्त शब्द बनता है। इससे प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय, उसका लोप, उ को दीर्घ (र्वोरुपधायाः) तथा र् को विसर्ग होकर धूः।

विद्युत् (बिजली)—वि उपसर्ग सहित द्युत् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है। विद्युत् कृदन्त शब्द से प्रथमा एकवचन में 'सु' लोप होकर विद्युत्।

ऊर्क् (बल वाला)—ऊर्ज् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर क्विप् का लोप हो जाता है। ऊर्ज् कृदन्त शब्द से प्र० एक० में ज् को ग्[2] तथा क् होकर 'ऊर्क्'।

पूः (पुर् नगर)—पॄ (पालन, पूर्ण करना) धातु से क्विप्, क्विप् का लोप। पॄ के ॠ को उर्[3]=पुर् कृदन्त शब्द से प्र० एक० मे पूः (धूः के समान)।

दृशीति—अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८ सूत्र से 'दृश्यते' का अपकर्ष होने से (और उसका अर्थ अन्य कार्य भी देखे जाते हैं यह मानने पर) क्विप् प्रत्यय परे होने पर जु धातु को दीर्घ हो जाता है।

टिप्पणी—यहाँ अपकर्ष का अर्थ है आगे के सूत्र से पहले सूत्र में किसी शब्द का खींचना। (विशेष देखिये विषय-प्रवेश)।

जूः (वेग वाला)—जु (गति) धातु से क्विप्, क्विप् लोप, उ को दीर्घ ऊ। जू ऊकारान्त कृदन्त शब्द से प्र० एक० में जूः।

---

१. व्रश्चभ्रस्ज० ८।२।३६

२. चोः कुः ८।२।३०

३. उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२। से ॠ को (र पर) उ होता है।

२८५. । च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।६।४।१९॥

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श् ऊठ् इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौतीति आयतस्तूः । कट प्रवते कटप्रूः । जूरुक्त । श्रयति हरिं श्रीः ।

ग्रावस्तुत् (शैल या पाषाण के गुण गाने वाला)—ग्रावन् उपपद पूर्वक स्तु (स्तुति करना, गुण बखानना) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है। धातु से आगे 'तुक्' (त्) का आगम होकर 'ग्रावस्तुत्' कृदन्त शब्द बनता है। प्र० एक० मे ग्रावस्तुत् ।

क्विब्विति (वा)—वच्, प्रच्छ्, आयत पूर्वक स्तु, कट पूर्वक प्रु, जु, श्रि धातु से क्विप् प्रत्यय होता है, इन्हें दीर्घ होता है और सम्प्रसारण नहीं होता।

वाक्—वक्ति, इति (जो बोलती है, वाणी)—वच् (बोलना) धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप और 'अ' को दीर्घ होकर 'वाच्' कृदन्त शब्द बनता है। प्र० एक० मे वाक्—(यह स्त्रीलिङ्ग है)।

२८५ च्छ्वोरिति—तुक् सहित छ् (च्छ) को तथा व् को क्रमशः श् और ऊठ् (ऊ) आदेश होते हैं अनुनासिक, क्विप् और झलादि कित् ङित् परे होने पर।

प्राट्—पृच्छति, इति (पूछने वाला)—प्रच्छ्, धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव होने पर प्राच्छ्→ऊपर के सूत्र से च्छ् को श् आदेश होकर प्राश् कृदन्त से प्र० एक० मे श् को ष्, ड् तथा ट् होकर प्राट् (विभ्राट् के समान)।

आयतस्तू—आयत स्तौति, इति (विस्तार से गुण गाने वाला)—आयत पूर्वक स्तु धातु से क्विप्, उसका लोप, दीर्घ होकर आयतस्तू बनता है। प्र० एक० मे आयतस्तूः ।

कटप्रूः—कटं प्रवते (चटाई बनाने वाला) कट पूर्वक प्रु धातु से क्विप् तथा दीर्घ होकर 'कटप्रू' । प्र० एक० कटप्रूः ।

जूरुक्त इति—'जू' ऊपर कहा जा चुका है।

श्री—(लक्ष्मी सम्पत्ति)—'श्रयति हरिम्' (हरि का आश्रय लेने वाली) यह एक अर्थ दिखलाया गया है यथार्थ में तो "श्रयति, इति श्रीः" यही व्युत्पत्ति है। श्रि (सेवा करना) धातु से क्विप् तथा दीर्घ होकर श्री। यह स्त्रीलिङ्ग है। यह ङी प्रत्ययान्त नहीं अतः सु का लोप नहीं होता-अपितु स् को विसर्ग होकर 'श्रीः'।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

२८६ । दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ।३।२।१८२॥

दावादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे ।

दात्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ।

२८७ । तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ।७।२।९॥

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न स्यात् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

---

२८६. दाम्नीति—दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (हिंसा करना), यु (मिलाना), युज् (युक्त करना), स्तु (स्तुति करना), तुद (पीड़ा देना), सि (बाँधना), सिच् (सींचना), मिह (सींचना, मूत्र त्याग करना), पत् (गिरना), दश् (काटना), नह् (बाँधना), इन धातुओं से ष्ट्रन् (त्र)[1] प्रत्यय होता है करण अर्थ में ।

दात्रम्—दाति अनेन (इससे काटता है, दराँती)—दा धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर दात्र—नपुं० प्रथमा एक० दात्रम् ।

नेत्रम् (आँख) नी धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर नी+त्र→ई को गुण ए—नेत्र =नेत्रम् ।

२८७. तितुत्रेति—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इन दस कृत्प्रत्ययों को इट् नहीं होता ।

यहाँ त्र (ष्ट्रन्) में जिन धातुओं को इट् प्राप्त था उनसे इट् का निषेध दिखलाने के लिये यह सूत्र दिया गया है ।

शस्त्रम्—(शस्त्र हथियार) शस् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय, इट् का अभाव, शस्+त्र=शस्त्रम् ।

योत्रम् (बैल के गले में बाँधने की पेटी, जोत)—यु+त्र→उ को गुण (ओ) होकर योत्रम् ।

योक्त्रम् (जोत)=योत्र का पर्याय है । युज् धातु से ष्ट्रन् होकर उ को गुण ओ तथा ज् को ग्→क् होकर योक्+त्र=योक्त्रम् ।

स्तोत्रम् (स्तुति, स्तव, स्तुति पाठ के श्लोक)—स्तु+ष्ट्रन→उ को गुण ओ स्तोत्रम् ।

तोत्त्रम् (चाबुक, आर आदि)—तुद+त्र→उ को गुण ओ तथा द् को त् (चर्त्व) होकर 'तोत्त्रम्' ।

सेत्रम्—(बाँधने की रस्सी)—सि धातु से ष्ट्रन्, इ को गुण (ए) होकर सेत्रम् ।

सेक्त्रम् (सींचने का पात्र)—सिच् धातु से ष्ट्रन्, इ को गुण (ए) तथा च को क् होकर सेक्त्रम् ।

---

१. ष्ट्रन् में से ष् और न् चला जाता है । ष् के चले जाने पर ट् अपने रूप में आ जाता है और प्रत्यय का 'त्र' रूप रहता है ।

२८८ । अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ।३।२।१८४।
अरित्रम् । लवित्रम् । धुवित्रम् । सवित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

मेढ्रम् (मूत्रेन्द्रिय)—मिह् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय गुण मेह्+त्र इस दशा में ह् को ढ्[1] त् को ध्[2] तथा ढ्[3] और पहले ढ का लोप[4] होकर मे+ढ्र—मेढ्रम् ।

पत्त्रम् (सवारी पत्ता पंख आदि)—पत्+त्र— पत्त्रम् ।

दंष्ट्रा (दाढ)—दंश्+त्र—श् को ष् होकर दंष्+त्र—त को ट् (ष्टुत्व) दंष्ट्र स्त्री बोधक टाप्[5] प्रत्यय होकर दंष्ट्रा ।

नद्ध्री (हल आदि मे बांधने की रस्सी, नाडी)—नह् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर ह को ध (नहो धः) तथा त को ध् होकर नध्+ध्र—पहले ध् को द्—नद्ध्र—षित् होने से ङीष् प्रत्यय होकर नद्ध्री ।

२८८. अर्तीति—ऋ (जाना) लू (काटना), धू (कांपना) सू (प्रेरणा देना), खन् (खोदना), सह् (सहन करना) चर् (जाना, खाना) इन धातुओ से इत्र प्रत्यय होता है ।

अरित्रम्—(नाव चलाने का डंडा)—ऋ धातु से इत्र प्रत्यय होकर ऋ+इत्र—ऋ को गुण (अर्) होकर अर्+इत्र—अरित्र, नपु० प्रथमा एक० मे अरित्रम् ।

टिप्पणी—इत्र पत्ययान्त शब्द प्रायेण नपुंसकलिङ्ग मे होते हैं ।

लवित्रम्—(चाकू, छुरा)—लू धातु से इत्र प्रत्यय होकर लू+इत्र—ऊ को गुण ओ तथा ओ को अव् लवित्रम् ।

धुवित्रम्[6] (पखा)—धू धातु से इत्र प्रत्यय होकर धू+इत्र इस दशा मे धू धातु के कुटादि मे होने के कारण 'इत्र' को ङित् के समान मान लिया जाता है[7] तथा गुण नही होता ।[8] उ को उव् (उवङ्) होकर ध्+इत्र=धुवित्रम् ।

सवित्रम्—(प्रेरणा का साधन)—सू धातु से इत्र प्रत्यय, ऊ को गुण ओ तथा ओ को अव् होकर सवित्रम् ।

इसी प्रकार खन्+इत्र=खनित्रम् (कुदाल)—सह+इत्र=सहित्रम् (सहन करने का साधन), चर्+इत्र=चरित्रम् ।

---

१ हो ढः ८।२।३१। २. झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०।

३ ष्टुना ष्टुः ८।४।४१। से ष्टुत्व । ४ ढो ढे लोपः ८।३।१३।

५ अजाद्यतष्टाप् ४।१।४ प्रत्यय के षित् होने पर भी अजादि गण मे होने के कारण टाप् होता है ।

६ 'धुवित्रं व्यजनं तद् यद्रचितं मृगचर्मणा' अमरकोष ।

७ गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१। ८. क्ङिति च १।१।५

२८९। पुवः संज्ञायाम् ।३।२।१८५॥

पवित्रम् ।

इति पूर्वकृदन्तम् ॥३॥

अथोणादयः ॥

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ॥१॥

करोतीति कारुः। वातीति वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः। पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु शीघ्रम्।

---

२८९ पुव इति—पू धातु से संज्ञा में इत्र प्रत्यय होता है।

पवित्रम् (पवित्र करने का साधन)—पू + इत्र → ऊ को गुण ओ तथा अव् आदेश होकर पवित्रम् । [यह उस दर्भ की संज्ञा है जो यज्ञादि के अवसर पर अनामिका अंगुली में अंगूठी के समान धारण किया जाता है। 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्' अमरकोष ॥]

इति पूर्वकृदन्तम् ॥२॥

अथोणादयः—जिन प्रत्ययों के आदि में उण् प्रत्यय है वे उणादि प्रत्यय कहलाते हैं। ये प्रत्यय कृत् प्रत्यय के अन्तर्गत हैं, अष्टाध्यायी से पृथक् ५ पाद जिनमें ७५९ सूत्र हैं उणादि कोष या 'उणादि प्रकरण' नाम से प्रसिद्ध हैं।

कृवेति—कृ (करना), वा (गति, गन्ध), पा (पीना, रक्षा करना), जि (जीतना) मि (फेंकना), स्वद् (चखना), साध् (सिद्ध करना), अश् (व्याप्त होना) इन धातुओं से उण् प्रत्यय होता है।

कारुः (शिल्पी)—करोति इति, इस अर्थ में कृ धातु से उण् प्रत्यय होकर कृ + उ → ऋ को वृद्धि आर् कार + उ = कारु ; प्र० एक० में कारुः।

वायुः—वाति इति (जो बहती है, निरन्तर चलती है)—इस अर्थ में वा + उण् = युक्[1] (य्) का आगम होकर वा + य् + उ → वायुः। इसी प्रकार पा + य् (युक्) + उण् पायुः (गुदा)।

जायुः—(औषध) जयति रोगान् इति (रोगों को जीतने वाली) जि + उण् = णित् होने से 'इ' को वृद्धि[2] (ऐ) तथा ऐ को आय् होकर जाय् + उ → जायुः, इसी प्रकार मि + उण् → मायुः (पित्त)।

स्वादुः (स्वादिष्ट)—स्वद् धातु से उण् प्रत्यय, अ को वृद्धि[3] स्वाद् + उ → स्वादुः।

साधुः (श्रेष्ठ, उत्तम) साध्नोति परकार्यमिति (दूसरों के कार्य सिद्ध करने वाला) इस व्युत्पत्ति में साध धातु से उण् प्रत्यय होकर साधुः।

---

१. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३। २. अचोञ्णिति ७।२।११५।
३. अत उपधायाः ७।२।११६।

२६० । उणादयो बहुलम् ।३।३।१॥

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु" ॥ इत्युणादयः ॥

अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

२६१ । तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ।३।३।१०॥

आशु (शीघ्र)—अश्नुते इति (जो व्यापक या हो जाता है)=अश्+उण्→अ की वृद्धि (आ) आश्+उ→आशु ।

आशु शब्द शीघ्रता अर्थ में अव्यय है । शीघ्रता युक्त द्रव्य के अर्थ में तीनों लिङ्गों में विशेषण रूप से, इसका प्रयोग होता है ।

२६० उणादय इति—उण् आदि प्रत्यय वर्तमानकाल में तथा संज्ञा में बहुल करके होते हैं ।

केचिदिति—कुछ अविहित (किसी सूत्र द्वारा जिनका विधान नहीं किया गया) भी कल्पित कर लेने चाहिये । उणादि प्रत्ययों की किस आधार पर कल्पना की जाती है, यह अग्रिम श्लोक में बतलाया है—

संज्ञास्विति—संज्ञा शब्दों में (पहले) धातु के रूप की कल्पना करके तब उससे परे प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये । प्रत्ययों में कार्य (गुण, वृद्धि तथा इनका अभाव आदि) के अनुसार अनुबन्ध (कित्व, ङित्व या क् ङ् आदि) समझने चाहियें । उणादि में यही शास्त्र है । जैसे—

"शङ्कुला" यह प्रयोग देखा जाता है । इसकी शङ्क धातु और उलच् प्रत्यय मानकर व्युत्पत्ति की जाती है । उलच् में च् अनुबन्ध स्वरादि की दृष्टि से जोड़ा गया है ।

टिप्पणी—सूत्रकार के बहुल ग्रहण से तथा इस भाष्यस्थ श्लोक के आधार पर (प्रयुक्त) संज्ञा-शब्दों में धातु तथा प्रत्ययों की यथासंभव कल्पना करके उनकी व्युत्पत्ति की जाती है । 'कृवापाजि०' इत्यादि शाकटायन प्रणीत उणादि सूत्र इसी का प्रपञ्च मात्र है अर्थात् इसकी विस्तृत व्याख्या है । इत्युणादयः ॥

अथोत्तरकृदन्तम् ।२६१ तुमुन् इति—एक क्रिया के लिये की जाने वाली दूसरी क्रिया समीप रहने पर (उपपद) धातु से भविष्यत् अर्थ में तुमुन् और ण्वुल् ये दोनों प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—(१) जिस क्रिया के लिये दूसरी क्रिया की जाती है उससे तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं । तुमुन् प्रत्ययान्त अंग्रेजी के Gerundial infinitive का

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति।

काम करता है, जैसे—कृष्णं द्रष्टुं याति—He goes to see Krishna. यहाँ 'द्रष्टुम्'—देखने के लिये to see इस अर्थ में आता है।[1]

(२) सूत्रार्थ में 'भविष्यत् अर्थ में' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तुमुन्नन्त' की क्रिया दूसरी क्रिया की अपेक्षा भविष्य में होती है।[2] इसलिये 'कृष्णं द्रष्टुमगच्छत्' यह प्रयोग भी होता है, यहाँ भी दर्शन क्रिया गमन क्रिया के उपरान्त (भविष्य में) होती है।

(३) तुमुन् प्रत्ययान्त का कर्मवाच्य की क्रिया के साथ भी इसी रूप में प्रयोग होता है, जैसे—'रामो ग्रामं गन्तुमारेभे, रामेण ग्रामं गन्तुमारेभे'। किन्तु जब तुमुन्नन्त तथा मुख्य क्रिया का एक ही कर्म होता है तो कर्मवाच्य में वह कर्म प्रथमा में रक्खा जाता है जैसे—स ग्रन्थं पठितुमिच्छति, तेन ग्रन्थः पठितुमिष्यते, (देखिये आप्टे १७६)।

मान्तेति—मकारान्त होने से तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं। 'कृन्मेजन्तः १।१।३९' सूत्र से आचार्य पाणिनि ने मकारान्त और एजन्त कृदन्तों की अव्यय संज्ञा की है।

कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिये जाता है)—यहाँ दो क्रियायें है देखना और जाना। 'जाना' क्रिया देखने के लिये की जा रही है अर्थात् जाने का प्रयोजन है देखना। इसलिये देखना अर्थ वाली 'दृश्' धातु से तुमुन् प्रत्यय है। दृश् + तुम् इस दशा में ऋ से परे अम्[3] का आगम होकर (दृ + अ + श्) + तुम् → ऋ को र् (यण्) → द् + र् + अश् + तुम् → द्रश् + तुम् — श् को ष्[4] तथा त् को ट् (ष्टुत्व) होकर द्रष् + टुम् — द्रष्टुम्।

यहाँ 'कृष्णम्' में न लोकाव्यय० से षष्ठी का निषेध होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

कृष्णं दर्शको याति (कृष्ण को देखने वाला जाता है) यहाँ भी क्रियार्थ क्रिया 'याति' उपपद है इसलिये दृश् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर दृश् → वु → वु को अक आदेश दृश् + अक → ऋ को गुण अर् → दर् + श् + अक = दर्शक, पु० प्र० एक० में दर्शकः।

---

१. मि० डा० बाबूराम सक्सेना सं० व्या०, पृ० ५१२।

२. मि०, वही, पृ० ५१२।

३. सृजिदृशोर्झल्यमकिति ३।१।५८—सृज् और दृश् धातु को अकित् झलादि प्रत्यय परे होने पर अम् का आगम होता है जैसे स्रष्टा, द्रष्टा आदि।

४. व्रश्चभ्रस्ज० ८।२।३६।

२६२। कालसमयवेलासु तुमुन् ।३।३।१६७॥
कालार्थेषूपपदेषु तुमुन्। काल: समयो वेला वा भोक्तुम्।

२६३। भावे ।३।३।१८॥
सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् स्यात्। पाकः।

२६४। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९॥
कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

ण्वुल् प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं। यह प्रत्यय कर्ता में होता है 'कृष्णम्' में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ कृदन्त के योग में षष्ठी नहीं होती क्योंकि 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' से षष्ठी का निषेध हो जाता है।

२६२ कालेति—कालार्थ शब्द उपपद होने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है।

काल: वेला वा भोक्तुम् (खाने का समय है)—कालवाची शब्द उपपद होने पर भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ है। भुज्+तुम्→उ को गुण ओ तथा ज् को ग्[1] एवं क् (चर्त्व) होकर 'भोक्तुम्'।

२६३ भावे—सिद्ध अवस्था को प्राप्त धातु के अर्थ को कहने में धातु से घञ् प्रत्यय होता है। घञ् में 'अ' शेष रहता है।

'भाव' का अभिप्राय है—धातु का अर्थ। यह दो प्रकार का होता है—१ साध्यावस्थापन्न, २ सिद्धावस्थापन्न। धात्वर्थ की साध्यता तिङ् प्रत्यय से प्रकट की जाती है, जैसे—'पचति' (पकाता है) क्रिया की सिद्धि नहीं हुई साध्य है। धात्वर्थ की सिद्धता कृदन्त से प्रकट होती है जैसे पाक। यहाँ कृदन्त के द्वारा धातु का अर्थ भाव द्रव्य के रूप में प्रकट होता है और इसके साथ लिङ्ग वचन आदि का अन्वय होता है[2]।

पाक (पकने का कार्य)—पच् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होता है। पच्+घञ्→पच+अ प्रत्यय के ञित् होने से अ (उपधा) को वृद्धि[3] आ होकर पाच्+अ →च् को क्[4] होकर पाक पु० प्रथमा एक० में पाकः।

टिप्पणी—घञन्त शब्द पुंल्लिङ्ग में होते हैं।

२६४, अकर्तरीति—कर्ता से भिन्न कारक में, संज्ञा के विषय में धातु से घञ् प्रत्यय होता है।

---

१. चोः कुः ८।२।३०।
२. 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' (भाष्य)।
३. अत उपधायाः ७।२।११६।
४. चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२। घित् और ण्यत् प्रत्यय परे होने पर धातु के च् ज् को क्, ग् होते हैं।

२९५। घञि च भावकरणयोः ।६।४।२७॥

रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः । अनयोः किम् । रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ।

२९६। निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ।३।३।४१॥

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः। उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

---

२९५. घञीति—भाव और करण में जो घञ् उसके परे होने पर रञ्ज् धातु के नकार का लोप हो जाता है ।

रागः—रञ्जनम् रज्यतेऽनेन इति वा (रँगना या जिससे रंगा जाता है अर्थात् रंग)—रञ्ज् (रंगना) धातु से भाव में (रञ्जनम्) या करण में (रज्यतेऽनेन) घञ् प्रत्यय होकर ऊपर के सूत्रानुसार दोनों अर्थों में धातु के न् (ञ्) का लोप हो जाता है । रज् + अ इस अवस्था में अ को वृद्धि आ तथा ज् को ग् होकर रागः ।

अनयोः किमिति—इन दोनों (भाव और करण) में होने वाला घञ् प्रत्यय परे रहने पर नलोप होता है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'रङ्गः में नलोप नहीं होता । यहाँ रञ्ज् धातु से अधिकरण में घञ्[1] प्रत्यय होता है—'रज्यति अस्मिन्'—जिसमें (लोग) रञ्जित होते हैं, वह रङ्ग या रङ्गभूमि (नाट्यशाला)—रञ्ज् + अ (घञ्→ज् को ग् तथा न् (ञ्) को अनुस्वार और परसवर्ण (ङ्) होकर 'रङ्ग' ।

निवासेति—निवास, चिति, शरीर तथा उपसमाधान—इन अर्थों में चि धातु को घञ् प्रत्यय होता है, इसके आदि को क् आदेश हो जाता है ।

उपसमाधानमिति—उपसमाधान का अर्थ है—राशि करना, ढेर लगाना ।

निकायः—(निवास, गृह) नि पूर्वक चि (चुनना) धातु से निवास अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है तथा आदि (च्) को क् हो जाता है । नि + कि + अ (घञ्) इस दशा में ञित् होने से 'कि' के इ को वृद्धि[2] ऐ होकर नि + कै + अ → नि + काय् + अ = निकायः ।

कायः [शरीर]—"चीयतेऽस्मिन् अस्थ्यादिकम्" [इसमें हड्डी आदि एकत्र होते है]—इस विग्रह में शरीर अर्थ में चि धातु से घञ् प्रत्यय होकर तथा आदि को क होकर पहले के समान कायः रूप बनता है ।

गोमयनिकायः—(गोबर का ढेर)—नि पूर्वक चि धातु से राशि करना अर्थ में घञ् होकर पहले के समान निकायः रूप होता है ।

---

१. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ।३।३।१९।

२. अचोऽञ्णिति ७।२।११५।

२९७। एरच् ।३।३।५६॥
इवर्णान्तादच् स्यात् । चय । जय ।

२९८। ऋदोरप् ३।३।५७॥
ऋवर्णान्तादुवर्णान्तादप् स्यात् । करं । गर । यव । लव. । स्तव । पव ।

(वा) घञर्थे कविधानम् ॥
प्रस्थ । विघ्न ।

टिप्पणी--सूत्र म 'चिति' का अर्थ है जिसम चयन किया जाये, इसका उदाहरण है—

आकायम् अग्नि चिन्वीत ।

एरजिति—इ वर्णान्त धातु से भाव म अच् प्रत्यय होता है । [अच् मे अ शेष रहता है]

चय [समूह चुनना]—चि धातु इवर्णान्त है अत इससे अच् प्रत्यय होकर चि + अ → इ को गुण ए तथा अय् होकर चय् + अ = चय । इसी प्रकार जि + अच् = जयः ।

२९८. ऋदोरिति—जिस धातु के अन्त मे दीर्घ ऋ हो या उवर्ण हो उससे [भाव में] अप् प्रत्यय होता है । [उवर्ण मे उ और ऊ दोनों का ग्रहण होता है] ।

कर[1] [हाथ, किरण या टैक्स]—कॄ [बिखेरना] धातु से अप् प्रत्यय होकर ऋ को गुण [अर्] हो जाता है कर् + अ → कर । इसी प्रकार गॄ [निगलना] + अप् गर [निगलना] ।

यव [जौ, मिलाना]—यु धातु उवर्णान्त है इससे अप् प्रत्यय होकर उ को गुण ओ तथा अव् आदेश होकर यव् + अ → यव. । इसी प्रकार लू + अप् = लव [काटना, अंश] । स्तु + अप् = स्तव [स्तोत्र, स्तुति] । पू + अप् = पव [अन्न आदि को साफ करना, बरसाना, पछोरना] ।

घञर्थे इति [वा]—घञ् प्रत्यय के अर्थ मे क प्रत्यय भी होता है ।

प्रस्थ—प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानि इति प्रस्थ [परिमाणविशेष, एक तोल का नाम] प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् जना इति प्रस्थ (पर्वत शिखर)—प्र पूर्वक स्था धातु से अधिकरण में क प्रत्यय होकर प्र + स्था → अ प्रत्यय के कित् होने से आकार का लोप[2] प्र + स्थ् + अ = प्रस्थ ।

विघ्न (विघ्न, अन्तराय)—'विघ्नन्ति मनांसि अस्मिन्' (जिसमे मन मर जाते हैं)—इस विग्रह में विपूर्वक हन् धातु से क प्रत्यय होता है । वि — हन् × अ (क) इस

---

१ बलिहस्तांशव करा [अमरकोष] ।
२ आतो लोप इटि च ६।४।६४॥

२९९। ड्वितः क्त्रिः ।३।३।८८॥

३००। क्त्रेर्मम् नित्यम् ।४।४।२०॥

क्त्रिप्रत्ययान्ताद् मप् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

३०१। ट्वितोऽथुच् ।३।३।८९।

टुवेपृ कम्पने। वेपथुः।

दशा में हन् के अ (उपधा) का लोप[1] होकर ह को घ्[2] (कुत्व) होकर विघ्+न्+अ+विघ्नः।

२९९. ड्वित इति—जिस धातु का डु इत्संज्ञक होता है (ड्वित्) उससे परे क्त्रि प्रत्यय होता है। (क्त्रि में त्रि शेष रहता है)।

३००. क्त्रेरिति—क्त्रि प्रत्ययान्त से नित्य मप् प्रत्यय होता है निर्वृत्त (निष्पन्न या सिद्ध होना) अर्थ में।

टिप्पणी—सूत्र में 'नित्यम्' कहने से यह क्त्रि प्रत्यय मप् के विषय में (निर्वृत्त अर्थ मे) ही होता है।

पक्त्रिमम्[3]—पाकेन निर्वृत्तम् (पाक से निष्पन्न, पका हुआ)—डुपचष् पाके यह धातुपाठ में पठित धातु का रूप है। यहाँ 'डु' इत्संज्ञक है (तथा ष् भी) अतः पच् धातु ड्वित् है। इससे क्त्रि प्रत्यय होकर पच्+त्रि→च् को क[4] पक्त्रि→ऊपर के सूत्र से मप् प्रत्यय होकर पक्त्रि+म→पक्त्रिमम्।

उप्त्रिमम्—वापेन निर्वृत्तम् (बोने से निष्पन्न) डुवप् बीजसन्ताने (बीज बोना) धातु से क्त्रि प्रत्यय तथा मप् प्रत्यय होकर वप्+त्रि+म यहाँ प्रत्यय के कित् होने से व् को उ (सम्प्रसारण[5]) हो जाता है। उप्+त्रि+म→उप्त्रिमम्।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'कृत्रिम' शब्द भी बनता है—(डुकृञ्+क्त्रि+मप्)। पक्त्रिम आदि शब्दों के विशेष्य के अनुसार लिङ्ग वचन होते है।

३०१. ट्वित इति—जिस धातु का 'टु' इत्संज्ञक होता है उससे अथुच् प्रत्यय होता है (भाव में)। (अथुच् में अथु शेष रहता है)।

वेपथुः (कम्पन)—टुवेपृ कम्पने (काँपना) धातु से अथुच् प्रत्यय होकर वेप्+अथु—वेपथु→पुं० प्रथमा एकवचन में वेपथुः। (अथुच् प्रत्ययान्त पुं० में होते हैं)।

---

१. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८।

२. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४।

३. Ripened, Matured काले से०–७७७।

४. चोः कुः ८।२।३०।

५. वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५। वप् धातु यजादि में है।

३०२। यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ।३।३।९०॥

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः ।

३०३। स्वपो नन् ।३।३।९१॥

स्वप्नः ।

३०४। उपसर्गे घोः किः ।३।३।९२॥

---

३०२ यजेति—यज्, याच्, यत्, विच्छ् प्रच्छ् और रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय होता है, भाव में। नङ् म न शेष रहता है।

यज्ञ (यज्ञ, हवन)—यज् (देवपूजा आदि) धातु से नङ् प्रत्यय होकर यज् + न → न् को ञ् (श्चुत्व[1]) यज् + ञ → ज् + ञ = ज्ञ यज्ञ पु० प्र० एक० यज्ञ।

टिप्पणी—नङ् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं केवल याच्ञा शब्द स्त्री लिङ्ग है।

याच्ञा (याचना)—याच् (माँगना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर याच् + न, न् को ञ् याच्ञ स्त्रीबोधक प्रत्यय टाप्[2] होकर याच्ञ + आ—याच्ञा।

यत्न—(प्रयत्न)—यत् (प्रयत्न करना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर यत् + न = यत्न।

विश्न (गति, कान्ति)—विच्छ (जाना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर विच्छ् + न इस दशा में च्छ को श्[3] होकर विश् + न—विश्न।

प्रश्न—प्रच्छ् (पूछना) धातु से नङ् प्रत्यय तथा च्छ को श्।

रक्षणः—(रक्षा) रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय तथा न् को ण्[4] होकर रक्षण।

३०३. स्वप इति—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है, भाव में। नन् में न शेष रहता है।

स्वप्न. (सोना, स्वप्न)—स्वप् (सोना) धातु से नन् प्रत्यय होकर स्वप् + न → स्वप्न।

३०४. उपसर्ग इति—उपसर्ग पूर्वक घु संज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय होता है, भाव में तथा कर्तृ भिन्न कारक में।

डुदाञ् (देना) दाण् (देना), दो (तोडना), देङ् (रक्षा करना)—इन दारूप को प्राप्त होने वाली तथा डुधाञ् (धारण करना) धेट् (पीना) इन धा-रूप को प्राप्त होने वाली धातुओं की घु[5] संज्ञा होती है।

कि प्रत्यय में इ शेष रहता है कि प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

---

१. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०।

२ अजाद्यष्टाप् ४।१।४।

३ च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९।

४. रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१।

५. दाधाघ्वदाप् १।१।२०।

प्रधिः । उपधिः

३०५ । स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४॥

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् ।

घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।

*(वा) ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः ॥

तेन नत्वम् । कीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः ।

प्रधि (चक्र की परिधि, पहिये का घेरा)—प्रपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय होकर प्रधा + इ—इस दशा में आकार का लोप[1] प्रध् + इ—प्रधि पुं० प्रथमा एकवचन मे प्रधिः ।

उपधि (कपट, दम्भ)—उपपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय होकर उपधा + इ→ आकार का लोप उपधिः ।

टिप्पणी—(१) अधिकरण अर्थ में भी कि प्रत्यय होता है, जैसे—
जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति जलधिः, नीरधिः, उदधिः आदि ।

(२) उपाधि, व्याधि, आधि, सन्धि, अभिसन्धि (अभिप्राय), निधि (कोष) विधि (ब्रह्मा, विधान) तथा समाधि आदि शब्द भी कि प्रत्ययान्त हैं ।

(३) 'कि' प्रत्ययान्त शब्द संस्कृत में पुंल्लिङ्ग होते हैं ।

३०५. स्त्रियामिति—स्त्रीलिङ्ग में भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है । (क्तिन् में ति शेष रहता है) यह घञ् प्रत्यय का बाधक है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में भाव में क्तिन् होता है, घञ् नहीं ।

कृतिः (कार्य)—कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर कृ + ति→स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एक० में कृतिः । इसी प्रकार स्तु + क्तिन् → स्तुतिः ।

ऋल्वादिभ्य इति (वा)—ऋकारान्त और लू आदि धातुओं से परे क्तिन् प्रत्यय निष्ठा (क्त, क्तवतु) के समान होता है, यह कहना चाहिये ।

तेनेति—निष्ठा के समान होने से क्तिन् के त को भी न हो जाता है ।

कीर्णिः (विक्षेप, विखेरना)—कॄ (विखेरना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर कॄ + ति→ऋकार को इर्[2] किर् + ति → इ को दीर्घ[3] कीर् + ति→निष्ठा के समान होने से र् से परे त् को न्[4] तथा न् को ण् होकर कीर्णि →कीर्णिः । इसी प्रकार गॄ + क्तिन् → गीर्णिः ।

---

१. आतो लोप इटि च ६।४।६४।

२. ऋत इद्धातोः ७।१।१००।

३. हलि च ८।२।७७।

४. रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२।

*(वा) सम्पदादिभ्य क्विप् ॥

सम्पत् । विपत् । आपत् ।

*(वा) क्तिन्नपीष्यते ॥ क्तिन् प्रत्यय

सम्पत्ति. । विपत्ति. । आपत्ति ।

३०६ । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ।३।३।९७॥ एते निपात्यन्ते ।

लूनि (काटना)—लू (काटना) धातु स क्तिन् प्रत्यय होकर ति को निष्ठावत् हो जाने से त् का न्[1] होता है इसी प्रकार धू + क्तिन् → धूनि (कम्पन) पू + क्तिन् → पूनि (पवित्रता) ।

सम्पदिति—(वा) सम् आदि उपसर्गपूर्वक पद् धातु स क्विप प्रत्यय होता है, भाव म (स्त्रीलिङ्ग में) ।

सम्पत् (सम्पत्ति) सम् पूर्वक पद् धातु से क्विप प्रत्यय, क्विप् का लोप (सर्वापहार) सम्पद् स्त्री० प्र० एक० मे सम्पत् । इसी प्रकार वि + पद् + क्विप् → विपत् । आ + पद् + क्विप् = आपत् ।

क्तिन्निति—सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से भाव मे (स्त्रीलिङ्ग मे) क्तिन् भी इष्ट है ।

सम्पत्ति —सम् + पद् + क्तिन् → सम्पद् + ति → दकार को तकार[2] (चर्त्व) होकर सम्पत्ति । इसी प्रकार विपत्ति, आपत्ति ।

३०६ ऊतीति—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति इन क्तिन् प्रत्ययान्त शब्दो का निपातन किया गया है ।

इनमे जो कार्य किसी नियम (सूत्र) से प्राप्त नही, वे सब निपातन से सिद्ध हो जाते हैं ।

ऊति (रक्षा)—अव् (रक्षा करना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर अव् + ति → अकार तथा वकार के स्थान मे (ज्वर० अग्रिम सूत्र से) ऊ (ऊठ्) होकर ऊ + ति = ऊति । उदात्त स्वर के लिय सूत्र मे निपातन किया गया है ।

यूति —यु (मिश्रण करना) धातु से क्तिन् होकर निपातन से दीर्घ होता है । इसी प्रकार जु + क्तिन् = जूति[3] (वेग) मे भी निपातन से दीर्घ होता है ।

साति[4] (अन्त, अवसान)—सो (अन्तकर्म) धातु से क्तिन् होकर सो + ति इस अवस्था म ओ को इ प्राप्त[5] था निपातन से उसका अभाव हो जाता है तथा ओ को आ होकर[6] साति ।

---

१ ल्वादिभ्य ८।२।४४।
२ खरि च ८।४।५५।
३ जवो जूति (अमरकोष) ।
४ सातिरवसाने स्यात् (अमरकोष) ।
५ द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ७।४।४०।
६ आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५।

२०७। ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ।६।४।२०॥

एषामुपधावकारयोरूठ्स्यादनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति। अतः क्विप्। जूः। तूः। स्रूः। ऊः। मूः।

हेतिः—(हथियार)—हन् धातु से क्तिन् होकर निपातन से न् को इ→होकर ह+इ+ति→गुण (अ+इ=ए) हेतिः।

कीर्तिः (ख्याति)—स्वार्थं णिजन्त (चुरादि) कृत् (संशब्दने[1]) धातु से युच्[2] प्रत्यय प्राप्त था किन्तु यहाँ निपातन से क्तिन् होता है। कृत्+ति→ऋ को इर्[3] किर् +ति→इ को दीर्घ[4] ई कीर्तिः।

२०७. ज्वरेति—ज्वर, त्वर, स्रिव्, अव्, मव्—इन धातुओं के उपधा (अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण) तथा व् को ऊठ् होता है अनुनासिक, क्वि तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर।

अतः क्विप् इति—इसलिये (इन धातुओं से) क्विप् भी होता है अर्थात् इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय परे होने पर ज्वर् आदि को ऊठ् विधान किया गया है अतः इनसे क्विप् होता है।

जूः (रोग)—ज्वर् (रोगे) धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, वकार तथा अकार (उपधा) को ऊ (ऊठ्) होकर जूर् शब्द बनता है। जूर् से प्रथमा में जूः, जूरौ, जूरः। इसी प्रकार त्वर्+क्विप्→तूर्=तूः (शीघ्रकारी)।

स्रूः—(शोषक या जाने वाला)—स्रिव् (गति तथा शोषण)—धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, इकार और वकार को ऊठ् होकर 'स्रू' ऊकारान्त शब्द बनता है। उससे स्रूः, स्रुवौ स्रुवः आदि।

ऊः—(रक्षक)—अव् (रक्षा करना)+क्विप्→अकार तथा वकार को ऊठ् होकर ऊ' शब्द बनता है। उससे ऊः, उवौ, उवः आदि।

मूः (बाँधने वाला)—मव् (बाँधना)+क्विप्→अकार और वकार को ऊठ् होकर 'मू' उससे मूः, मुवौ, मुवः आदि।

टिप्पणी—ज्वर् आदि सूत्र के प्रसङ्ग से यहाँ क्विप् प्रत्यय के 'जूः' आदि रूप दिये गये है, इन शब्दों में क्विप् प्रत्यय कर्त्ता में होता है, भाव में नहीं तथा इस क्विप् का स्त्रीलिङ्ग से भी सम्बन्ध नहीं।

---

१. To name, to glorify—काले।

२. ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७।

३. उपधायाश्च ।७।१।१०१।

४. उपधायां च ८।२।७८।

३०८। इच्छा ।३।३।१०१॥

इषेर्निपातोऽयम्।

३०९। अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२॥

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्य स्त्रियामकार प्रत्यय स्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या।

३१०। गुरोश्च हल ।३।३।१०३॥

गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामकार प्रत्यय स्यात्। ईहा।

---

३०८ इच्छेति—इष् (इच्छा करना) धातु से इच्छा शब्द का निपातन किया गया है।

इच्छा—इष् धातु से निपातन द्वारा भाव मे श (अ) प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय के शित् होने से सार्वधातुक हो जाने के कारण यक्[1] प्राप्त था, निपातन द्वारा उसका अभाव हो जाता है। इस प्रकार इष् + अ → ष् का छ्[2] होकर इछ् + अ → छ् से पूर्व त् (तुक्[3]), त् को च् होकर इच्छ् + अ → स्त्रीत्व बोधक टाप प्रत्यय होकर इच्छा।

३०९. अ प्रत्ययादिति—प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग मे 'अ' प्रत्यय होता है, भाव मे तथा कर्ता भिन्न कारक मे।

प्रत्ययान्त धातुएँ वे कहलाती हैं जो धातु या सुबन्त से कोई प्रत्यय लगाने से बनती हैं, जैसे—कृ + सन् → चिकीर्ष (चिकीर्षति), पुत्र + काम्य = पुत्रकाम्य (पुत्रकाम्यति) आदि।

चिकीर्षा—(करने की इच्छा)—कृ धातु से इच्छार्थक सन् (स) प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष' धातु बनती है। चिकीर्ष से भाववाचक 'अ' प्रत्यय होकर चिकीर्ष + अ → अ का लोप[4] चिकीर्ष् + अ चिकीर्ष → स्त्रीलिङ्ग मे टाप् प्रत्यय होकर चिकीर्ष + आ = चिकीर्षा।

पुत्रकाम्या—(पुत्र की इच्छा)—पुत्रमात्मन इच्छति, (अपना पुत्र चाहता है) इस अर्थ मे पुत्र से काम्यच् प्रत्यय होकर 'पुत्रकाम्य' धातु बनती है। इससे स्त्रीलिङ्ग भाव मे अ प्रत्यय होकर पुत्रकाम्या।

३११. गुरोश्चेति—जिस व्यञ्जनान्त (हलन्त) धातु मे कोई गुरु अक्षर (संयुक्त व्यञ्जन तथा दीर्घ स्वर) हो उससे स्त्रीलिङ्ग मे (भाव मे) अ प्रत्यय होता है।

ईहा (चेष्टा)—ईह (चेष्टा करना) धातु व्यञ्जनान्त है और इसका ई गुरु है अत इससे अ प्रत्यय होता है। ईह + अ → स्त्रीलिङ्ग मे टाप् प्रत्यय होकर ईह + आ = ईहा।

---

१ सार्वधातुके यक् ३।१।६७। २ इषुगमियमा छ ७।३।७७।

३ छे च ६।१।७३।

४. अतो लोप. ६।४।४८।

३११। ण्यासश्रन्थो युच् ।३।३।१०७॥

अकारस्यापवादः । कारणा । हारणा ।

३१२। नपुंसके भावे क्तः ।३।३।११४॥ Rajesh.

३१३। ल्युट् च ।३।३।११५॥

हसितम् । हसनम् ।

३१४। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ।३।३।११८॥

३१५। छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ।६।४।९६॥

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वः स्यात् घे परे । दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ।

---

३११. ण्यासेति—णि प्रत्ययान्त, आस् तथा श्रन्थ् धातु से युच् प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग भाव में।

अकारस्येति—युच् प्रत्यय 'अ' प्रत्यय का बाधक है। यहाँ ण्यन्त से प्रत्ययान्त धातु होने के कारण 'अ' प्रत्ययात्-३०९' तथा आस् और श्रन्थ् से गुरुयुक्त हलन्त धातु होने के कारण 'गुरोश्च हलः ३१०' से अ प्रत्यय प्राप्त था।

कारणा (यातना[1])—कृ धातु से णिच् (प्रेरणार्थक) प्रत्यय होकर कारि ण्यन्त धातु बनती है। 'कारि' से (स्त्री) भाव में युच् प्रत्यय होकर कारि + यु → यु को अन[2] कारि + अन → णि (इ) का लोप[3] कार् + अन → न् को ण् तथा स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होकर कारणा। इसी प्रकार ण्यन्त हृ (हारि) + युच् = हारणा। आस् + युच् = आसना (आसन, स्थिति)। श्रन्थ् + युच् = श्रन्थना।

३१२. नपुंसक इति—नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है।

३१३. ल्युडिति—नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय भी होता है।

हसितम् हसनम् (हंसना)—हस् (हंसना) धातु से नपुसकलिङ्ग भाव में क्त तथा ल्युट् प्रत्यय होते है। हस् + त → इट् का आगम होकर हस् + इ + त → हसितम्। हस् + यु → को अन आदेश होकर हस् + अन = हसनम्।

३१४. पुंसीति—करण तथा अधिकरण अर्थ में पुँल्लिङ्ग में प्रायः घ प्रत्यय होता है, संज्ञा शब्द बनाने के लिये।

३१५. छादेरिति—दो या दो से अधिक (दो आदि) उपसर्ग रहित छादि धातु आदि को ह्रस्व हो जाता है, घ प्रत्यय परे होने पर।

---

१. कारणा तु यातना तीव्रवेदना (अमरकोष)।

२. युवोरनाकौ ७।१।१।

३. णेरनिटि ६।४।५१।

३१६ । अवे तृस्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०॥

अवतारः कूपादेः । अवस्तारो जवनिका ।

३१७ । हलश्च ।३।३।१२१॥

हलन्ताद्धञ् स्यात् । घापवादः । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः ।

दन्तच्छदः (ओष्ठ)—दन्ताश्छाद्यन्ते अनेन (दाँत ढके जाते हैं जिससे) —यहाँ ण्यन्त छादि धातु से करण अर्थ में घ प्रत्यय होता है। दन्त+छादि+अ→इस अवस्था में छादेर्घे सूत्र से आ को ह्रस्व तथा णि का लोप दन्त+छद्+अ→ दन्तच्छदः ।

आकरः (खान, खनि)—आकुर्वन्ति अस्मिन् (चारों ओर से आकर काम करते हैं जिसमें)—यहाँ अधिकरण अर्थ में आङ् पूर्वक कृ धातु से घ प्रत्यय होता है। आकृ +अ(घ)→ऋ को अर् आकरः ।

३१६ अव इति—अव उपसर्ग पूर्वक तृ और स्तृ धातु से संज्ञा में, घञ् प्रत्यय होता है करण तथा अधिकरण में ।

अवतारः—(कूप आदि का सोपान, घाट)—अवतरन्ति अत्र (जिसमें उतरते हैं) यहाँ अव् पूर्वक तृ (तैरना) धातु से घञ् प्रत्यय होकर अव+तृ+ञित् प्रत्यय परे होने पर ऋ की वृद्धि[1] आर् अव+तार्+अ=अवतारः ।

टिप्पणी—भाव प्रत्ययान्तों में क्त, ल्युट् प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग में क्तिन्, आदि प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में तथा शेष घञ्, अच्, अप् आदि प्रत्यय वाले शब्द पुंल्लिङ्ग में होते हैं ।

अवस्तारः (जवनिका पर्दा)—अवस्तृणाति अनेन (जिससे ढका जाता है)—यहाँ स्तृ (आच्छादन करना) धातु से घञ् प्रत्यय होकर अव स्तृ+अ→ऋ की वृद्धि आर् होकर अवस्तार रूप होता है ।

हलश्चेति—हलन्त (जिसके अन्त में हल् अर्थात् व्यञ्जन होता है) धातु से घञ् प्रत्यय होता है ।

घापवाद इति—यह घञ् प्रत्यय घ का बाधक है । 'पुंसि संज्ञायाम् ३१४, से घ प्राप्त था ।'

रामः—रमन्ते योगिनोऽस्मिन् (जिसमें योगी रमते हैं)—यहाँ अधिकरण अर्थ में रम् धातु से घञ् प्रत्यय होता है । रम्+अ (घञ्)→अ (उपधा) की वृद्धि[2] (आ) होकर राम+अ→रामः ।

अपामार्गः—अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिः (जिससे रोग आदि का शोधन होता

---

१. अचो ञ्णिति ७।२।११५।

२. अत उपधायाः ७।२।११६।

३१८। ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ।३।३।१२६॥

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेवेति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे—ईषत्करः। सुकरः।

३१९। आतो युच् ।३।३।१२८॥

खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

है, एक औषधि जिसे हिन्दी में 'चिरचिटा, कहते हैं)—यहाँ अप पूर्वक मृज् (शुद्ध करना) धातु से घञ् प्रत्यय होता है। अप + मृज् + घञ् → ऋ को वृद्धि[1] आर् तथा ज् को ग्[2] होकर अप + मार्ग + अ → घञ् प्रत्ययान्त परे होने पर उपसर्ग 'अप' के अन्त को दीर्घ[3] होकर अपामार्गः।

३१८. ईषदिति—कठिनता (दुःख) और सरलता (सुख) बोधक ईषद्, दुस् और सु उपसर्ग उपपद होने पर धातुओं से खल् प्रत्यय होता है। खल् में 'अ' शेष रहता है, ख् और ल् की इत् संज्ञा होती है।

करणेति—'करण और अधिकरण अर्थ में' इसकी निवृत्ति हो गई अर्थात् खल् प्रत्यय इन अर्थों में नहीं होता। फिर किस अर्थ में होता है? तयोरेव० सूत्र के अनुसार खल् प्रत्यय भाव और कर्म में होता है।

यहाँ कृच्छ्रार्थ (कठिनता) दुस् का विशेषण है और अकृच्छ्रार्थ ईषद् तथा सु का क्योंकि ऐसा ही सम्भव है।

दुष्करः कटो भवता—(आपको चटाई बनाना कठिन है)—दुःखेन कर्तुं योग्यः, इस अर्थ में दुस् पूर्वक कृ धातु से कर्म में खल् प्रत्यय होता है। दुस् + कृ + अ + (खल्) → ऋ को गुण अर् → दुस् + कर् + अ → सकार को रुत्व विसर्ग तथा ष् दुष्करः।

ईषत्करः (सहज में ही करने योग्य)—ईषद् + कृ + खल् → ईषत् + कर् + अ → ईषत्करः।

सुकरः (सुख से करने से योग्य)—सु + कृ + खल् → सु + कर् + अ → सुकरः।

३१९. आत इति—कठिनता और सरलताबोधक ईषद्, दुस् तथा सु उपपद होने पर आकारान्त धातु से युच् प्रत्यय होता है।

खल इति—यह युच् प्रत्यय खल् प्रत्यय का बाधक है। युच् में यु शेष रहता है। यु को 'अन' हो जाता है।

ईषत्पानः सोमो भवता (आपको सोम पीना सरल है)—यहाँ सरलताबोधक

---

१. मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४।

२ चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२।

३. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२।

३२० । अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ।३।४।१८॥

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः । दो दद्घोः । अलं दत्त्वा । घुमास्थेतीत्वम् । पीत्वा खलु । अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीत् । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ।

(अकृच्छार्थक) ईषद् उपपद होने पर आकारान्त धातु पा (पीना) से (खल् प्रत्यय को बाधकर) 'युच्' होता है । ईषद्+पा+यु→यु को अन→ईषत्पान- इसी प्रकार दुस्+पा+युच्→दुष्पान (कठिनता से पिया जाने योग्य) सु+पा+युच्→सुपान (सुख से पिया जाने योग्य) ।

टिप्पणी—ईषत्कर, ईषत्पान इत्यादि में कर्म में खल् प्रत्यय हुआ है, प्रत्यय द्वारा कर्म के उक्त हो जाने के कारण कट सोम आदि में प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्त्ता के अनुक्त होने से 'भवता' में तृतीया होती है । यहाँ कर्त्ता से षष्ठी[1] नहीं होती, क्योंकि खलर्थक[2] प्रत्ययान्तों के योग में उसका निषेध हो जाता है ।

यहाँ से आगे इस प्रकरण की समाप्ति पर्यन्त क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय का विधान किया गया है ।

३२० अलमिति– निषेधार्थक अलं और खलु शब्द उपपद होने पर धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ।

'क्त्वा' में त्वा शेष रहता है । कित् करने का प्रयोजन है—

१. गुणवृद्धिनिषेध, २. सम्प्रसारण आदि ।

प्राचामिति—'प्राचाम्' यह कहना आदर प्रकट करने के लिये है । अभिप्राय यह है कि कुछ सूत्रों में आचार्य विशेष (शाकल्यस्य आदि) का नाम या 'प्राचाम्' (प्राचीनों के मत में) इत्यादि ग्रहण करने से कार्य (विधि) का विकल्प अभीष्ट होता है किन्तु यहाँ तो 'वासरूप' परिभाषा के अनुसार ही पक्ष में ल्युट् आदि प्रत्यय हो जाते हैं । अतः विकल्प के लिये 'प्राचाम्' ग्रहण की आवश्यकता नहीं, केवल आदर-प्रदर्शन के लिये इसका ग्रहण किया गया है ।

अमैवेति—अव्यय के साथ आदि उपपद का समास होता है तो अम् के साथ ही इस नियम से क्त्वा प्रत्ययान्त के साथ उपपद समास नहीं होता ।

अलं दत्त्वा (मत दो)—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' शब्द उपपद होने पर दा (देना)

---

१ कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५।

२. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९।

३२१। समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१॥

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वमतन्त्रम्। भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

३२२। न क्त्वा सेट् ।१।२।१८॥

धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। दा + त्वा → दा को दद् (दथ्) आदेश[1] होकर तथा त् (चर्त्व) होकर दत् + त्वा → दत्त्वा।

टिप्पणी—क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द अव्यय[2] होते हैं इनके रूप नहीं चलते।

पीत्वा खलु—(मत पीजिये)—प्रतिषेधार्थक 'खलु' शब्द उपपद होने पर पा (पीना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर पा + त्वा → कित् प्रत्यय (क्त्वा) परे होने से 'पा' के आ को 'ई' होकर[3] पीत्वा।

अलंखल्वोः किमिति—अलं और खलु के उपपद होने पर, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'मा कार्षीत्' (मत कीजिये) यहाँ प्रतिषेधार्थक 'मा' (माङ्) उपपद होने पर धातु से 'क्त्वा' नहीं होता।

प्रतिषेधयोः किमिति—यदि प्रतिषेधार्थक अलं खलु हों, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'अलङ्कारः' आदि में क्त्वा नही होता। यहाँ 'अलम्' प्रतिषेध अर्थ में नहीं अपितु 'भूषण' अर्थ में है।

३२१. समानेति—जहाँ दो (या अधिक) धात्वर्थों का एक (समान) कर्ता हो वहाँ पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है।

पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा होने के कारण क्त्वा प्रत्ययान्त को पूर्वकालिक क्रिया कहा जाता है। हिन्दी में 'कर' या 'करके' लगाकर इसका अर्थ प्रकट किया जाता है।

भुक्त्वा व्रजति (खाकर जाता है)—यहाँ दो क्रियायें हैं खाना (भुज्) और जाना (व्रज) इन दोनों का कर्त्ता एक है। इनमें 'खाना' क्रिया पूर्वकाल में होती है, अतएव 'खाना' अर्थ वाली भुज धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर भुज् + त्वा → ज् को ग् तथा क् होकर भुक् + त्वा = भुक्त्वा।

द्वित्वमिति—सूत्र में समानकर्तृकयोः' शब्द में द्विवचन अविवक्षित है (साभिप्राय नहीं) अर्थात् जहाँ दो या दो क्रियायें हों उनमें से पहली सेक्त्वा होता है, यह अभिप्राय नहीं, अपितु यदि दो से अधिक क्रियायें हों तो उनमें से-जो पूर्व क्रियायें होती हैं, उन सबसे क्त्वा हो जाता है, जैसे भुक्त्वा पीत्वा व्रजति' यहाँ तीन क्रियायें है, इनमें पूर्वकाल में वर्तमान भुज् और पा दोनों धातुओं से क्त्वा हो जाता है।

३२२. न क्त्वेति—सेट् (उट् सहित) क्त्वा कित् नहीं होता।

---

१. दो दद्घोः ।७।४।४६।

२. क्त्वातोसुन्कसुनः ।१।१।४०।

३. घुमास्थागापाजहातिसां हलि ।६।४।६६।

३२' सेट क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा ।

३२३ । रलो व्युपधाद्धलादेः सश्च ।१।२।२६॥

इवर्णोवर्णोपधाद्धलादेः रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्त । द्युतित्वा, द्योतित्वा । लिखित्वा, लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? एषित्वा । सेट् किम् । भुक्त्वा ।

टिप्पणी—जिन धातुओं से परे क्त्वा प्रत्यय को इट् का आगम हो जाता है, वहाँ क्त्वा सेट् अर्थात् इट् सहित है। क्त्वा में क् इत् है अतः यह कित् है किन्तु ऊपर के सूत्र के अनुसार 'सेट् क्त्वा' कित् नहीं अर्थात् उसके परे होने पर गुणवृद्धि-निषेध आदि (कित् के) कार्य नहीं होते।

शयित्वा—(सोकर)—शी (सोना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर शी+त्वा →त्वा को इट् (इ) का आगम होकर शी+इ+त्वा→सेट् क्त्वा के कित् न रहने से गुण का निषेध[1] नहीं होता तथा ई को गुण[2] (ए) होकर शे+इ+त्वा→ए को 'अय्' आदेश शय्+इ+त्वा=शयित्वा।

सेट् किमिति—सूत्र में सेट् क्यों कहा ? इसलिये कि अनिट् 'क्त्वा' कित् होता ही है, जैसे—'कृत्वा' यहाँ इट् नहीं होता, अतः क्त्वा सेट् नहीं तथा यह कित् ही है इसलिये यहाँ ऋ को गुण नहीं होता।

३२३ रल इति—जिस धातु की उपधा में इ वर्ण और उ वर्ण हो तथा आदि में हल् (व्यञ्जन) हो और अन्त में रल् (कोई स्पर्श व्यञ्जन, र, श, ष, स, ह) हो उससे परे सेट् क्त्वा और सन् विकल्प से कित् होते हैं।

टिप्पणी—सूत्र में 'व्युपधात्' शब्द का अर्थ है उश्च इश्च वी ते उपधे यस्य=उ वर्ण और इ वर्ण हैं उपधा में जिसकी ऐसी धातु।

द्युतित्वा, द्योतित्वा (चमक कर)—यहाँ द्युत् (दीप्त करना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है तथा त्वा को इट्। द्युत् धातु की उपधा (अन्त्य वर्ण से पहला वर्ण) में उवर्ण है आदि में हल् (द) है और अन्त में रल् (त्) है। अतः ऊपर के सूत्रानुसार क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् होता है। जब कित् होता है तो गुण नहीं होता 'द्युतित्वा'। कित् न होने पर गुण होकर द्योतित्वा। इसी प्रकार लिखित्वा लेखित्वा (लिखकर)।

व्युपधात् किमिति—यदि उपधा में इ, उ हों, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'वर्तित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता। यहाँ वृत्' धातु है उसकी उपधा में 'ऋ' है।

रलः किमिति—सूत्र में रलन्त धातु हो ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'सेवित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता, अतः गुण हो जाता है। 'षिव्' धातु के अन्त में 'व्' है जो 'रल्' में नहीं आता।

---

1. क्ङिति च १।१।५। 2. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४।

३२४। उदितो वा ।७।२।५६॥

उदितः परस्य क्त्व इड् वा स्यात्। शमित्वा, शान्त्वा। देवित्वा, द्यूत्वा। दधातेर्हिः—हित्वा।

३२५। जहातेश्च क्त्वि ।७।४।४३॥

हित्वा, हाङस्तु, हात्वा।

हलादेः किमिति—हलादि धातु हो, यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'एषित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता तथा गुण होता है। इष् धातु के आदि में अच् (स्वर) है, हल् नहीं।

सेट् किमिति—इस सूत्र के अर्थ मे सेट् क्यो कहा ? इसलिये कि 'भुक्त्वा', आदि में 'क्त्वा' कित् ही होता है तथा यहाँ गुण-निषेध हो जाता है। यहाँ क्त्वा अनिट् है।

३२४. उदितो वेति—जिन धातुओं में उकार इत्संज्ञक है, उनसे परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है।

शमित्वा, शान्त्वा (शान्त होकर)—यहाँ शमु उपशमे (दिवादि) धातु है। यह उदित् है अतः क्त्वा परे होने पर विकल्प से इट् होता है। शम्+इ+त्वा→शमित्वा। जब इट् नहीं होता तो शम्+त्वा→अ को दीर्घ[1] शाम्+त्वा→म को अनुस्वार तथा परसवर्ण होकर शान्त्वा।

देवित्वा, द्यूत्वा—(खेलकर)—यहाँ दिवु (क्रीडा आदि) उदित् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर विकल्प से इट् होता है। दिव्+इ+त्वा+इ को गुण (ए) देवित्वा। इट् के अभाव में दिव्+त्वा→व् को ऊठ्[2] (ऊ) दि+ऊ+त्वा→इ को य् (यण्) द्यूत्वा।

हित्वा (धारण करके)—धा+क्त्वा→प्रत्यय के कित् होने से धा को 'हि'[3] आदेश होकर हि+त्वा→हित्वा।

३२५. जहातेश्चेति—ओहाक् त्यागे (जहाति) धातु को भी 'हि' आदेश होता है, क्त्वा परे होने पर।

हित्वा—(त्यागकर)—हा (ओहाक्) धातु से क्त्वा प्रत्यय, क्त्वा परे होने पर ऊपर के सूत्र से 'हा' को 'हि' आदेश होकर हि+त्वा→हित्वा।

हाङ इति—(ओहाङ् गतौ, हाङ्) का 'हात्वा' रूप होता है।

हात्वा (जाकर)—ओहाङ् (जाना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर हा+त्वा→हात्वा। यहाँ धातु को 'हि' आदेश नहीं होता। इसीलिये सूत्र में 'जहाति' कहा है जो 'ओहाक् त्यागे' का रूप है। ओहाङ् गतौ' का जिहीते' रूप होता है।

---

१. अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५।

२. च्छ्वोः शूडनुनासिके च ७।४।१९। ३. दधातेर्हिः ७।४।४२ (२६८).

३२६ । समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ।७।१।३७॥

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक् । प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा ।

३२७ । आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२॥

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च ।

३२८ । नित्यवीप्सयोः ।८।१।४॥

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्व-व्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु च । स्मारं स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायं पायम् । भोजं भोजम् । श्रावं श्रावम् ।

---

३२६ समास इति—जिस समास में अव्यय पूर्वपद हो उसमें क्त्वा को ल्यप् आदेश हो जाता है किन्तु नञ् समास में नहीं ल्यप् में य शेष रहता है।

प्रकृत्य (प्रकरण चलाकर)—प्र + कृत्वा यहाँ प्र का कृत्वा से समास होता है (कुगतिप्रादयः)। समास होने से ऊपर के सूत्र के अनुसार क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हो जाता है। प्रकृ + य इस दशा में पित् कृत् (ल्यप्) परे होने से तुक्[1] का आगम होता है, प्रकृ + त् + य → प्रकृत्य।

अनञिति—सूत्र में अनञ् कहने का क्या प्रयोजन है ? यह कि नञ् समास में क्त्वा को ल्यप् नहीं होता, जैसे—अकृत्वा (न करके) यहाँ नञ् का कृत्वा के साथ नञ् समास होता है।

३२७ आभीक्ष्ण्य इति—यदि बार-बार करना या लगातार करना (आभीक्ष्ण्य =पौनःपुन्य=पुनः पुनः होना) बतलाना हो तो क्त्वा प्रत्यय के विषय में णमुल् प्रत्यय होता है और क्त्वा भी।

३२८. नित्येति—जब बार बार होना (नित्य) और प्रत्येक वस्तु में होना (वीप्सा) प्रकट करना हो तो पद को द्वित्व (दो बार प्रयोग) हो जाता है।

आभीक्ष्ण्यमिति—तिङन्तों (क्रियाओं) में तथा अव्ययसंज्ञक कृदन्तों में क्रिया का बार बार होना या लगातार होना (आभीक्ष्ण्य) प्रकट होता है।

टिप्पणी—यहाँ 'नित्य' और 'आभीक्ष्ण्य' समानार्थक हैं। जिस क्रिया को कर्त्ता बार बार या लगातार करता है वह नित्य कहलाती है (काशिका)। यह क्रिया की नित्यता तिङन्त और अव्ययसंज्ञक कृदन्त क्त्वान्त आदि से प्रकट की जाती है, जैसे—भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। 'वीप्सा' का अर्थ है—अनेक पदार्थों का एक साथ क्रिया और गुण के साथ सम्बन्ध दिखलाने की इच्छा, जैसे—ग्रामो ग्रामो रमणीयः।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

३२९। अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ।३।४।२७।।

एषु कृञो णमुल् स्यात् । सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ् । व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथाकारम्, एवङ्कारम्, कथङ्कारम्, इत्थङ्कारं

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (याद कर करके शिवजी को नमस्कार करता है)—यहाँ स्मरण क्रिया का बार बार होना (आभीक्ष्य) प्रकट करने के लिये स्मृ (स्मरण करना) धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। स्मृ+णमुल्→स्मृ+अम्→ऋ को वृद्धि[1] आर् स्मार्+अम्=स्मारम् । नित्य अर्थ में द्वित्व (नित्यवीप्सयोः) होकर स्मारं स्मारम् । पक्ष में क्त्वा प्रत्यय स्मृ+त्वा=स्मृत्वा स्मृत्वा ।

पायम्पायम् (बार बार पीकर या रक्षा करके)—यहाँ पा धातु से आभीक्ष्य अर्थ में णमुल् प्रत्यय होकर पी+अम्→णित् कृत् परे होने पर युक् का आगम[2] पा+य्+अम्=पायम् । द्विप्रयोग (द्वित्व) होकर पायं पायम् । पक्ष में पीत्वा पीत्वा ।

भोजं भोजम् (बार बार खाकर)—क्रिया के बार बार होने को प्रकट करने के लिये भुज् धातु से णमुल् प्रत्यय होकर भुज्+अम्→उ को गुण ओ=भोजम् । द्वित्व होकर भोज भोजम् । पक्ष में—भुक्त्वा भुक्त्वा ।

श्रावं श्रावम् (बार बार सुनकर)—आभीक्ष्य अर्थ में श्रु धातु से णमुल् प्रत्यय होकर श्रु+णमुल्→श्रु+अम्, उ को वृद्धि[3] औ तथा आव् आदेश होकर श्राव्+अम्=श्रावम् । द्वित्व होकर श्रावं श्रावम् । पक्ष में श्रुत्वा श्रुत्वा ।

३२९. अन्यथेति—अन्यथा, एवम् कथम् और इत्थम्—इनके उपपद होने पर कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है यदि कृञ् का अप्रयोग (प्रयोग न करना) सिद्ध हो ।

व्यर्थत्वादिति—सिद्धाप्रयोग का अर्थ है—'व्यर्थ होने के कारण कृञ् धातु का प्रयोग आवश्यक न हो' अर्थात् कृञ् धातु का प्रयोग होता है, किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं प्रकट होता ।

अन्यथाकारं भुङ्क्ते—(अन्य प्रकार से खाता है)—यहाँ 'अन्यथा भुङ्क्ते' का जो अर्थ होता है वही 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' का अर्थ है, इसलिये 'कृ' धातु का प्रयोग व्यर्थ है, उसका अप्रयोग सिद्ध है। ऐसी 'अन्यथा' पूर्वक कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। अन्यथा+कृ+णमुल्→ऋ को वृद्धि और आर् होकर अन्यथा+कार्+अम्=अन्यथाकारम् । इसी प्रकार एवं+कृ+णमुल्=एवङ्कारम् (इस प्रकार से), कथङ्कारम्, इत्थङ्कारम् ।

---

१. अचोञ्णिति ७।२।११५।

२. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३।

३. अचोञ्णिति ७।२।११५।

भुङ्क्ते। सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

सिद्धेति किम् इति—सूत्र मे सिद्धाप्रयोग (कृ का प्रयोग व्यर्थ हो) शब्द क्यो दिया ? इसलिये कि जहाँ 'कृ' का प्रयोग आवश्यक होता है, वहाँ अन्यथा आदि पूर्वक 'कृ' धातु से णमुल् प्रत्यय नही होता, जैसे—'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते।' (सिर को अन्यथा करके खाता है), यहाँ कृ धातु के प्रयोग के बिना वाक्य ही निरर्थक है। इत्युत्तरकृदन्तम् ॥४॥

इति कृदन्तप्रकरणम्।

अथ तद्धितप्रकरणम्

अथ साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

३३० । समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२॥

इदं पदत्रयमधिक्रियते प्राग्दिश इति यावत् ।

३३१ । अश्वपत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४॥

अथ तद्धितेति—'तद्धित' शब्द अन्वर्थ संज्ञा है, 'तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः तद्धिताः' जो उन उन प्रयोगों के लिये हितकर हैं, इसलिये प्रयोग के अनुसार ही तद्धित प्रत्ययों का व्यवहार होना चाहिये । (सि० तत्त्वबोधिनी) ।

३३० समर्थानामिति—समर्थानाम्, प्रथमात्, वा इन तीन पदों का प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) तक अधिकार है ।

प्राग्दिशो विभक्तिः सूत्र से आगे स्वार्थिक प्रत्यय चलते हैं, उनमें इस अधिकार का प्रयोजन नहीं ।

अभिप्राय यह है—तद्धित विधायक सूत्रों में पहले उच्चारित पद द्वारा जिसका बोध हो, सामर्थ्य (अर्थ कथन योग्यता) होने पर उससे विकल्प से प्रत्यय होता है । जैसे—'तस्यापत्यम्' इस तद्धित विधायक सूत्र में 'तस्य' और 'अपत्यम्' दो शब्द हैं । इनमें प्रथम उच्चारित 'तस्य' है. इससे (षष्ठ्यन्त) 'उपगु' इत्यादि का बोध होता है । अतः 'उपगोः अपत्यम्' इस अर्थ में 'उपगु' आदि शब्द से विकल्प से प्रत्यय होता है । पक्ष में वाक्य का ही प्रयोग होता है ।

३३१. अश्वेति—अश्वपति आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । प्राग्दीव्यतीय (अपत्य आदि) अर्थों में । यहाँ प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३ से अण् की अनुवृत्ति आती है ।

टिप्पणी—तेन दीव्यति ४।४।२ सूत्र कहा गया है, वहाँ तक प्राग्दीव्यतीय अर्थ है । प्राग्दीव्यतीय अर्थों में—अपत्यार्थ, रक्ताद्यर्थ, चतुरर्थ, शेष तथा विकारार्थ सम्मिलित हैं ।

आश्वपतम्—अश्वपतेः अपत्यादि (अश्वपति की अपत्य इत्यादि)—इस विग्रह में तद्धित विधायक सूत्र में प्रथम उच्चारित समर्थ पद अश्वपति से अण् प्रत्यय होता है । 'अश्वपति ङस् + अण्' इसकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होकर ङस् का लोप हो जाता है ।[1] अश्वपति + अ इस दशा में आदि के 'अ' को वृद्धि[2] (आ)

---

१. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। अश्वपतेरपत्यादि-आश्वपतम्। गाणपतम्।

३३२। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः।४।१।८५॥

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु यः स्यात्। अणोऽपवादः। दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्)—

३३३। हलो यमां यमि लोपः।८।४।६४॥

हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि। इति यलोपः। आदित्यः। प्राजापत्यः।

होकर तथा अन्त के 'इ' का लोप[1] होकर आश्वपत्+अ→आश्वपत शब्द बनता है। फिर अर्थ के अनुसार नपुंसक लिङ्ग प्रथमा के एकवचन में 'आश्वपतम्' रूप बनता है।

टिप्पणी (i) जिन तद्धित प्रत्ययों में ञ्, ण् इत्संज्ञक होता है वे ञित्, णित् कहलाते हैं। उनके परे होने पर शब्द के प्रथम स्वर की वृद्धि हो जाती है (तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७)। इसी प्रकार कित् प्रत्यय परे होने पर भी (किति च ७।२।११८)।

(ii) यकारादि तथा अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा होती है और भ संज्ञक के इवर्ण तथा अवर्ण का ईकार तथा तद्धित परे होने पर लोप हो जाता है (यस्येति च)।

गाणपतम्—गणपतेरपत्यम् (गणपति की सन्तान आदि)—गणपति शब्द अश्वपति आदि (गण) में पढ़ा है इससे अण् प्रत्यय होकर 'आश्वपतम्' के समान रूप होता है।

३३२. दित्येति—दिति, अदिति, आदित्य तथा जिसमें पति शब्द उत्तरपद हो—ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ण्य प्रत्यय होता है। ण्य में य शेष रहता है। यह अण् का बाधक है।

दैत्य—दितेरपत्यम् (दिति की सन्तान)—दिति शब्द से अपत्य अर्थ में उपर्युक्त सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय होता है। दिति+य इस दशा में आदि 'इ' को वृद्धि (ऐ) तथा अन्त्य 'इ' का लोप होकर दैत्+य=दैत्य रूप बनता है।

अदितेरिति—अदिति या आदित्य की अपत्य, इस अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है।

३३३. हल इति—व्यञ्जन (हल्) से परे यम् (य, र, ल, व तथा वर्गों के पञ्चम अक्षर का) लोप हो जाता है, यम् परे होने पर।

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

(वा) देवाद्यञञौ ।

दैव्यम्, दैवम् ।

*(वा) वहिषष्टिलोपो यञ्च ॥

वाह्यः ।

*(वा) ईकक् च ।

आदित्य—अदितेः अपत्यम् (अदिति की सन्तान)—इस विग्रह में अदिति शब्द से ण्य प्रत्यय होकर आदि अ को वृद्धि (आ) 'इ' लोप हो जाता है और आदित्य रूप बनता है ।

आदित्यस्य अपत्यम् (आदित्य की सन्तान)—इस विग्रह में ण्य प्रत्यय होकर 'आदित्य + य' इस दशा में य् से आगे वाले अ का लोप[1] होकर आदित्य् + य' इस दशा में ऊपर के सूत्र से 'य्' (यम्) लोप हो जाता है तथा आ दित्य रूप बनता है । 'यणो मयो' इससे पूर्व यकार को द्वित्व होने पर तथा लोप होने पर 'आदित्य्य' रूप होगा । इसी प्रकार द्वित्व तथा लोप न होने पर भी । द्वित्व होकर लोप न होने पर त्रियकार का रूप होगा ।

प्राजापत्य—प्रजापतेः अपत्यम् पुमान् (प्रजापति की पुरुष सन्तान)—

इस विग्रह में पति उत्तरपद होने से प्रजापति शब्द से ण्य प्रत्यय होता है । प्रजापति + य → आदि वृद्धि, 'इ' का लोप प्राजापत् + य प्राजापत्यः ।

देवाद् इति (वा) देव शब्द से अपत्यादि अर्थों में यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं । यञ् में य और 'अञ्' में अ शेष रहता है ।

दैव्यम्, दैवम्—देवस्य अपत्यम् (देव की सन्तान)—इस विग्रह में 'देव' से यञ् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं । देव + य तथा देव + अ इस दशा में आदि ए को वृद्धि[2] (ऐ) तथा व् से आगे वाले (अ) का लोप[1] होकर दैव्यम् तथा दैवम् रूप होते हैं ।

बहिष इति (वा)—बहिस् शब्द से अपत्यादि अर्थों में यञ् प्रत्यय होता है और टिसंज्ञक अर्थात् 'इस्' का लोप होता है ।

बाह्यः—बहिर्भवः (बाहर होने वाला)—इस विग्रह में बहिस् शब्द से यञ् प्रत्यय होकर 'इस्' (टिसंज्ञक) का लोप हो जाता है । आदि वृद्धि अ को आ होकर बाह् + य = बाह्यः रूप बनता है ।

ईकक् चेति—बहिस् शब्द से इन अर्थों में ईकक् प्रत्यय होता है और टि संज्ञक का लोप भी ।

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

३. यस्येति च ६।४।१४८।

२३४। किति च ।७।२।११८॥

किति तद्धिते चाचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। बाहीकः।

*(वा) गोरजादिप्रसङ्गे यत्॥

गोरपत्यादि गव्यम्।

२३५। उत्सादिभ्योऽञ् ।४।१।८६॥

औत्सः।

इति साधारणप्रत्ययाः॥

अथ अपत्याधिकारः ॥२॥

२३६। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ।४।१।८७॥

---

२३४ कितीति—कित् तद्धित परे होने पर स्वरों में आदि स्वर को वृद्धि होती है। [कित् का अर्थ है जिसमें क् की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो गया हो। ईकक् प्रत्यय में 'क्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है अतः यह कित् है।]

बाहीकः—बहिर्भव (बाहर होने वाला)—इस विग्रह में बहिस् शब्द से ईकक् प्रत्यय होकर बहिस्+ईक इस दशा में इस् (टि) का लोप तथा 'किति च' से आदि स्वर अ को वृद्धि (आ) होकर बाहीकः रूप बनता है।

गोरजादीति (वा)—स्वर है आदि में जिनके (अजादि) अर्थात् अण् इत्यादि प्रत्यय प्राप्त होने पर गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है।

गव्यम्—गोः अपत्यादि (गौ की सन्तान आदि)—इस विग्रह में गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है। गो+य इस दशा में ओ को अव् (वान्तो यि प्रत्यये) होकर गव्+य=गव्य शब्द बनता है।

२३५ उत्सादिभ्य इति—उत्स इत्यादि शब्दों से अपत्यादि अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है।

औत्सः—उत्सस्य अपत्यम् पुमान् (उत्स की पुरुष सन्तान)—इस विग्रह में उत्स शब्द से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार अञ् प्रत्यय होता है। उत्स्+अ इस अवस्था में आदि स्वर उ को वृद्धि[1] (औ) तथा अन्त्य अकार का लोप[2] होकर औत्स्+अ=औत्सः रूप बनता है।

इति साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

अथ अपत्यप्रत्ययाः स्त्रीपुंसाभ्यामिति—'धान्यानां भवने' ५।२।१। इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुम् शब्द से क्रम से नञ् और स्नञ् प्रत्यय होते हैं। नञ् में न तथा स्नञ् में स्न शेष रहता है।

---

१ तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७॥

२. यस्येति च ६।४।१४८॥

धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

३३७। तस्यापत्यम् ।४।१।९२॥

षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः।

३३८। ओर्गुणः ।६।४।१४६॥

उवर्णान्तस्य भस्य गुणः स्यात् तद्धिते। उपगोरपत्यमौपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

३३९। अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२॥

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात्।

३४०। एको गोत्रे ।४।१।९३॥

स्त्रैणः—स्त्रियाः अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः आदि (स्त्री का सन्तान स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समुदाय आदि)—इन विग्रहों में स्त्री शब्द से (अपत्यादि अर्थों में) उपर्युक्त सूत्र से नञ् प्रत्यय होता है। स्त्री + न इस अवस्था में आदि वृद्धि (ई को ऐ) तथा न को ण होकर स्त्रैणः रूप बनता है।

पौंस्नः—पुंसः अपत्यादि (पुरुष का अपत्यादि,—पुंस शब्द से स्नञ् प्रत्यय होकर पुंस् + स्न इस दशा में पुंस् के सकार का लोप[1] हो जाता है। आदि उ को वृद्धि (औ) पौंस्नः।

३३७. तस्येति—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ पद से अपत्य अर्थ में पहले कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

३३८. ओरिति—जिसके अन्त में 'उ' वर्ण है ऐसे भसंज्ञक को गुण होता है, तद्धित प्रत्यय परे होने पर।

औपगवः—उपगोः अपत्यं पुमान् (उपगु की पुरुष सन्तान)—यहाँ 'उपगु' शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। उपगु + अ इस दशा में आदि स्वर को वृद्धि (उ को औ) तथा अन्तिम 'उ' को ऊपर के सूत्रानुसार गुण (उ को ओ) होकर औपगो + अ इस दशा में ओ को अव् हो जाता है तथा औपगवः रूप बनता है।

'आश्वपतः' इत्यादि शब्द ऊपर आ चुके हैं।

३३९. अपत्यमिति—अपत्य रूप में विवक्षित पौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है।

३४०. एक इति—गोत्र अर्थ में एक ही (अपत्यवाचक) प्रत्यय होता है।

औपगवः—उपगोः गोत्रापत्यम् (उपगु की गोत्रापत्य)—यहाँ उपगु शब्द से

---

१. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३।

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात्। उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः।

३४१। गर्गादिभ्यो यञ् ।४।१।१०५॥

गोत्रापत्ये। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। वात्स्यः।

३४२। यञञोश्च ।२।४।६४॥

गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः।

३४३। जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३॥

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यात्।

अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् औपगव रूप होता है। "एको गोत्रे" नियम के कारण उपगु की पाँचवी, दसवीं या सौवीं आदि गोत्रापत्य का कथन के लिये भी 'औपगव' शब्द ही पर्याप्त होगा अन्य कोई प्रत्यय करने की आवश्यकता न होगी।

३४१ गर्गादिभ्य इति—गर्ग आदि शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है।

गार्ग्यः—गर्गस्य गोत्रापत्यम् (गर्ग के पौत्र आदि)—इस अर्थ में गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय होता है। 'गर्ग+य' इस दशा में आदि अ को वृद्धि (आ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्य' रूप बनता है। इसी प्रकार वत्सस्य गोत्रापत्यम् वात्स्यः।

यञञोरिति—गोत्र अर्थ में जो यञ् प्रत्ययान्त और अञ् प्रत्ययान्त शब्द हों उनके अवयव यञ् अञ् का लोप हो जाता है उन अर्थों के बहुत्व में, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में लोप नहीं होता।

गर्गाः—गार्ग्य शब्द से बहुवचन में गर्गाः होता है। यहाँ उपर्युक्त सूत्रानुसार गर्ग+यञ् (गार्ग्य) में यञ् का लोप होता है। इस प्रकार गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः रूप होंगे। इसी प्रकार वत्साः।

टिप्पणी—द्वितीयादि विभक्तियों के बहुवचन में भी गोत्र प्रत्यय यञ् और अञ् का लोप हो जाता है तथा गर्गान् इत्यादि रूप बनते हैं।

३३४३. जीवतीति—वंश्य अर्थात् पिता इत्यादि के जीवित रहते पौत्र आदि की जो अपत्य (प्रपौत्र) उसकी युवा संज्ञा ही होती है।

टिप्पणी—वंश्य का अर्थ है वंश में हुआ, पूर्वज (पिता, पितामह आदि), यदि इनमें से कोई जीवित हो तो पौत्र (प्रथम गोत्रापत्य) की सन्तान को युवापत्य कहा जाता है।

३४४ । गोत्राद् यून्यस्त्रियाम् ।४।१।९४॥

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात् । स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

३४५ । यञिञोश्च ।४।१।१०१॥

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् स्यात् ।

३४६ । आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२॥

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् एते स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

३४७ । अत इञ् ।४।१।९५॥

---

३४४. गोत्रादिति—युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में तो युवा संज्ञा होती नहीं ।

३४५. यञिञोश्च—गोत्र अर्थ में जो यञ् और इञ् प्रत्यय होते हैं, तदन्त से (युवापत्य अर्थ में) फक् प्रत्यय होता है । फक् में 'क्' का लोप होकर फ शेप रहता है ।

३४६. आयन्निति—प्रत्यय के आदि फकार को आयन्, ढकार को एय्, खकार को ईन, छकार को ईय्, घकार को इय् हो जाता है ।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य युवापत्यम् (गर्ग की युवापत्य)—इस अर्थ में ऊपर के सूत्र के अनुसार गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द से (यञिञोश्च) फक् प्रत्यय होता है । गार्ग्य + फ इस दशा में फकार को आयन् होकर तथा गार्ग्य के अन्त्य अ का लोप होकर गार्ग्य् + आयन् + अ → (न् को ण्) गार्ग्यायणः ।

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अपत्य या सन्तति तीन प्रकार की है—१-अनन्तरापत्य (पुत्र), २-गोत्रापत्य (पौत्रादि), ३-युवापत्य (वह प्रपौत्र आदि जिसके पिता, पितामह आदि में से कोई जीवित हो) । इनमें से अनन्तरापत्य में—गर्गस्य अनन्तरापत्यं गार्गिः (अत इञ्), गोत्रापत्य में—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (गर्गादिभ्यो यञ्) तथा युवापत्य में—गर्गस्य युवापत्यम् गार्ग्यायणः (यञिञोश्चेति फक्) ।

दाक्षायणः—दक्षस्य युवापत्यम् (दक्ष की युवापत्य) यहाँ दक्ष से गोत्र प्रत्यय इञ् होकर 'दाक्षि' बनता है । दाक्षि से युवापत्य अर्थ में 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् प्रत्यय होता है । दाक्षि + फ → दाक्षि + आयन् + अ → अन्त्य इकार का लोप, न को ण = दाक्षायणः ।

३४७. अत इति—अदन्त शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ।

दाक्षि—दक्षस्यापत्यम् (दक्ष की सन्तान)—इस अर्थ में 'दक्ष' शब्द से इञ् प्रत्यय हुआ दक्ष + इ → आदि वृद्धि (अ को आ), अन्त्य अकार का लोप = दाक्षिः ।

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तस्मादिञ् स्यात्, अपत्येऽर्थे । दाक्षि ।

३४८ । **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६॥

बाहविः । औडुलोमिः ।

*(वा) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः ।

उडुलोमाः । आकृतिगणोऽयम् ।

३४९ । **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** ।४।१।१०४॥

एभ्योऽञ् । ये त्वात्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । बिदस्य गोत्रं बैदः । बैदौ । बिदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः पौत्रौ, पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।

---

३४८ बाह्वादिभ्य इति—बाहु आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ।

बाहविः—बाहोरपत्यम् (बाहु की सन्तान)—इस अर्थ में बाहु शब्द से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार 'इञ्' प्रत्यय होता है । बाहु + इ इस दशा में उ को गुण[1] (ओ) तथा अव् होकर 'बाहु + अव् + इ→बाहविः' रूप होता है ।

औडुलोमिः—उडूनि (=नक्षत्राणि) इव लोमानि यस्य स उडुलोमा तारों के समान लोम वाला एक ऋषि (तस्य अपत्यम् उडुलोम की सन्तान)—इस अर्थ में 'बाहु' आदि गण में होने के कारण 'उडुलोमन्' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय होता है । उडुलोमन् + इ इस अवस्था में आदि वृद्धि उ को औ तथा अन् (टि) का लोप[2] होकर 'औडुलोमि' शब्द बनता है ।

लोम्न इति (वा)—अपत्यार्थक बहुवचन में लोमन् शब्द से अ प्रत्यय कहना चाहिए ।

उडुलोमाः—उडुलोम्नः अपत्यानि (उडुलोम की सन्तानें)—इस अर्थ में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार उडुलोमन् से 'अ' प्रत्यय होता है । उडुलोमन् + अ इस अवस्था में अन् का लोप होकर प्रथमा के बहुवचन में उडुलोमाः रूप बनता है ।

आकृतिगण इति—यह (बाहु आदि) आकृतिगण है । जिन शब्दों में इञ् (तद्धित) प्रत्यय दिखलाई देता है किन्तु इञ् प्रत्यय करने वाला कोई सूत्र (नियम) नहीं मिलता, उन्हें बाहु आदि गण में समझना चाहिये ।

३४९ अनृषीति—बिद आदि शब्दों से गोत्र अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है किन्तु इनमें जो ऋषि नहीं हैं उनसे (अनन्तर) अपत्य अर्थ में होता है ।

बैदः—बिदस्य गोत्रापत्यम् (बिद ऋषि की गोत्रापत्य)—बिद शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होकर बिद + अ इस अवस्था में आदि इ को वृद्धि ऐ तथा अन्त्य अ का लोप होता है और बैद रूप बनता है ।

---

१ ओर्गुणः ६।४।१४६।

२. नस्तद्धिते ६।४।१४४।

३५० । शिवादिभ्योऽण् ।४।१।११२॥

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

३५१ । ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ।४।१।११४॥

ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः–वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ।

विदाः—गोत्रापत्यार्थक 'अञ्' प्रत्यय का बहुवचन में लोप[1] हो जाता है ।

पौत्रः—पुत्रस्य अपत्यम् (पुत्र की सन्तान)-पुत्र शब्द ऋषि नही । अतः इससे अनन्तर अपत्य में अञ् प्रत्यय होता । पुत्र + अ = पौत्रः रूप बनता है ।

पौत्राः—यहाँ गोत्रापत्य अर्थ मे अञ् प्रत्यय नही अतएव बहुवचन में अञ् का लोप नहीं होता ।

एवमिति—इसी प्रकार दुहितुः अपत्यम् (पुत्री की सन्तान)—दुहितृ + अण् → ऋ को र् (यण्) होकर दौहित् = र् + अ = दौहित्रः इत्यादि ।

शिवादीति—शिव आदि (गण) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

३५०.शैवः—शिवस्यापत्यम् (शिव की सन्तान)—इस अर्थ में 'शिव' से अण् प्रत्यय होकर 'शिव + अ' इस दशा में आदिवृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है ।

गाङ्गः—गङ्गायाः अपत्यम् (गङ्गा की सन्तान)–इस अर्थ में गङ्गा शब्द से 'अण्' प्रत्यय, अन्त्य आकार का लोप (यस्येति च) होकर गाङ्गः ।

३५१. ऋष्यन्धकेति—ऋषि = प्रसिद्ध वसिष्ठ आदि । अन्धक, वृष्णि और कुरु ये वंशों के नाम हैं—इनसे अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

ऋषिभ्य इति—ऋषि के नामों से, जैसे—

वासिष्ठः—वसिष्ठस्य अपत्यम् (वसिष्ठ की सन्तान)—ऋषिवाचक वसिष्ठ शब्द से अण् प्रत्यय होकर आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य (अ का) लोप होता है। इसी प्रकार विश्वामित्रस्यापत्यम्—वैश्वामित्रः ।

अन्धकेभ्य इति—अन्धक वंश वालों से, जैसे—

श्वाफल्कः—श्वफल्कस्य अपत्यम्, श्वफल्क अन्धक वंश का है, अतः इससे अण् प्रत्यय होकर 'श्वाफल्कः' बनता है ।

वृष्णिभ्य इति—वृष्णि वंश वालों से, जैसे–

वासुदेवः—"वसुदेवस्यापत्यम्"—वसुदेव वृष्णि वंश में है, अतः इससे अण् प्रत्यय होता है ।

कुरुभ्य इति—कुरु वंशियों से, जैसे—

---

१. यञञोश्च २।४।६४। (३४२)

३५२। मातुरुत्सङ्ख्यासंभद्रपूर्वाया ।४।१।११५॥

सङ्ख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः ।

३५३। स्त्रीभ्यो ढक् ।४।१।१२०॥

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् स्यात् । वैनतेयः ।

३५४। कन्यायाः कनीन च ।४।२।११६॥

चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च ।

नाकुल —नकुलस्यापत्यम्, कुरुवंश में होने से नकुल से अण् प्रत्यय होता है । इसी प्रकार साहदेव ।

३५२ मातुरिति—(अपत्य अर्थ में)—संख्या, सम् और भद्र पूर्वक मातृ शब्द को उत् आदेश होता है और अण् प्रत्यय ।

टिप्पणी—मातृ शब्द के अन्त्य स्वर अर्थात् ऋ को 'उ' (उत्) होता है।[1] और वह 'र्' सहित होकर 'उर्' होता है।[2]

द्वैमातुर[3]—द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् (दो माताओं की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में द्विपूर्वक मातृ शब्द से अण् प्रत्यय तथा ऋ को उर् हो जाता है । द्वि+मात्+उर्+अ इस दशा में आदि इ को वृद्धि (ऐ) होकर द्वैमातुरः रूप बनता है । इसी प्रकार "षण्णां मातॄणामपत्यं पुमान्' षाण्मातुर ।[4] समातुरपत्यं पुमान्' सामातुर । 'भद्रमातुरपत्यं पुमान् (अच्छी माता की पुरुष सन्तान) भाद्रमातुर ।

३५३. स्त्रीभ्य इति—स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।

ढक् में क् का (इत्संज्ञा) लोप हो जाता है तथा ढ को एय्[5] हो जाता है ।

वैनतेय —विनताया अपत्यं पुमान् (विनता की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में स्त्रीप्रत्ययान्त (विनत+टाप्) विनता शब्द से ढक् प्रत्यय होता है । ढ को एय् तथा आदि इ को वृद्धि[6] (ऐ) और अन्त्य आ का लोप[7] होकर वैनतेय रूप होता है ।

३५४. कन्याया इति—कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और कन्या को कनीन आदेश जाता है ।

---

१ अलोऽन्त्यस्य १।१।५२॥
२. उरण् रपरः १।१।५१॥
३ गणेश ।
४ कार्तिकेय ।
५. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२॥ (३४६)
६. किति च ७।२।११८।
७, यस्येति च ६।४।१४७।

३५५। राजश्वशुराद्यत् ।४।१ १३७॥

*(व) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्।

३५६। ये चाभावकर्मणोः ।६।४।१६८॥

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। जाता-वेवेति किम्?

३५७। अन्। ६।४।१६७॥

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे। राजनः। श्वशुर्यः।

कानीनः—कन्यायाः अपत्यं पुमान् (कन्या की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में कन्या शब्द से अण् प्रत्यय तथा कनीन आदेश होकर कन्या+अ→कनीन +अ (आदि वृद्धि) कानीनः रूप होता।

३५५. राजेति—राजन् और श्वशुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

राज्ञ इति (वा)—राजन् शब्द से जाति में ही (यत्) होता है, यह कहना चाहिये। अर्थात् यत् प्रत्यय से बने हुए शब्द की वाच्य 'जाति' होती है।

३५६. ये चेति—यकारादि तद्धित परे होने पर 'अन्' ज्यों का त्यों (प्रकृत्या) रहता है किन्तु भाव और कर्म में नहीं।

राजन्यः—राज्ञोऽपत्यं जातिः (राजा की सन्तान क्षत्रिय जाति)—इस अर्थ में राजन् शब्द से यत् प्रत्यय होता है। राजन्+य→राजन्यः—क्षत्रिय।

राजन्+य इस दशा में 'नस्तद्धिते' सूत्र से अन् (टि) का लोप प्राप्त हुआ "ये चाभावकर्मणोः" से निषेध हुआ और अन् ज्यों का त्यों (प्रकृत्या) ही रह गया।

जाताविति—जाति में ही हो ऐसा क्यों कहा गया? इसलिये कि जातिभिन्न अर्थ में यत् प्रत्यय नहीं होता। जैसे—(राजनः)

३५७. अन् इति—अण् प्रत्यय परे होने पर अन् ज्यों का त्यों रहता है (प्रकृतिभाव)।

राजनः—राज्ञोऽपत्यम् (राजा की सन्तान)—इस अर्थ में राजन् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। राजन्+अ इस दशा में 'नस्तद्धिते' से अन् (टि) का लोप प्राप्त होता है, किन्तु, 'अन् ३५७' के अनुसार अन् का प्रकृतिभाव होकर राजन्+अ= राजनः रूप होता है।

श्वशुर्यः—श्वशुरस्यापत्यं पुमान् (श्वसुर की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में श्वशुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है। श्वशुर+य→अन्त्य अकार का लोप श्वशुर्+ य=श्वशुर्यः।

३५८ । क्षत्राद् घ ।४।१।३८॥

क्षत्रिय । जाताविन्येव । क्षात्रिरन्यत्र ।

३५९ । रेवत्यादिभ्यष्ठक् । ४।१।१४६॥

३६० । ठस्येकः ।७।३।५०॥

अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात् । रैवतिक ।

३६१ । जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ।४।१।१६८॥

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये । पाञ्चालः ।

---

३५८ क्षत्राद् इति—क्षत्र शब्द से घ प्रत्यय होता है । (जाति अर्थ में ही) ।

क्षत्रिय —क्षत्रस्यापत्य जाति (क्षत्र की सन्तान, जाति)—इस अर्थ में क्षत्र शब्द से घ प्रत्यय होकर घ को इय हो जाता है । क्षत्र + इय → अन्त्य अ का लोप → क्षत्र् + इय = क्षत्रिय ।

जाताविति—क्षत्र शब्द से जाति अर्थ में ही घ प्रत्यय होता है अतएव जाति-भिन्न अर्थ में—

क्षात्रि —'क्षत्रस्य अपत्यम्' इस अर्थ में 'अत इञ्' सूत्र से अनुसार इञ् प्रत्यय होकर क्षत्र + इ → आदिवृद्धि अ को आ तथा अन्त्य का लोप क्षात्र् + इ = क्षात्रि ।

३५९ रेवत्यादिभ्य इति—रेवती आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

३६० ठस्येति—अङ्ग मंज्ञक से परे ठ् को इक् आदेश होता है ।

रैवतिक —रेवत्या. अपत्य पुमान् (रेवती की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में 'रेवती' शब्द में ठक् प्रत्यय होता है । ठ् को इक् होकर रेवती + इक् इस दशा में आदि ए को वृद्धि[1] ऐ तथा अन्त्य ई का लोप[2] होकर रैवत् + इक् = रैवतिक रूप— बनता है ।

३६१ जनपदेति—जो जनपदवाचक शब्द क्षत्रिय का भी वाचक हो उससे अञ् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में ।

पाञ्चाल —पञ्चालानामपत्य पुमान् (पञ्चालों की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में जनपदवाचक तथा क्षत्रियवाचक पञ्चाल शब्द से अञ प्रत्यय होता है । पञ्चाल + अ इस दशा में आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य अ का लोप होकर पाञ्चाल रूप होता है ।

टिप्पणी—जनपद प्रदेश को कहते हैं । पञ्चाल शब्द एक जनपद का नाम है और उसकी निवासी एक क्षत्रिय जाति का भी ।

---

१ किति च ७।२।११८।

२. यस्येति च ६।४।१४८।

(वा) क्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत ॥

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः ।

(वा) पूरोरण् वक्तव्यः ॥

पौरवः ।

(वा) पाण्डोर्ड्यण् पाण्ड्यः ।

३६२. कुरुनादिभ्यो ण्य ।४।१।१७२॥

कौरव्यः । नैषध्यः ।

क्षत्रिय इति (वा)—जो जनपदवाचक शब्द समान रूप से क्षत्रियवाचक भी हैं उनसे तस्य राजा (उसका राजा) इस अर्थ में अपत्य अर्थ के समान प्रत्यय होते हैं ।

पाञ्चालः—पञ्चालानां राजा (पञ्चालों का राजा)—इस अर्थ में भी अपत्यार्थ के समान अञ् प्रत्यय होकर पाञ्चाल रूप बनता है ।

पूरोरिति (वा)—पूरु शब्द से राजा अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये ।

पौरवः—पूरूणां राजा (पूरु नामक जनपद का राजा)—इस अर्थ में 'पूरु' शब्द से अण् प्रत्यय होता है । पूरु + अ → आदिवृद्धि ऊ को औ तथा अन्त के उ को गुण[1] (उ को ओ) होकर पौरो + अ → पौरव् + अ = पौरवः रूप होता है ।

पाण्डोरिति (वा)—समान रूप से जनपद तथा क्षत्रियवाचक पाण्डु शब्द से राजा अर्थ में ड्यण् प्रत्यय होता है । 'ड्यण्' में ड् और ण् का लोप हो जाता है, य शेष रहता है । डित् होने के कारण इस प्रत्यय के परे होने पर टि का लोप होता है ।

पाण्ड्यः—पाण्डूनां राजा (पाण्डु जनपद का राजा)—इस अर्थ में पाण्डु शब्द से ड्यण् प्रत्यय होता है । पाण्डु + य → उ (टि) का लोप[2] होकर पाण्ड् + य = पाण्ड्यः रूप बनता है ।

३६२. कुरुनादिभ्य इति—समान रूप से जनपद तथा क्षत्रियवाचक कुरु शब्द और नकारादि शब्दों से ण्य प्रत्यय होता है ।

कौरव्यः—कुरूणाम् अपत्यं पुमान् अथवा कुरूणां राजा (कुरुओं की पुरुष सन्तान या कुरुओं का राजा)—इस अर्थ में कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय होता है । कुरु + य → आदिवृद्धि[3] उ को औ तथा अन्तिम उ को गुण[4] (ओ) कौरो + य → कौरव + य = कौरव्यः ।

---

१. ओर्गुणः ६।४।१४६।

२. टेः ६।४।१४३।

३. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

४. ओर्गुणः ६।४।१४६।

३६३। ते तद्राजाः ४।१।१७४॥

अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः।

३६४। तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२॥

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् स्यात् तदर्थकृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः। पञ्चालाः। इत्यादि।

३६५। कम्बोजाल्लुक् ।४।१।१७५॥

अस्मात्तद्राजस्य लुक् स्यात्। कम्बोजः। कम्बोजौ।

(वा) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्।

चोलः। शकः। केरलः। यवनः। इत्यपत्याधिकारः॥२॥

नैषध्य—निषधानाम् अपत्यं पुमान् अथवा निषधानां राजा (निषध का अपत्य या निषध का राजा)—नकारादि निषध शब्द जनपद क्षत्रियों का नाम है। इससे ण्य प्रत्यय होकर निषध + य→आदिवृद्धि नैषध + य अन्त्य अकार का लोप नैषध्य रूप होता है।

३६३ ते इति—अञ् आदि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है।

३६४ तद्राजस्येति—बहुवचन में तद्राज प्रत्यय का लोप होता है यदि तद्राज प्रत्यय के अर्थ का बहुत्व हो, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं।

इक्ष्वाकवः—इक्ष्वाकूणां राजानः (इक्ष्वाकुओं के राजा)—'ऐक्ष्वाकः' (इक्ष्वाकूणां राजा) शब्द के बहुवचन में 'इक्ष्वाकवः' होता है—इक्ष्वाकु + अञ् (ऐक्ष्वाकः) से बहुवचन की विवक्षा में अञ् का लोप हो जाता है।

पञ्चालाः—*पञ्चालानां राजानः (पञ्चालों के राजा)*—*पाञ्चालः*, (पञ्चालानां राजा) शब्द के बहुवचन में तद्राजप्रत्यय (अञ) का लुक् हो जाता है।

कम्बोजादिति—कम्बोज शब्द से तद्राज प्रत्यय का लोप (लुक्) हो जाता है।

टिप्पणी—एकवचन और द्विवचन में तद्राज प्रत्यय का लुक् करने के लिये यह सूत्र है। जैसा कि अग्रिम उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

३६५ कम्बोजः—कम्बोजानां राजा (कम्बोजों का राजा)—इस अर्थ में 'जनपदशब्दात् ३६१ से अञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'अञ्' का लुक् हो जाता है। अञ प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी उसके अर्थ (राजा) का बोध होता है। इसी प्रकार कम्बोजौ इत्यादि।

कम्बोजादिभ्य इति (वा)—(सूत्र में कम्बोज के स्थान पर) कम्बोजादि से तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है यह कहना चाहिये।

चोल—चोलानां राजा (चोलों का राजा)—इस अर्थ में चोल शब्द से राजा अर्थ में द्व्यच् (दो स्वर वाला) होने के कारण अण् प्रत्यय हुआ[1]। उसका ऊपर के वार्तिक से लोप हो गया। इसी प्रकार शकानां राजा शकः।

---

1. द्व्यञ् मगधकलिङ्गसूरमसादण् ।४।१।१७०।

अथ रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

३६६। **तेन रक्तं रागात्** ।४।२।१॥

अण् स्यात्। रज्यतेऽनेनेति रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्।

३६७। **नक्षत्रेण युक्तः कालः** ।४।२।३॥

अण् स्यात्।

(वा) **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्** ॥

पुष्येण युक्तं पौषमहः।

३६८। **लुबविशेषे** ।४।२।४॥

केरलः—'केरलानां राजा'—इस अर्थ मे अण् प्रत्यय हुआ[1]। उसका उपर्युक्त वार्तिक से लोप हो गया। इसी प्रकार 'यवनानां राजा यवनः' इत्यपत्याधिकारः ॥२॥

अथ रक्ताद्यर्थकाः—तेन रक्तम् आदि अर्थ के प्रत्यय यहाँ से प्रारम्भ होते हैं।

३६६. तेनेति—रंगविशेषवाची शब्द से (रागात्) 'उससे रंगा हुआ' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

रज्यत इति—इससे रंगा जाता है, अतएव रंग को राग कहा गया है। अर्थात् सूत्र में राग का अर्थ है, रंगने की वस्तु, नीला पीला आदि रंग।

काषायम्—कषायेण रक्तं वस्त्रम् (गेरुआ रंग से रंगा हुआ वस्त्र)—इस अर्थ में कषाय शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। कषाय+अ इस दशा में आदिवृद्धि[2] (अ को आ) तथा अन्त्य अ का लोप[3] होकर काषाय्+अ→काषायम्।

३६७. नक्षत्रेणेति—नक्षत्र-विशेषवाचक शब्द से 'नक्षत्र से सम्बद्ध काल' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

तिष्येति (वा)—नक्षत्र-सम्बन्धी अण् प्रत्यय परे होने पर (नक्षत्र+अणि) तिष्य और पुष्य के य का लोप हो जाता है, यह कहना चाहिये।

पौषम् (अहः)—पुष्येण युक्तम् (पुष्यनक्षत्र सम्बन्धी दिन अर्थात् पुष्यनक्षत्र में स्थित चन्द्रमा से युक्त) इस विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से पुष्य शब्द से अण् प्रत्यय होता है। पुष्य+अ इस दशा में आदि वृद्धि (उ को औ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'पौष्य्+अ' इस अवस्था में ऊपर के वार्तिक से य् का लोप होकर पौष'→पौषम् रूप बनता है।

३६८. लुबिति—पूर्व सूत्र से कहे हुए (अण् प्रत्यय) का लोप हो जाता है यदि साठ दण्ड रूप काल के अवान्तर भेद (रात या दिन) का ज्ञान न हो।

---

१. जनपदशब्दात्० ४।१।१६८ (३६१)

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

३. यस्येति च ६।४।१४८।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्य।

३६९। दृष्टं साम ।४।२।१७

तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम।

३७०। वामदेवाड्डयड्डयौ ।४।२।९॥

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्।

३७१। परिवृतो रथः ।४।२।१०॥

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः।

अद्य पुष्य—अद्य पुष्येण युक्तः कालः (आज पुष्यनक्षत्र से सम्बद्ध चन्द्रमा युक्त काल है)—यहाँ पुष्य शब्द से पूर्व सूत्र से अण् हुआ। इस सूत्र से अण् का लोप हो जाता है क्योंकि यहाँ रात या दिन आदि विशेष काल का पता नही चलता।

३६९. दृष्टमिति—'उसके द्वारा (तेन) देखा गया (दृष्ट) साम' इस अर्थ मे तृतीयान्त समर्थ से अण् प्रत्यय होता है।

वासिष्ठ साम—वसिष्ठेन दृष्टं साम (वसिष्ठ द्वारा दृष्ट साम)—इस विग्रह मे वसिष्ठ शब्द से अण् प्रत्यय होता है। वसिष्ठ+अ इस दशा मे आदि वृद्धि अ को आ तथा अन्त्य अ का लोप होकर वसिष्ठ्+अ→वासिष्ठ्→वासिष्ठम्।

६७०. वामदेवादिति—'उससे देखा गया साम' अर्थ मे वामदेव शब्द से ड्यत् तथा ड्य प्रत्यय होते हैं।

ड्यत् ड्य दोनो मे 'य' शेष रहता है। तकार (तित्) स्वर[1] के लिये लगाया गया है।

वामदेव्यम्—वामदेवेन दृष्टं साम (वामदेव द्वारा देखा गया साम)—इस विग्रह मे वामदेव शब्द से ड्यत् और ड्य प्रत्यय होकर वामदेव+य इस दशा मे अ (टि) का लोप हो जाता है तथा वामदेव्य रूप बनता है।

टिप्पणी—साम मन्त्र विशेष हैं, जिन ऋषियो ने मन्त्र दर्शन किया अर्थात् जिन्हें मन्त्रो का ज्ञान हुआ, वे मन्त्र उनके द्वारा देखे गये (दृष्ट) कहलाते हैं।

३७१. परिवृत इति—'उससे ढका हुआ रथ' इस अर्थ मे तृतीयान्त से अण् प्रत्यय होता है।

वास्त्रो रथ—वस्त्रेण परिवृतः रथ (वस्त्र से ढका हुआ रथ)—इस विग्रह मे वस्त्र शब्द से अण् प्रत्यय होता है। वस्त्र+अ→वास्त्+अ→वास्त्रो रथ।

---

१. तित्स्वरितम् ६।१।१८५। इससे ड्यत् का 'अ' स्वरित होता है, किन्तु ड्य का अ आद्युदात्तश्च ३।१।३। से उदात्त होता है।

२. दे. ६।४।१४३।

३७२ । तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ।४।२।१४॥

शरावे उद्धृतः शारावः ओदनः ।

३७३ । संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१६॥

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्राः यवाः ।

३७४ । साऽस्य देवता ।४।२।२४॥

इन्द्रो देवता अस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् ।

---

३७२. तत्रेति—अमत्र का अर्थ है पात्र । 'उसमें उठाकर रक्खा हुआ' इस अर्थ मे पात्रवाचक शब्द से अण् प्रत्यय होता है ।

शाराव ओदनः—शरावे उद्धृतः (सराई में उठाया हुआ)—इस अर्थ में शराव (सराई) शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । शराव + अ = शारावः ।

३७३. संस्कृतमिति—'उसमें संस्कृत' इस अर्थ में सप्तम्यन्त से अण् प्रत्यय होता है, यदि वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य (खाने की वस्तु) हो ।

भ्राष्ट्राः यवाः—भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः । (भाड़ में संस्कार किये हुए या भुने हुए)—इस अर्थ में भ्राष्ट्र शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । भ्राष्ट्र + अ इस दशा में आदि वृद्धि[1] आ को आ अन्त्य अ का लोप होकर 'भ्राष्ट्र' शब्द बनता है ।

३७४. सास्येति—'वह इसका देवता है ।' इस अर्थ में प्रथमान्त देवतावाची शब्द से अण् प्रत्यय होता है ।

ऐन्द्रं हविः—इन्द्रो देवताऽस्य (इन्द्र है देवता इसका वह हवि)—इस अर्थ में इन्द्र शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार अण् प्रत्यय होता है । इन्द्र + अ इस दशा में आदि वृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य 'अ' का लोप होकर 'ऐन्द्र' शब्द बनता है । हविः का विशेषण होने से नपुं० प्रथमैकवचन में 'ऐन्द्रम्' ।

टिप्पणी—देवता अर्थ में सभी प्रयोगों को हविस् (नपुं०) का विशेषण करके नपुं० में दिया गया है ।

पाशुपतम्—पाशुपतिः देवताऽस्य (पशुपति है देवता इसका)—इस अर्थ में (अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४) अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि, अन्त्य (इ) का लोप होकर

---

१. यद्यपि भ्राष्ट्र के आदि में आ है, यहाँ वृद्धि की आवश्यकता नहीं तथापि 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' अर्थात् मेघ के समान लक्षण प्रवृत्त होते हैं, इस न्याय से वृद्धि होती है । भाव यह है कि जैसे मेघ कृषि—योग्य भूमि पर बरसता है, वैसे ही आवश्यकता न होते हुए भी तरङ्गित सागर पर, इसी प्रकार नियम (लक्षण) भी लक्ष्यानुसार आवश्यकता न होने पर भी लगते हैं ।

३७५। शुक्राद् घन् ।४।२।२६॥

शुक्रियम्

३७६। सोमाट्ट्यण् ।४।२।३०॥

सौम्यम्

३७७। वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ।४।२।३१॥

वायव्यम्। ऋतव्यम्।

३७८। रीङ् ऋतः ।७।४।२७॥

अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेश

रूप बनता है। इसी प्रकार "बृहस्पति देवताऽस्य" बार्हस्पत्यम्। (दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाण्ण्य, ४।१।१८६)।

३७५ शुक्रादिति—'शुक्र शब्द से वह इसका देवता है' इस अर्थ में घन् प्रत्यय होता है।

शुक्रियम्—शुक्रो देवताऽस्य (शुक्र है देवाता इसका)—इस अर्थ में उपर्युक्त सूत्र से शुक्र से घन् प्रत्यय होता है। शुक्र+घ यहाँ घ् को इय्[1] होकर शुक्र+इय्+अ (क्र के अ का लोप)[2]=शुक्रिय→शुक्रियम्।

३७६. सोमादिति—सोम शब्द से 'साऽस्य देवता' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है। ट्यण् में य शेष रहता है।

सौम्यम्—सोमो देवताऽस्य (सोम है देवता इसका)—इस अर्थ में सोम शब्द से ट्यण् प्रत्यय होता है। सोम+य→आदि वृद्धि, अन्त्य लोप—सौम्यम्।

३७७ वाय्विति—वायु, ऋतु, पितृ, उषस् शब्दों से, 'साऽस्य देवता' अर्थ में, यत् प्रत्यय होता है।

वायव्यम्—वायुर्देवताऽस्य (वायु है देवता इसका)—इस अर्थ में 'वायु' शब्द से यत् प्रत्यय होता है। 'वायु+य' यहाँ उ को गुण[3] (ओ) तथा ओ को अव् आदेश[4] होकर वायव्+य=वायव्यम् रूप होता है।

ऋतव्यम्—ऋतुर्देवताऽस्य (ऋतु है देवता इसका)—इस अर्थ में अण् प्रत्यय होकर वायव्य के समान रूप होता है।

---

१. आयनेयीनीयिय० ७।१।२। (३४६)
२ यस्येति च ६।४।१४८।
३ ओर्गुणः ६।४।१४६।
४ वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७६।

स्यात् । 'यस्येति च' । पित्र्यम् । उषस्यम् ।

३७८ (क) । **पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ।४।२।३६॥**

एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ।

३७९ । **तस्य समूहः ।४।२।३७॥**

काकानां समूहः काकम् ।

पित्र्यम्—पितरो देवताऽस्य (पितर हैं देवता जिसके वह हवि)—इस अर्थ में पितृ शब्द से 'वाय्वृतु० ३७७' सूत्र से यत् प्रत्यय होता है । पितृ + य इस दशा में "रीङ् ऋतः" से ऋ को री होकर पित् री + य तथा 'यस्येति च' से ई का लोप होकर पित् + र् + य = पित्र्यम् रूप बनता है ।

उषस्यम्—उषा. देवताऽस्य हविषः (उषा है देवता इस हवि की)—इस अर्थ में यत् प्रत्यय होकर उषस् + य = उषस्य → उषस्यम् रूप होता है ।

पितृव्येति—पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह—इन शब्दों का निपातन किया जाता है ।

टिप्पणी—"निपातन" पाणिनीय व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है । जहाँ शब्द के सिद्ध रूप सूत्र मे पढ़ दिये जाते है उनमें आवश्यकतानुसार प्रत्यय तथा आदेश आदि जाने जाते हैं वहाँ 'निपातन' (निपात्यते) कहा जाता है ।

पितृव्यः—पितुर्भ्राता (पिता का भाई, चाचा, ताऊ) इस अर्थ में मातृ शब्द से व्यत् प्रत्यय का निपातन किया गया है । पितृ + व्य = पितृव्यः ।

मातुलः—मातुर्भ्राता (माता का भाई मामा)—इस अर्थ में मातृ शब्द से निपातन द्वारा डुलच् प्रत्यय होता है । डुलच् मे से उल शेष रहता है—मातृ + उल इस दशा मे ऋ (टि) का लोप[1] → मात् + उल = मातुलः ।

मातामहः—मातुः पिता (माता का पिता, नाना)—इस अर्थ में मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय का निपातन किया गया है। मातृ + आमह → ऋ (टि) लोप → मात् + आमह = मातामहः। इसी प्रकार पितुः पिता (पिता का पिता, बाबा) पितृ + डामहच् = पितामहः ।

३७९. **तस्येति**—षष्ठ्यन्त पद से (उसका) समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

काकम्—काकानां समूहः (कौओं का समूह)—इस अर्थ में काक शब्द से अण् प्रत्यय होता है । काक + अ → आदि वृद्धि आ को आ तथा अन्त्य अ का लोप काक् + अ = काक—काकः ।

---

१. टेः ६।४।१४३।

३८० । भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३८॥

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह—

*(वा) भस्याढे तद्धिते इति पुंवद्भावे कृते—

३८१ । इनण्यनपत्ये ।६।४।१६४॥

अनपत्यार्थेऽणि परे इन्प्रकृत्या स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम् ।

---

३८० भिक्षादिभ्य इति—भिक्षा आदि शब्दों से समूह अर्थ में, अण् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—भिक्षा आदि शब्दों से समूह अर्थ में, अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७ आदि सूत्रों से ठक् आदि प्रत्यय प्राप्त हुए उन्हें बाधने के लिये प्रकृत सूत्र द्वारा 'अण्' का विधान किया गया है।

भैक्षम्—भिक्षाणां समूहः (भिक्षा का समूह)—इस अर्थ में भिक्षा शब्द से उपर्युक्त सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय होता है। (भिक्षा+अ→आदि वृद्धि 'इ' को ऐ तथा अन्त्य 'आ' का लोप होकर "भैक्षम्" रूप बनता है।

गार्भिणम्—गर्भिणीनां समूहः (गर्भिणियों का समूह) इस अर्थ में गर्भिणी शब्द से (भिक्षादिगण में होने के कारण) अण् प्रत्यय होता है। गर्भिणी+अ इस दशा में गर्भिणी को पुंल्लिंग के समान रूप (पुंवद्भाव) होकर तथा आदि वृद्धि होकर गर्भिन्+अ=गार्भिणम् रूप होता है।

इह···टिलोपो नेति—यहाँ गर्भिणी+अण् इस अवस्था में 'भस्याढे तद्धिते' (वा) (ढ भिन्न तद्धित परे होने पर भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है) इस वार्तिक से पुंवद्भाव होकर 'गर्भिन्+अ' इस दशा में नस्तद्धिते से 'टि' का लोप प्राप्त हुआ किन्तु—

३८१ इन् इति—अपत्य अर्थ से भिन्न अण् परे होने पर 'इन्' प्रकृतिभाव से रहता है।

इस कारण नस्तद्धिते से टि का लोप नहीं होता। (क्योंकि यहाँ अपत्यार्थ से भिन्न अर्थात् समूह अर्थ में अण् है)।

यौवनम्—युवतीनां समूहः (युवतियों का समूह) इस अर्थ में युवति शब्द से (भिक्षादिभ्योऽण्) अण् प्रत्यय होने पर युवति+अण्, पुंवद्भाव युवन्+अ→आदि वृद्धि उ को औ तथा अन् को[1] प्रकृतिभाव→यौवन=यौवनम् रूप होता है।

टिप्पणी—युवति - युवन्+ति (यूनस्तिः ४।१।७७) अतः पुंवद्भाव से युवति को युवन् हो जाता है। भाषा में 'यौवतम्' शब्द का भी प्रयोग मिलता है वह शतृ प्रत्ययान्त युवत् शब्द से ङीप् (स्त्री प्रत्यय) होकर बने हुए युवती शब्द से (अनुदात्तादेरञ् ४।२।४४) अञ् प्रत्यय होकर पुंवद्भाव होकर बनता है (सि० कौ० सूत्र १२४५)।

---

१. अन् ६।४।१६८ (३५८)

३८२ । ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४३।।

तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता।

*(वा) गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ।

गजता । सहायता ।

*(वा) अह्नः खः क्रतौ ।। अहीनः ।

३८३ । अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ।४।२।४७।।

३८४ । इसुसुक्तान्तात् कः ।७।३।५१।।

इस् उस् उक्तान्तात्परस्य ठस्य कः स्यात् । सावतुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।

---

३८२. ग्रामेति—ग्राम, जन और बन्धु शब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है ।

तलन्तमिति (लि०) तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है । (इससे स्त्री-प्रत्यय टाप् जोड़ा जाता है) ।

ग्रामता—ग्रामाणां समूहः (ग्रामों का समूह)—इस अर्थ में ग्राम शब्द से तल् प्रत्यय होता है । ग्राम + त स्त्रीलिङ्ग होने के कारण टाप् प्रत्यय होकर ग्राम + त + आ = ग्रामता शब्द बनता है । इसी प्रकार जनानां समूहः (जनों का समुदाय) जनता, बन्धूनां समूहः (बन्धुओं का समूह) बन्धुता ।

गजेति (वा)—गज और सहाय शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय कहना चाहिये ।

गजानां समूहः (हाथियों का समूह)—गजता, सहायानां समूहः (सहायकों का समूह) सहायता ।

अह्न इति—अहन् शब्द से समूह अर्थ में ख प्रत्यय होता है यदि क्रतु (यज्ञ) वाच्य हो ।

अहीनः—अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः (दिनों के समूह में किया जाने वाला यज्ञ)—इस अर्थ में अहन् शब्द से ख प्रत्यय होता है । अहन् + ख इस दशा में ख को ईन[1] आदेश होकर अहन् + ईन → अन् (टि) का लोप[2] अह् + ईन → अहीन = अहीनः ।

३८३. अचित्तेति—अचेतनवाची से तथा हस्ति और धेनु शब्द से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

३८४. इसिति—जिन शब्दों के अन्त के इस्, उस्, उक् या तकार हो उनसे परे ठ को क हो जाता है ।

---

१. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२ (३४६)

२. नस्तद्धिते ६।४।१४४। (१३०)

३८५। **तदधीते तद्वेद** ।४।२।५९॥

३८६। **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** ।७।३।३॥

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः किंतु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

टिप्पणी—यहाँ उक् प्रत्याहार है, जिससे उ, ऋ, लृ का ग्रहण होता है।

साक्तुकम्+सक्तूनां समूहः (सत्तुओं का समूह)—इस अर्थ में अचित्तवाची सक्तु शब्द से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सक्तु शब्द के अन्त में उक् (उ) है अतः ठ को क हो जाता है। सक्तु+क→आदि वृद्धि[1] अ को आ→साक्तुक= साक्तुकम् ।

हास्तिकम्—हस्तिनां समूहः (हाथियों का समूह)—इस अर्थ में हस्तिन् शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। हस्तिन्+ठक् यहाँ ठस्येकः ७।३।५० से ठ को इक[3] हो जाता है। हस्तिन्+इक→इन् (टि) लोप[2] तथा आदि वृद्धि[3] अ को आ→हास्त्+ इक=हास्तिक=हास्तिकम् ।

टिप्पणी—हस्तिनीनां समूहः इस अर्थ में भी भस्याढे तद्धिते से पुंवद्भाव होकर 'हास्तिकम्' रूप होता है।

धैनुकम्—धेनूनां समूहः (धेनुओं का समूह)—इस विग्रह में धेनु शब्द से उपर्युक्त सूत्र से ठक् प्रत्यय होता है। धेनु+ठक्→उक् अन्त में होने से ठ को क धेनु+क→आदि वृद्धि ए को ऐ—धैनु+क=धैनुकम् ।

३८५ तदधीते इति—द्वितीयान्त से 'उसे पढता है' या 'उसे जानता है' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

३८६. न य्वाभ्यामिति—पदान्त के यकार तथा वकार से आगे वाले (पर) स्वर को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः ऐच् का आगम होता है अर्थात् य् से पूर्व ऐ तथा व् से पूर्व औ का आगम होता है।

व्याकरण—वैयाकरणमधीते वेद वा (व्याकरण को पढता है या जानता है)—इस विग्रह में व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय होता है। व्याकरण+अण् यहाँ आदि वृद्धि प्राप्त होती है उसे बाधकर 'न य्वाभ्याम्' इत्यादि सूत्रानुसार य् से पूर्व ऐ का आगम हो जाता है। व्+ऐ+या करण+अ (अन्त्य अकार) का लोप—वैयाकरण =वैयाकरण ।

टिप्पणी—व्याकरण=वि+आकरण, यहाँ वि उपसर्ग (पद) है, इ को य् हुआ है अतः य् पदान्त माना जाता है तथा 'न य्वाभ्याम्' से वृद्धिनिषेध और ऐच् का आगम होता है।

---

१. किति च ७।२।११८॥ (३३४)

२. नस्तद्धिते ६।४।१४४॥ (१३०)।　३. किति च ७।२।११८॥ ३२४।

३८७। क्रमादिभ्यो वुन् ।४।२।६१॥

क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः। इति रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

अथ चातुरर्थिकाः ॥४॥

३८८। तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६७॥

उदुम्वराः सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्वरो देशः।

३८९। तेन निर्वृत्तम् ।४।२।६८॥

कुशाम्वेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्वी।

---

३८७. क्रमादिभ्य इति—क्रम आदि शब्दों से 'उसे पढ़ता है' या 'जानता है' अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है।

क्रमकः—क्रममधीते वेद वा (क्रम पाठ को पढ़ता है या जानता है)—इस विग्रह में क्रम शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार वुन् प्रत्यय होता है। क्रम्+वुन्→वु को अक[1] होकर क्रम+अक→अन्त्य अकार का लोप[2] क्रम्+अक=क्रमक=क्रमकः। इसी प्रकार पदं, पदपाठमधीते वेद वा (पद पाठ को पढ़ता है या जानता है) पदकः।

शिक्षकः—शिक्षामधीते वेद वा (शिक्षा को पढ़ता है या जानता है)—इस अर्थ में शिक्षा+वुन्→शिक्ष+अक अन्त्य आकार का लोप[3] शिक्ष्+अक=शिक्षकः। इसी प्रकार मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः।

इति रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

अथ चातुरर्थिकाः—अब चातुरर्थिक प्रत्यय आरम्भ किये जाते हैं। इस प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्यय कहे गये हैं इसी से इसका नाम चातुरर्थिक है। ये चार अर्थ हैं—१. वह वस्तु इसमें है, २. उसके द्वारा वनाया गया, ३. उसका निवास, ४. उससे दूर न होने वाला। प्रत्ययान्त शब्द देश-विशेष अर्थात् किसी स्थान का नाम होता है।

३८८. तदस्मिन्निति—'वह वस्तु इसमें है' इस अर्थ में प्रथमान्त शब्द से यथोक्त (कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले) प्रत्यय होते हैं, यदि प्रत्ययान्त शब्द देश का नाम हो।

औदुम्वरो देशः—उदुम्वराः सन्त्यस्मिन् देशे (गूलर हैं इस देश में)—इस विग्रह में उदुम्वर शब्द से अण् प्रत्यय होता है। उदुम्वर+अण् आदि वृद्धि उ को औ। तथा अन्त्य अकार का लोप-औदुम्वर्+अ=औदुम्वरः। देशविशेष का नाम है।

३८९. तेनेति—'उसने वसाया (वनाया)' इस अर्थ में तृतीयान्त शब्द यथोक्त प्रत्यय होते हैं।

कौशाम्वी—कुशाम्वेन निर्वृत्ता नगरी (कुशाम्व के द्वारा वसाई हुई नगरी)

---

१. युवोरनाकौ ७।१।१। २. यस्येति च ६।४।१४८।

३. यस्येति च ६।४।१४८।

२९० । तस्य निवासः ।४।२।६९॥

शिबीना निवासो देशः शैवः ।

२९१ । अदूरभवश्च ।४।२।७०॥

विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।

२९२ । जनपदे लुप् ।४।२।८१॥

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात् ।

२९३ । लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने ।१।२।५१॥

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

इस विग्रह मे कुशाम्ब शब्द से अण् प्रत्यय होता है । कुशाम्ब + अ → आदि वृद्धि अन्त्य अकार का लोप (कौशाम्ब) तथा स्त्रीत्व बोधक ङीप् (ई) प्रत्यय होकर कौशाम्बी ।

२९० तस्येति— उसका निवास इस अर्थ मे षष्ठ्यन्त शब्द से यथोक्त (अण् आदि) प्रत्यय होते हैं ।

शैव —'शिबीना निवासो देश' (शिवि लोगो का निवास देश)—इस विग्रह मे शिवि शब्द से अण् प्रत्यय होता है शिवि + अण् → आदिवृद्धि, अन्त्य इकार का लोप होकर शैव् + अ = शैव ।

२९१ अदूरेति—'उसका अदूरभव अर्थात् दूर न होने वाला' इस अर्थ मे षष्ठ्यन्त से यथोक्त (अण् आदि) प्रत्यय होते हैं ।

वैदिशम्—विदिशाया अदूरभवं नगरम् (विदिशा नामक नगरी से दूर न होने वाला नगर) इस अर्थ मे विदिशा शब्द से अण् प्रत्यय होता है । विदिशा + अण्—आदि वृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य आकार का लोप होकर वैदिश् + अ = वैदिशम् ।

२९२ जनपद इति—जनपद रूपी देशविशेष वाच्य होने पर चातुरर्थिक का लोप हो जाता है ।

२९३ लुपीति—प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जाने पर प्रकृति (युक्त) के समान लिङ्ग (व्यक्ति) तथा वचन होते हैं ।

टिप्पणी—सूत्र मे युक्त शब्द का अर्थ है—प्रकृति (जिससे प्रत्यय किया जाता है) और 'व्यक्ति' का अर्थ है—लिङ्ग (पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि) ।

पञ्चाला —पञ्चालानां निवासो जनपद. (पञ्चाल लोगो का निवास जनपद)—इस अर्थ मे पञ्चाल शब्द से 'तस्य निवास' अर्थ मे अण् प्रत्यय होता है । उनका निवास एक जनपद है अत 'जनपदे लुप्' से अण् का लोप हो जाता है । अब 'पञ्चाल' शब्द एक जनपद का नाम है इसलिए उससे एकवचन प्राप्त होता है किन्तु

३६४। वरणादिभ्यश्च ।४।२।८२॥

अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः।

३६५। कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ।४।२।८७॥

३६६। झयः ।८।२।१०॥

झयन्तान्मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्।

'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' के अनुसार अपनी प्रकृति क्षत्रियवाचक पञ्चाल शब्द (जो पुंल्लिङ्ग तथा बहुवचन है) के समान पुंल्लिङ्ग तथा बहुवचन में होता है।

इसी प्रकार—कुरूणां निवासो जनपदः (कुरु लोगों का निवास जनपद) कुरवः। अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः। वङ्गानां निवासो जनपदः वङ्गाः। कलिङ्गानां निवासो जनपदः कलिङ्गाः।

टिप्पणी—पञ्चाल आदि जनपदों के नाम सदा पुंल्लिङ्ग और बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं।

३६४. वरणादिभ्य इति—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है।

अजनेति—जनपद से भिन्न अर्थ में लोप करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है (जनपद में तो पहले सूत्र से लोप हो जाता है)।

वरणाः—वरणानामदूरभवं नगरम् (वरणा से दूर न होने वाला नगर)—इस विग्रह में 'अदूरभव' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है 'वरणा+अण्' यहाँ उपर्युक्त सूत्र से अण् का लोप हो जाता है तथा प्रकृति के समान लिङ्ग वचन होकर वरणाः रूप बनता है।

३६५. कुमुदेति—कुमुद, नड, वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय होता है, चातुरर्थिक।

टिप्पणी—ड्मतुप् में मत् शेष रहता है, डित् होने से इसके परे होने पर टि का लोप हो जाता है[1]।

३६६. झयः—झयन्त से परे 'मतु' के म को व हो जाता है।

टिप्पणी—झय् प्रत्याहार है जिसके अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण आते हैं। 'झय्' का कोई वर्ण जिसके अन्त में होता है वह शब्द झयन्त कहलाता है; जैसे कुमुद्।

कुमुद्वान्—कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे (कुमुद होते हैं इस देश में)—इस अर्थ में कुमुद शब्द से ड्मतुप् प्रत्यय होता है। कुमुद+ड्मतुप् अ (टि) का लोप होकर कुमुद् शब्द झयन्त (दकारान्त) हो जाता है। तब "झयः" से मतु के म् को व् होकर 'कुमुद्वत्' शब्द बनाता है। इससे प्रथमा, एकवचन में कुमुद्वान्।

१. टेः ६।४।१४३।

३९७ । मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ।८।२।९॥

मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य व.।

वेतस्वान् ।

३९८ । नडशादाड्ड्वलच् ।४।२।८८॥

नड्वल । शाद्वलः ।

३९९ । शिखाया वलच् ।४।२।८९॥

शिखावल ।

इति चातुरर्थिका ॥४॥

नडवान्—नडा सन्ति अस्मिन् देशे [नल (नरकुल या नरसल) होते हैं इस देश मे]—इस अर्थ मे नड + ड्मतुप् → नड + मत् = नडवत् → नड्वान् (पूर्ववत्)।

३९७ माद् इति[1]—जिस शब्द के अन्त म मकार या अकार हो तथा जिसमे अन्तिम वर्ण से पूर्व मकार या अकार हो (मवर्णावर्णोपधात्[2]) उससे परे मतु के म् को व् हो जाता है।

वेतस्वान्—वेतसा सन्ति अस्मिन् देशे (वेत होते हैं इस देश मे)—इस विग्रह मे वेतस शब्द मे ड्मतुप् प्रत्यय होता है। वेतस + ड्मतुप् → अ (टि) लोप वेतस् + मत् इस अवस्था म अन्तिम वर्ण से पूर्व अकार होने के कारण (अवर्णोपध) मतु के म् को व् हो जाता है, वेतस्वत् → वेतस्वान्।

३९८ नडेति—नड और शाद शब्द से चातुरर्थिक ड्वलच् प्रत्यय होता है।

ड्वलच् म वल शेष रहता है। डित् होने से इसके परे रहने पर टि लोप होता है।

नड्वल —नडा सन्ति अस्मिन् देशे—नड + ड्वलच् टि (अ) लोप नड् + वल → नड्वल।

शाद्वल —शादा सन्ति अस्मिन् देशे (हरी घास है इस देशे मे)—इस विग्रह मे शाद + ड्वलच् टि (अ) लोप → शाद्वल। पूर्ववत्।

३९९. शिखाया इति—शिखा शब्द से चातुरर्थिक वलच् प्रत्यय होता है।

शिखावल —शिखा. सन्ति अस्मिन् देशे (शिखा हैं इस स्थान मे)—इस विग्रह मे शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होकर रूप बनता है।

इति चातुरर्थिका

— ० —

---

१. सूत्र के 'मात्' शब्द का 'मवर्ण तथा अवर्ण' यह अर्थ है; 'मकारश्च अकारश्च अनयो समाहार. म तस्मात् मात्'।

२. अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५।

अथ शैषिकाः ॥५॥

४०० । शेषे ।४।२।९२॥

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

४०१ । राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ ।४।२।९३॥

अथ शैषिकाः—यहाँ से शैषिक प्रत्यय आरम्भ होते हैं । शेष अर्थों में होने वाले प्रत्यय शैषिक कहलाते हैं ।

४००. **शेषे इति**—अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिक तक के अर्थों से अन्य अर्थ शेष है, उस (शेष अर्थ) में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

चाक्षुषं रूपम्—चक्षुषा गृह्यते (चक्षु से जिसका ग्रहण किया जाता है)—इस विग्रह में चक्षुष् शब्द से अण्, प्रत्यय होता है । चक्षुष् + अण् आदि वृद्धि (अ को आ) चाक्षुष् + अ → चाक्षुषम् ।

श्रावणः शब्दः—श्रवणेन गृह्यते [श्रवण (कान) से जिसका ग्रहण किया जाता है]—श्रवण + अण् → श्रावण् + अ → श्रावणः ।

औपनिषदः पुरुषः—उपनिषद्भिः प्रतिपादितः (उपनिषदों के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है)—इस अर्थ में उपनिषद् शब्द से अण् प्रत्यय होता है । उपनिषद् + अण् आदि वृद्धि उ को औ औपनिषदः ।

दार्षदाः सक्तवः—दृषदि पिष्टाः (पत्थर पर पिसे हुए सत्तू)—इस अर्थ में दृषद् शब्द से अण् प्रत्यय होता है । दृषद् + अण् आदि वृद्धि ऋ को आर् दार्षद् + अ → दार्षद, प्रथमा बहु० में दार्षदाः ।

चातुरं शकटम्—चतुर्भिः उह्यते (जो चार से ले जाया जाता है)—इस अर्थ में चतुर् शब्द से अण् प्रत्यय होकर चतुर् + अ आदि वृद्धिः चातुरम् ।

चातुर्दशं रक्षः—चातुर्दश्यां दृश्यते (जो चतुर्दशी में दिखलाई देता है)—इस अर्थ में चतुर्दशी शब्द से अण् प्रत्यय होकर चतुर्दशी + अण् → आदि वृद्धि तथा अन्त्य ई का लोप होकर चातुर्दश् + अ → चातुर्दश । रक्षः का विशेषण होने से नपुं० एकवचन में चातुर्दशम् ।

तस्येति—तस्य 'विकारः' ४।३।१३४। इस सूत्र से पहले शेष का अधिकार है ।

४०१. **राष्ट्रेति**—राष्ट्र और अवारपार शब्द से क्रमशः घ और ख प्रत्यय होते हैं ।

आभ्यां क्रमाद् घखौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः, अवारपारीणः।

*(वा) अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्॥

अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषात् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते।

४०२। ग्रामाद् यखञौ।४।२।९४॥

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

राष्ट्रियः—राष्ट्रे जातः, राष्ट्रे भवः आदि (राष्ट्र में पैदा हुआ आदि)—जात आदि अर्थों में राष्ट्र शब्द से घ प्रत्यय होता है। राष्ट्र+घ→घ् को इय् तथा राष्ट्र के अन्तिम 'अ' का लोप होकर राष्ट्र→इय→राष्ट्रियः।

अवारपारीणः—अवारपारं गतः (वार पार गया हुआ)—इस अर्थ में अवारपार शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है। अवारपार+ख→ख को ईन आदेश तथा अन्त्य अकार का लोप होकर अवारपार्+ईन→(न् को ण्) अवारपारीणः।

अवारेति (वा)—अवारपार शब्द से, पृथक् किये जाने पर (अवार और पार) तथा उलट देने पर (पार+अवार=पारावार) भी ख प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये।

अवारीणः—अवारे जातः (वार में हुआ)—अवार शब्द से ख प्रत्यय होकर अवार+ख=अवार+ईन→अवारीणः। इसी प्रकार 'पारे जातः'—पारीणः (पार+ख), पारावारे जातः—पारावारीणः (पारावार+ख)।

इहेति—यहाँ प्रकृति विशेष (राष्ट्र आदि) से 'घ' आदि (राष्ट्रावारपाराद् घखौ) से लेकर ट्युट्युल् (सायं चिर० ४।३।२३) पर्यन्त प्रत्यय कहे गये हैं, उनके जात (तत्र जातः ४।३।२५) इत्यादि अर्थ तथा समर्थ विभक्तियाँ (सप्तम्यन्त आदि) आगे कही जायेंगी। इस प्रकार प्रत्यय विधायक तथा अर्थादिविधायक सूत्रों की एकवाक्यता से सूत्रों का अर्थ किया जाता है, यह भाव है।

४०२. ग्रामाद् इति—ग्राम शब्द से शैषिक अर्थों में य, खञ् प्रत्यय होते हैं।

ग्राम्यः—ग्रामे जातः, ग्रामे भवः आदि (ग्राम में पैदा हुआ इत्यादि)—इन अर्थों में ग्राम शब्द से य प्रत्यय होता है। ग्राम+य→अन्त्य अकार का लोप—ग्राम्यः।

ग्रामीणः—ग्रामे जातः आदि अर्थों में ग्राम शब्द से खञ्। ग्राम+ख→ख को ईन तथा ग्राम के अन्त्य अकार का लोप होकर ग्राम्+ईन→(न् को ण्) ग्रामीणः।

४०३। नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।९७॥

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

४०४। दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ।४।२।९८॥

दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

४०५। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१०१॥

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

---

४०३. नद्यादिभ्य इति—नदी आदि शब्दों से जातादि अर्थों में ढक् प्रत्यय होता है।

नादेयम्—नद्यां जातम् आदि (नदी में हुआ आदि)—इन अर्थों में नदी शब्द से उपर्युक्त सूत्र से ढक् प्रत्यय होता है। नदी+ढक्→ढ् को एय् आदेश होकर नदी +एय इस अवस्था में ढक् प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि[1] (अ को आ)। तब अन्त्य ई का लोप[2] होकर 'नादेयम्' रूप बनता है। इसी प्रकार—मह्यां जातम् आदि (पृथ्वी पर हुआ इत्यादि) माहेयम्, मही+ढक्→मही+एय=माहेयम्। वाराणस्यां जातम् आदि (वाराणसी में हुआ इत्यादि) वाराणसेयम् वाराणसी+ढक्→वाराणसी +एय→वाराणस्+एय=वाराणसेयम्।

४०४. दक्षिणेति—दक्षिणा पश्चात् और पुरस्-इन शब्दों से त्यक् प्रत्यय होता है (शैषिक)।

दाक्षिणात्यः—दक्षिणा जातः आदि (दक्षिण में उत्पन्न हुआ इत्यादि)—इस विग्रह में दक्षिणा शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार त्यक् प्रत्यय होता है। दक्षिणा+त्यक् →कित् परे होने के कारण आदि वृद्धि 'अ' को आ→दाक्षिणात्यः।

टिप्पणी—यहाँ 'दक्षिणादाच्' ५।३।३६ इस सूत्र के अनुसार बना; दक्षिण+ आ=दक्षिणा शब्द लिया जाता है, जो अव्यय है, (सि० कौ०) एतएव दक्षिणा जातः, दक्षिणा भवः यह विग्रह होगा। इसी प्रकार पश्चात् भवः (पीछे या पश्चिम में हुआ) पाश्चात्यः। (पुरो भवः पहले या पूर्व में हुआ)—पुरस्+त्यक्=पौरस्त्यः।

४०५. द्युप्राग् इति—दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच् और प्रतीच् इन शब्दों से जातादि अर्थों में यत् प्रत्यय होता है।

दिव्यम्—दिवि जातम् आदि (स्वर्ग में हुआ आदि)—यहाँ दिव् शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार यत् प्रत्यय होता है। दिव्+य=दिव्यम्।

इसी प्रकार प्राच्यम्—प्राच्यां भवं प्राग् भवं वा (पूर्व दिशा में होने वाला) प्राच्+यत्।

अपाच्यम्—अपाच्यां जातं भवं वा (दक्षिण दिशा में हुआ) अपाच्+यत् =अपाच्यम्।

---

१. किति च ७।२।११८। २. यस्येति च ६।४।१४८।

४०६ । अव्ययात्त्यप् ।४।२।१०४॥

(वा) अमेहक्वतसित्रेभ्य एव ।

अमात्य. । इहत्यः । क्वत्य. । ततस्त्य । तत्रत्य ।

(वा) त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ॥

नित्य ॥

४०७। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् ।१।१।७३॥

यस्य समुदायस्याचा मध्ये आदिवृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात् ।

४०८। त्यदादीनि च ।१।१।७४॥

वृद्धसंज्ञानि स्युः ।

४०९। वृद्धाच्छः ।४।२।११४॥

उदीच्यम्—उदीच्या जातं, भव वा (उत्तर दिशा मे हुआ), उदीच् + यत् ।

प्रतीच्यम्—प्रतीच्या जात भव वा (पश्चिम दिशा मे हुआ)—प्रतीच् + यत् → प्रतीच्यम् ।

४०६. अव्ययाद् इति—अव्यय से शैषिक त्यप् प्रत्यय होता है । त्यप् मे त्य शेष रहता है ।

अमेहेति (वा)—अमा (सह, साथ), इह (यहाँ), क्व (कहाँ), तस् प्रत्ययान्त (तत, यत आदि) और त्र प्रत्ययान्त (तत्र आदि) अव्ययो से ही त्यप् प्रत्यय होता है ।

अमात्य—अमा (सह) भव (साथ रहने वाला, मन्त्री)—इस विग्रह मे अमा शब्द से त्यप् प्रत्यय होता है । अमा + त्यप् → अमा + त्य → अमात्य ।

इसी प्रकार इह भव (यहाँ होने वाला)—इहत्य, क्व भवः (कहाँ होने वाला आदि) क्वत्य, तत्र भव (वहाँ होने वाला)—तत्रत्य और तत आगत (वहाँ से आया हुआ) ततस्त्य ।

त्यब्नेरिति (वा)—नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

नित्यः (स्थिर)—यहाँ नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होकर नि + त्यप् → नि + त्य → नित्य ।

४०७. वृद्धिरिति—जिस समुदाय के स्वरो (अचा) में आदि स्वर वृद्धिसंज्ञक (आ, ऐ, औ) होता है उस समुदाय (शब्द) की वृद्धसंज्ञा होती है ।

४०८ त्यद् इति—त्यद् आदि की भी वृद्धसंज्ञा होती है ।

४०९. वृद्धादिति—वृद्धसंज्ञक (शब्दो) से छ प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में ।

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

*(वा) वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ॥

देवदत्तीयः। दैवदत्तः।

४१०। गहादिभ्यश्च ।४।२।१३८॥

गहीयः।

४११। युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ।४।३।१॥

चाच्छः। पक्षेऽण् युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः, अस्मदीयः।

शालीयः—शालायां जातः, भवो वा (शाला में हुआ इत्यादि)—यहाँ 'शाला' शब्द वृद्धसंज्ञक है, क्योंकि इसका आदि अच् 'आ' है जिसकी वृद्धि संज्ञा, की गई है।[1] इसी हेतु शाला शब्द से छ प्रत्यय हो जाता है। शाला + छ → छ् को ईय्[2] तथा अन्त्य 'आ' का लोप, शाल् + ईय → शालीयः।

इसी प्रकार—मालायां जातः आदि मालीयः।

तदीयः—तस्य अयम् (उसका यह)—इस अर्थ में तद् शब्द से 'वृद्धाच्छः' से छ प्रत्यय होता है (त्यदादि में होने से तद् शब्द की वृद्ध संज्ञा है)। तद् + छ → तद् + ईय—तदीयः।

वा नामधेयस्येति (वा)—किसी व्यक्ति के नाम की विकल्प से वृद्धसंज्ञा कहनी चाहिये।

देवदत्तीयः, दैवदत्तः—देवदत्तस्य अयम् (देवदत्त का यह)—देवदत्त व्यक्ति का नाम है, इसलिये जब इसकी वृद्ध संज्ञा हो जाती है तो छ प्रत्यय होकर देवदत्त + छ —देवदत्त + ईय अकार लोप—देवदत्तीयः रूप होता है। जब वृद्धसंज्ञा नहीं होती तो अण् प्रत्यय होकर देवदत्त + अण् → आदि वृद्धि ए को ऐ दैवदत्तः।

४१०. गहादिभ्य इति—गह आदि शब्दों से भी छ प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

गहीयः—गहः देशविशेषः, तत्र जातः आदि (गह नाम के देश में उत्पन्न हुआ आदि)—इस विग्रह में गह शब्द से छ प्रत्यय होता है। गह + छ → गह + ईय अकारलोप गह् + ईय = गहीयः।

४११. युष्मद् इति—युष्मद्, अस्मद् शब्द से विकल्प से खञ् प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

चादिति—च (और) कहने से छ प्रत्यय भी होता है। तथा (विकल्प से होने के कारण) पक्ष में अण् प्रत्यय होता है।

---

१. वृद्धिरादैच् १।१।१।

२. आयनेयीनीयियः० ७।१।२।

४१२ । तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ।४।३।२॥

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च । यौष्माकीण । आस्माकीन । यौष्माक । आस्माक ।

४१३ । तवकममकावेकवचने ।४।३।३॥

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीन, तावक. । मामकीन मामक छे तु –

४१४ । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।९८॥

टिप्पणी—युष्मद्, अस्मद् शब्द की 'त्यदादीनि च' से वृद्ध संज्ञा होकर 'छ' प्राप्त था, उपर्युक्त सूत्र से विकल्प से खञ् तथा पक्ष में अण् हुआ । इस प्रकार इनसे छ, खञ् तथा अण् ये तीन प्रत्यय (शैषिक अर्थों में) होते हैं ।

युष्मदीय—युवयोः युष्माकं वाऽयम् (तुम दोनों का या तुम सब का यह) —इस विग्रह में युष्मद् शब्द से छ प्रत्यय होता है । युष्मद्+छ→युष्मद्+ईय→युष्मदीय । इसी प्रकार—आवयोः अस्माकं वा अयम् (हम दोनों का या हम सबका) अस्मदीय ।

४१२ **तस्मिन् इति**—युष्मद् और अस्मद् को युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं उस खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहने पर ।

यौष्माकीण—युवयोः युष्माकं वा अयम्—युष्मद्+खञ्→युष्मद् को युष्माक आदेश तथा ख को ईन होकर युष्माक+ईन→आदिवृद्धि उ को औ, अन्त्य अ का लोप—यौष्माक्+ईन→न् को ण्→यौष्माकीण ।

इसी प्रकार अस्मद्+खञ्→आस्माकीन ।

यौष्माक—युष्मद् । अण्=युष्मद् को युष्माक आदेश होकर युष्माक+अ→आदिवृद्धि अन्त्य अकार लोप यौष्माक । इसी प्रकार अस्मद्+अण्—आस्माक ।

४१३ **तवकेति**—एकार्थवाचक युष्मद् और अस्मद् को तवक और ममक आदेश होते हैं खञ् और अण् प्रत्यय परे रहने पर ।

तावकीन, तावक—तव अयम् (तेरा)—युष्मद् शब्द से खञ् तथा अण् । एकार्थवाचक होने से युष्मद् को 'तवक' आदेश होकर तवक+खञ्→आदिवृद्धि अ को आ तथा अन्त्य अ का लोप होकर तावक्+ईन—तावकीन । तथा तवक+अण् —तावकः । इसी प्रकार मम अयम् (मेरा)—अस्मद्+खञ्→ममक+ईन= मामकीन । अस्मद्+अण्—ममक+अण्=मामक ।

छे तु—छ प्रत्यय परे होने पर तो (एकवचन में, आगे कहे हुए कार्य होंगे) ।

४१४. **प्रत्ययोत्तरपदयोरिति**—एकार्थवाचक युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त (भाग) को त्व और म आदेश होते हैं प्रत्यय और उत्तरपद परे रहने पर ।

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमी स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः। त्वदीयः मदीयः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।

४१५। मध्यान्मः ४।३।८॥

मध्यमः।

४१६। कालाट्ठञ् ।४।३।११॥

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात्। कालिकम्। मासिकम्। सांवत्सरिकम्।

***(वा) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः॥**

सायंप्रातिकः। पौनःपुनिकः।

त्वदीयः—तव अयम् (तेरा)—एकवाची युष्मद् शब्द से छ प्रत्यय होकर युष्मद्+छ इस दशा में ऊपर के सूत्रानुसार म पर्यन्त भाग (युष्म्) को त्व् तथा छ को ईय हो जाता है। त्वद्+ईय=त्वदीयः।

इसी प्रकार मम अयम् (मेरा) अस्मद्+छ→मद्+ईय=मदीयः।

त्वत्पुत्रः—तव पुत्रः (तेरा पुत्र) इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है—युष्मत् ङसि+पुत्र सु—यहाँ विभक्ति लोप होकर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से 'पुत्र' शब्द (उत्तरपद) परे रहते युष्मद् के म पर्यन्त को त्व होकर 'त्वत्पुत्रः' बनता है। इसी प्रकार मम पुत्रः इति 'मत्पुत्रः'। (ये दोनों समास-विधि के उदाहरण हैं क्योंकि उत्तरपद समास में ही होता है)।

४१५. मध्यादिति—मध्य शब्द से शैषिक अर्थों में 'म' प्रत्यय होता है।

मध्यमः—मध्ये भवः (मध्य में होने वाला)—मध्य+म→मध्यमः।

४१६. कालादिति—कालवाची से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है।

कालिकम्—काले जातम् आदि (काल में हुआ आदि)—काल शब्द से ठञ् प्रत्यय होकर, ठ को इक् आदेश[1] हो जाता है। काल+इक→आदि[2] वृद्धि, अन्त्य अकार का लोप होकर कालिकः।

इसी प्रकार मासे जातं भवं वा मासिकम्, संवत्सरे (वर्ष में) भवम्-सांवत्सरिकम्।

अव्ययानामिति (वा)—भ संज्ञा होने पर सर्वत्र, अव्यय की टि (अन्त्य अच् सहित अग्रिम भाग) का लोप होता है।

सायंप्रातिकः—सायंप्रातः भवः (सायं और प्रातः होने वाला)—सायं प्रातर्+ठञ्→सायंप्रातर्+इक→आदिवृद्धि, ऊपर के वार्तिक से अर् भाग (टि) का लोप

---

१. ठस्येकः ७।३।५०

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

४१७। प्रावृष एण्यः ।४।३।१७॥

प्रावृषेण्य ।

४१८। सायचिरप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्टयु ट्युलौ तुट् च ।४।३।२३॥

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेप्रगेऽनयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम। दोषातनम्।

सायप्रातिक । इसी प्रकार पुन पुनर्भव (बार-बार होने वाला) पुनः पुनर्+ठञ्→आदिवृद्धि तथा टिलोप होकर पौन पुनिक ।

४१७ प्रावृष इति—प्रावृष शब्द से शैषिक अर्थों मे एण्य प्रत्यय होता है।

प्रावृषेण्यः—प्रावृषि भव (वर्षा ऋतु म होन वाला)—प्रावृष्+एण्य→प्रावृषेण्य ।

४१८. सायमिति—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे तथा कालवाची अव्ययो से ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं और उनको तुट् का आगम होता है।

टिप्पणी—ट्यु और ट्युल् प्रत्ययो मे यु शेष रहता है। इन दोनो के स्वर मे भेद है। यु को 'युवोरनाकौ' से 'अन्' होकर, 'अन् के आदि'[1] मे तुट् का आगम होता है। तुट् मे त् शेष रहता है अत प्रत्यय का रूप 'तन' हो जाता है।

सायन्तनम्—साये भवम्। (सायकाल को होने वाला) साय शब्द घञ् प्रत्ययान्त है। उससे ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होकर तथा प्रत्ययो के साथ उसका निपातनात् मकारान्त रूप होकर सायम्+ट्यु→यु को अन सायम्+अन→तुट् का आगम—सायम्+त्+अन्→सायन्तनम् इसी प्रकार 'चिर भवम्' (देर म होने वाला) चिरन्तनम्।

टिप्पणी—सायम् और चिरम् शब्द अव्यय भी हैं उनसे तो अव्यय होने के कारण ही ट्यु, ट्युल् प्रत्यय हो जाते हैं।

प्राह्णेतनम्—प्राह्णे जातम् आदि। (पूर्वाह्ण काल म उत्पन्न हुआ)—प्राह्ण शब्द से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय तथा निपातन से एकारान्तता होकर प्राह्णे+ट्यु (ट्युल्)→यु को अन तथा तुट् आगम—प्राह्णे+त्+अन→प्राह्णेतनम्।

प्रगेतनम्—प्रगे जातम् (प्रात काल उत्पन्न हुआ)—प्रगे+ट्यु (ट्युल्)→प्रगे+त्+अन→प्रगेतनम्।

दोषातनम्—दोषा भवम् (रात को होने वाला)—कालवाची अव्यय दोषा—(रात्रि) से ट्यु ट्युल् प्रत्यय होकर दोषा+यु→यु को अन तथा तुट् का आगम—दोषा+त्+अन→दोषातनम्।

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

४१९ । तत्र जातः ।४।३।२५॥

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जातः औत्सः । राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः । अवारपारे जातः अवारपारीणः । इत्यादि ।

४२० । प्रावृषष्ठप् ।४।३।२६॥

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ।

४२१ । प्रायभव ।४।३।३९॥

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः ।

४२२ । सम्भूते ।४।३।४१॥

---

४१९. तत्रेति—सप्तम्यन्त समर्थ से 'उत्पन्न हुआ' या 'हुआ' इस अर्थ में अण् आदि ओर घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—जैसा कि ऊपर ("राष्ट्रावार०" सूत्र के नीचे) कहा गया है शैषिक अर्थो मे से एक अर्थ का तथा समर्थ विभक्ति का निर्देशक यह सूत्र है । एक अर्थ-निर्देशक सूत्र से दूसरे अर्थ-निर्देशक सूत्र तक जो प्रत्यय कहे जायेगे वे ऊपर वाले विशेष अर्थ में ही होते है । जैसे 'तत्र जातः' से आगे प्रायभवः ४२१ 'तक के प्रत्यय' 'तत्र जातः' अर्थ में होते है ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्ने जातः (स्रुघ्न नामक देश में पैदा हुआ) स्रुघ्न + अण् → आदि वृद्धि उ को औ, अन्त्य अ का लोप स्रौघ्न् + अ → स्रौघ्नः ।

औत्सः—उत्से जातः (स्रोत में उत्पन्न हुआ)—यहाँ उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६। से अञ् प्रत्यय होता है । उत्स + अ → औत्सः, पूर्ववत् ।

४२०. प्रावृष इति—प्रावृष् शब्द से हुआ (जातः) अर्थ में ठप् प्रत्यय होता है । ठप् में ठ शेष रहता है ।

यह ठ प्रत्यय ('प्रावृष एण्यः' से कहे हुए) एण्य प्रत्यय का (जात अर्थ में) बाधक है ।

प्रावृषिकः—प्रावृषि जातः (वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुआ)—प्रावृष् + ठप् → प्रावृष + ठ, ठ को इक[1] होकर प्रावृषिकः ।

४२१. प्रायभव इति—सप्तम्यन्त समर्थ से प्रायभवः (अधिकतर होने वाला) अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्ने प्रायेण (बाहुल्येन) भवति (स्रुघ्न देश में अधिकता से होता है)—स्रुघ्न + अण् ।

४२२. सम्भूते इति—सप्तम्यन्त समर्थ शब्द से सम्भूत (होना सम्भव है) अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

---

१. ठस्येकः ७।३।५०।

स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्न ॥

४२३ । कोशाड्ढञ् ।४।३।४२॥

कौशेय वस्त्रम् ।

४२४ । तत्र भव ।४।३।५३॥

स्रुघ्ने भव स्रौघ्न । औत्स । राष्ट्रिय ।

४२५ । दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४॥

दिश्यम् । वर्ग्यम् ।

४२६ । शरीरावयवाच्च ।४।३।५५॥

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ।

*(वा) अध्यात्मादेर्ठञिष्यते ॥

स्रौघ्न —स्रुघ्ने सम्भवति (स्रुघ्न देश म जिसकी सम्भावना है)—स्रुघ्न + अण् ।

४२३. कोशाड् इति—सम्भूत अर्थ मे कोश शब्द से ढञ प्रत्यय होता है ।

कौशेय वस्त्रम्—कोशे सम्भूतम् (कोश मे सम्भव अर्थात् कृमिकोष मे होने वाला, रेशम या रेशमी)—इस विग्रह मे कोश शब्द से ढञ् प्रत्यय होकर कोश + ढञ् →ढ को एय तथा अन्त्य अकार का लोप होकर आदि वृद्धि कौशेय→कौशेयम् ।

टिप्पणी—वस्तुत (कोशस्य विकारः इति) विकार म ढञ् होना उचित है जैसा कि वार्तिक है— विकारे कोशाड्ढञ् सम्भूते ह्यर्थानुपपत्ति. ।"

४२४ तत्र भव इति—सप्तम्यन्त से भव (विद्यमान, होने वाला) अर्थ मे अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं । स्रुघ्ने भव -स्रौघ्न (स्रुघ्न देश मे होने वाला)—स्रुघ्न + अण् । इसी प्रकार उत्से भव औत्स । राष्ट्रे भवः राष्ट्रियः ।

४२५. दिगादिभ्य इति—दिश् आदि शब्दों से 'तत्र भव' अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है ।

दिश्यम्—दिशि भवम् (दिशा मे होने वाला)-दिश् + यत्-दिश्यम् । इसी प्रकार वर्गे भवम् (वर्ग या समूह मे होने वाला) वर्ग्यम् (वर्ग शब्द दिगादि गण म है) ।

४२६ शरीरेति—शरीर के अवयववाची शब्दो से भी 'तत्र भव' इस अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है ।

दन्त्यम्—दन्तेषु भवम् (दाँतो में होने वाला)—इस अर्थ मे शरीरावयववाची दन्त शब्द से यत् प्रत्यय होकर दन्त + यत् →अन्त्य अकार का लोप-दन्त्यम् । इसी प्रकार 'कण्ठे भवम्' (कण्ठ मे होने वाला) कण्ठ + यत्→कण्ठ्यम् ।

अध्यात्मादेरिति (वा)—अध्यात्म आदि शब्दो से 'तत्र भव' अर्थ मे ठञ् प्रत्यय इष्ट है ।

अध्यात्मं भवमाध्यात्मिकम् ।

४२७। अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०॥

एषामुभयपदवृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। आकृतिगणोऽयम्।

४२८। जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ।४।३।६२॥

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

आध्यात्मिकम्—अध्यात्मं भवम् (आत्मा मे होने वाला)—इस विग्रह में अध्यात्म शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। अध्यात्म + ठञ्→ठ को + इक्→आदि वृद्धि–आध्यात्मिकम्।

४२७. अनुशतिकेति—अनुशतिक आदि समस्त पदों के पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों (उभयपद) की आदि वृद्धि होती है ञित्, णित् और कित् तद्धित प्रत्यय परे होने पर।

आधिदैविकम्—अधिदेवं भवम् (देवों में होने वाला)—अधिदेव + ठञ्→ठकार को इक् अधिदेव + इक→अनुशतिक आदि में पाठ होने से उभयपद वृद्धि (अधि के अ को आ तथा देव के ए को ऐ) आधिदैव + इक अन्त्य अकार का लोप—आधिदैविकम्। इसी प्रकार—

आधिभौतिकम्—अधिभूतं भवम् (पृथिवी आदि भूतों में होने वाला) अधिभूत + ठञ्।

टिप्पणी—आत्मनि इति अध्यात्मम, देवे इति अधिदेवम्, भूते इति अधिभूतम्–ये शब्द विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास होकर बने हैं।

ऐहलौकिकम्—इह लोके भवम् (इस लोक में होने वाला)—इहलोक + ठञ्।

पारलौकिकम्—परलोके भवम् (परलोक में होने वाला)—परलोक + ठञ्।

आकृतिगण इति—यह अनुशतिक आदि गण आकृति गण है। भाव यह है जिन प्रयोगों में उभयपद वृद्धि देखी जाती है किन्तु किसी नियम (सूत्र) से नहीं की गई, उनको अनुशतिकादि गण में समझना चाहिये।

४२८. जिह्वामूलेति—जिह्वामूल तथा अङ्गुलि शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में छ प्रत्यय होता है।

जिह्वामूलीयम्—जिह्वामूले भवम् (जिह्वामूल में होने वाला)—यहाँ जिह्वामूल शब्द से छ प्रत्यय होकर जिह्वामूल + छ→छ् को ईय् जिह्वामूल—ईय→अन्त्य अ का लोप–जिह्वामूलीयम्।

अङ्गुलीयम्—अङ्गुल्यां भवम् (अङ्गुलि में रहने वाली, अंगुठी)—अङ्गुलि + छ→अङ्गुलि + ईय→अन्त्य इकार का लोप अङ्गुलीयम्।

४२९। वर्गान्ताच्च ।४।३।६३॥
कवर्गीयम् ॥

४३०। तत आगतः ।४।३।७४॥
स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः ॥

४३१। ठगायस्थानेभ्यः ।४।३।७५॥
शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः।

४३२। विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ।४।३।७७॥
औपाध्यायकः। पैतामहकः।

४३३। हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ।४।३।८१॥

---

४२९ वर्गान्तादिति—जिस शब्द के अन्त मे वर्ग शब्द हो उससे भी 'तत्र भवः' अर्थ मे छ प्रत्यय होता है।

कवर्गीयम्—कवर्गे भवम् (कवर्ग मे होने वाला)—कवर्ग+छ→कवर्ग+ईय=कवर्गीयम्।

४३० तत इति—पञ्चम्यन्त समर्थ से आगत (आया हुआ) इस अर्थ मे अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते है। जैसे—स्रुघ्नाद् आगतः (स्रुघ्न देश से आया हुआ) स्रुघ्न+अण्—स्रौघ्न।

४३१. ठगिति—आयस्थानवाची शब्दो से 'तत आगत' (वहाँ से आया हुआ) इस अर्थ मे ठञ् प्रत्यय होता है।

शौल्कशालिकः—शुल्कशालाया आगतः (कर ग्रहण के स्थान से आया हुआ)—इस विग्रह मे शुल्कशाला शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। शुल्कशाला+ठक्→ठकार को इक्, आदिवृद्धि तथा अन्त्य आकार का लोप होकर शौल्कशालिक।

४३२ विद्येति—विद्या तथा रक्त (योनि) के सम्बन्ध वाची शब्दो से 'तत आगत' इस अर्थ मे वुञ् प्रत्यय होता है।

औपाध्यायक—उपाध्यायाद् आगत (उपाध्याय से आया हुआ) विद्याकृत सम्बन्धवाचक उपाध्याय शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। वु को अक[1], आदि (उ) को वृद्धि (औ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर औपाध्यायक।

पैतामहक—पितामहाद् आगत (पितामह से आया हुआ)—रक्त सम्बन्धवाची पितामह शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। पितामह+वुञ्=पैतामहकः।

४३३. हेतुमनुष्येभ्य इति—हेतुओ से तथा मनुष्यो (के नामो) से 'तत आगत.' अर्थ मे विकल्प से रूप्य प्रत्यय होता है।

---

१. युवोरनाकौ ७।१।१।

समादागतं समरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः । समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम् । दैवदत्तम् ।

४३४ । मयट् च ।४।३।८२॥

सममयम् । देवदत्तमयम् ।

४३५ । प्रभवति ।४।३।८३॥

हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा ।

४३६ । तद्गच्छति पथिदूतयोः ।४।३।८५॥

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ।

४३७ । अभिनिष्क्रामति द्वारम् ।४।३।८६॥

समरूप्यम्—समाद् आगतम् (सम हेतु से आया हुआ)—सम + रूप्य = समरूप्यम् । इसी प्रकार विषमरूप्यम् ।

समीयम्—रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है, जहाँ यह नहीं होता वहाँ (पक्ष में) 'गहादिभ्यश्च ४।२।१३८। से छ प्रत्यय होता है । सम + छ → सम + ईय = समीयम् । इसी प्रकार विषमीयम् ।

देवदत्तरूप्यम्—देवदत्ताद् आगतम् (देवदत्त से आया हुआ)—मनुष्य के नाम-वाची देवदत्त शब्द से रूप्य प्रत्यय होकर बनता है । पक्ष में दैवदत्त + अण् = देवदत्तम् ।

४३४. मयट् चेति—हेतु तथा मनुष्यों (के नामों) से 'तत आगतः' अर्थ में मयट् प्रत्यय भी होता है । (मयट् में मय शेष रहता है)

सममयम्—सम + मय = सममयम् । इसी प्रकार देवदत्तमयम् ।

४३५. प्रभवति—प्रभवति का अर्थ है प्रकट होता है, निकलता है । पञ्चम्यन्त से 'ततः प्रभवति' वहाँ प्रकट होता है अर्थ में अण् आदि और घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

हैमवती गङ्गा—हिमवतः प्रभवति (हिमालय से निकलती है)—इस विग्रह में हिमवत् शब्द से अण् प्रत्यय होता है । हिमवत् + अण् → आदिवृद्धि इ को ऐ हैमवत् + अ + हैमवत । स्त्री प्रत्यय ङीप् होकर अन्त्य अ का लोप हैमवत् + ई = हैमवती ।

४३६. तद् गच्छतीति—'उसको जाता है' (तद् गच्छति)—इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि जाने वाला मार्ग या दूत होता है ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्नं गच्छति, पन्थाः दूतो वा (स्रुघ्न देश को जाने वाला मार्ग या दूत) स्रुघ्न + अण् ।

४३७. अभिनिष्क्रामतीति—'उसकी ओर निकलता है' (तद् अभिनिष्क्रामति)—इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते है, यदि निकलने वाला द्वार होता है ।

स्रुघ्नमभिगच्छति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।

४३८ । अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ।४।३।८७॥

शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ।

४३९ । सोऽस्य निवासः ।४।३।८९॥

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः ।

४४० । तेन प्रोक्तम् ।४।३।१०१॥

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।

४४१ । तस्येदम् ।४।३।१२०॥

उपगोरिदम् औपगवम् ।

इति शैषिकाः ॥५॥

स्रौघ्नम्—स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति, कान्यकुब्जद्वारम् (स्रुघ्न देश की ओर निकलने वाला कन्नौज का द्वार स्रौघ्न कहलाता है) रूपसिद्धि पहले के समान है ।

४३८ अधिकृत्येति— उस विषय को लेकर ग्रन्थ बनाया' इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते है ।

शारीरकीय —शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः (जीवात्मा को विषय करके रचा हुआ ग्रन्थ)—इस विग्रह मे शारीरक शब्द से 'वृद्धाच्छः' से छ प्रत्यय होता है। शारीरक + छ → शारीरक् + ईय → शारीरकीय ।

टिप्पणी—शरीरमेव शरीरकम् (स्वार्थ मे क), तत्र भव शारीरक जीवात्मा । अथवा शरीरस्याय शारीर 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय होकर स्वार्थ मे 'क' होता है ।

४३९. सोऽस्येति—"वह इसका निवास स्थान है ।" इस अर्थ मे प्रथमान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

स्रौघ्न —स्रुघ्नो निवासोऽस्य (स्रुघ्न देश है निवास इसका)—स्रुघ्न + अण् ।

४४०. तेनेति—"उसके द्वारा प्रोक्त" इस अर्थ मे तृतीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

पाणिनीयम्—पाणिनिना प्रोक्तम् (पाणिनि द्वारा प्रवचन किया हुआ)—इस विग्रह मे पाणिनि शब्द से 'वृद्धाच्छ' से छ प्रत्यय होता है। पाणिनि + छ → पाणिनि + ईय → अन्त्य इकार का लोप पाणिन् + ईय → पाणिनीय व्याकरणम् ।

४४१ तस्येति—'उसका यह' इस अर्थ मे षष्ठ्यन्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

औपगवम्—उपगो इदम् (उपगु का यह है)--इस विग्रह मे उपगु शब्द से अण् प्रत्यय होता है । रूपसिद्धि पहले के समान है ।

इति शैषिका. ॥५॥

अथ विकारार्थकाः ॥६॥

४४२। तस्य विकारः ।४।३।१३४।

*** (वा) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः ॥**

अश्मनो विकारः आश्मः। भास्मनः। मार्त्तिकः।

४४३। अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३५॥

चाद्विकारे। मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम्।

अथ विकारार्थकाः—यहाँ से विकारार्थक प्रत्यय आरम्भ होते हैं।

४४२. **तस्येति**—षष्ठयन्त समर्थ पद से विकार अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

टिप्पणी—विकार का अर्थ है—प्रकृति (कारण) का दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाना; जैसे मिट्टी घट के रूप में परिणत होती है तो घट मिट्टी का विकार है।

अश्मन इति (वा)—विकारार्थक प्रत्यय परे होने पर अश्मन् शब्द की 'टि' का लोप होता है यह कहना चाहिये।

आश्मः—अश्मनो विकारः (पाषाण का विकार या पत्थर का बना हुआ)—इस विग्रह में अश्मन् शब्द से विकारार्थ में अण् प्रत्यय होता है। अश्मन् + अण् → आदिवृद्धि अ को आ तथा ऊपर के वार्तिक से अन् (टि) का लोप होकर आश्म् + अ → आश्मः।

भास्मनः—भस्मनो—विकारः (राख का विकार)—भस्मन् + अण् यहां 'नस्तद्धिते' से टि लोप प्राप्त होता है किन्तु 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है। आदिवृद्धि अ को आ होकर—भास्मनः।

मार्त्तिकः—मृत्तिकायाः विकारः (मिट्टी का विकार मिट्टी का बना हुआ)—मृत्तिका + अण् → आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य आ का लोप मार्त्तिकः (घटः)।

४४३. **अवयवे चेति**—प्राणी, ओषधि तथा वृक्षवाचक शब्दों से अवयव अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

चादिति—चकार कहने से विकार अर्थ में भी।

मायूरः—मयूरस्य अवयवो विकारो वा (मोर का अङ्ग या विकार)—मोर शब्द प्राणिवाचक है। इससे अण् प्रत्यय होकर मयूर + अण् → आदिवृद्धि, अन्त्य अ का लोप—मायूर् + अ → मायूरः।

अथ ठगधिकारः ॥७॥

४४८। प्राग्वहतेष्ठक् ।४।४।१॥

तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते ।

४४९। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ।४।४।२॥

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा आक्षिकः ।

४५०। संस्कृतम् ।४।४।३॥

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् ।

४५१। तरति ।४।४।५॥

तेनेत्येव । उडुपेन तरति औडुपिकः ।

अथ ठगधिकारः—यहाँ से ठक् प्रत्यय आरम्भ होता है ।

४४८. प्राग्वहतेरिति—'तद्वहति० ४।४।७६। इससे पहले ठक् प्रत्यय का अधिकार है ।

४४९. तेनेति—तृतीयान्त से दीव्यति (खेलता है) खनति (खोदता है), जयति (जीतता है) और जितम् (जीत लिया) अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

आक्षिकः—अक्षैः दीव्यति खनति, जयति, जितो वा (पासों से खेलता है, खोदता है, जीतता है या जीत लिया गया)—इस अर्थ में अक्ष शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । अक्ष + ठक् ठकार को इक् अक्ष + इक → आदि वृद्धि अ को आ तथा अन्त्य अकार का लोप —आक्षिक → आक्षिकः ।

टिप्पणी—काशिका तथा सि० कौ० आदि में 'अभ्र्या (कुदाल से) खनति आभ्रिकः' यह उदाहरण दिया गया है । लघुकौमुदीकार ने सभी अर्थों में एक उदाहरण दे दिया है ।

४५०. संस्कृतम् इति—तृतीयान्त से संस्कृतम् (संस्कृत किया हुआ) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

दाधिकम्—दध्ना संस्कृतम् (दही से संस्कृत किया हुआ)—इस अर्थ में दधि शब्द से ठक् प्रत्यय होकर दधि + ठक् → दधि + इक → आदि वृद्धि तथा अन्त्य इकार का लोप दाध् + इक → दाधिकम् । इसी प्रकार मरीचिकाभिः संस्कृतम् (मिरचों से बघारा गया) मरीचिका + अण = मारीचिकम् ।

४५१. तरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'तैरता है' (तरति) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

औडुपिकः—उडुपेन तरति (डोंगी से पार होने वाला)—इस अर्थ में उडुप शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । उडुप + ठक् → उडुप + इक → आदि-वृद्धि उ को औ तथा अन्त्य अकार लोप—औडुप् + इक → औडुपिकः ।

४५२ । चरति ।४।४।८॥

तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । दध्ना चरति दाधिकः ।

४५३ । संसृष्टे । ।४।४।२२॥ दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

४५४ । उञ्छति ४।४।३२॥

वदराण्युञ्छति वादरिकः ।

४५५ । रक्षति ४।४।३३॥

समाजं रक्षति सामाजिकः ।

४५६ । शब्ददर्दुरं करोति ।४।४।३४॥

---

४५२. चरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'जाता है', खाता है', (चरति, चर गतिभक्षणयोः) इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

हास्तिकः—हस्तिना चरति (हाथी से जाने वाला)—इस अर्थ में हस्तिन् शब्द से ठक् प्रत्यय होकर हस्तिन् + ठक् → हस्तिन् + इक → इन् (टि) का लोप[1] तथा आदि-वृद्धि हास्त् + इक → हास्तिकः ।

दाधिकः—दध्ना चरति (दही से खाने वाला)—दधि + ठक् । रूप सिद्धि ऊपर आ चुकी है ।

४५३. संसृष्टे इति—तृतीयान्त से संसृष्ट (मिला हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

दाधिकम्—दध्ना संसृष्टम् (दही से मिला हुआ) दधि + ठक् ।

४५४.उञ्छति—द्वितीयान्त पद से 'चुनता है' (उञ्छति) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—भूमि पर पड़े हुए अनाज आदि के एक-एक दाने का चुनना उञ्छ कहलाता है ।

वादरिकः—वदराणि उञ्छति (वेरों को चुनने वाला) इस अर्थ में वदर शब्द से ठक् प्रत्यय होकर वदर + ठक् → वदर + इक + आदिवृद्धि, अन्त्य अ का लोप—वादरिकः ।

४४५. रक्षति इति—द्वितीयान्त से रक्षति (रक्षा करता है)—इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

सामाजिकः—समाजं रक्षति (समाज की रक्षा करता है, रक्षा करने वाला)—समाज + ठक् → ठ इक, आदिवृद्धि तथा अन्त्य 'अ' का लोप होकर, सामाज् + इक → सामाजिकः ।

४५६. शब्ददर्दुरमिति—द्वितीयान्त 'शब्द' तथा दर्दुर' शब्द से करोति (करता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

---

१. नस्तद्धिते ६।४।१४४

शब्द करोति शाब्दिक । दर्दुरं करोति दार्दुरिक ।

४५७ । धर्मं चरति । ४।४।४१॥

धार्मिक ।

(वा) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ॥

आधर्मिक ।

४५८ । शिल्पम् । ४।४।५५॥

शाब्दिक — शब्द करोति, प्रकृतिप्रत्ययविभागेन व्युत्पादति (शब्द को करता है अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के विभाग से शब्दव्युत्पत्ति करता है, वैयाकरण) इस विग्रह मे शब्द + ठक् → शब्द + इक → आदिवृद्धि, अन्त्य अकार का लोप—शाब्द् + इक = शाब्दिक ।

दार्दुरिक —दर्दुर करोति (दर्दुर नामक भाण्ड को बनाता है)—इस विग्रह मे दर्दुर + ठक् = दार्दुरिक[1] ।

४५७, धर्ममिति —द्वितीयान्त धर्म शब्द से चरति (आचरण करता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

धार्मिक —धर्म चरति (धर्म का सदा आचरण करने वाला)—धर्म + ठक् → धर्म + इक = धार्मिक ।

अधर्मादिति (वा)—द्वितीयान्त अधर्म शब्द से भी 'चरति' अर्थ मे ठक् प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये ।

आधर्मिक —अधर्म चरति (अधर्म का आचरण करने वाला)—अधर्म + ठक् → अधर्म + इक = आदि वृद्धि आधर्मिक ।

टिप्पणी—(१) 'चरति' शब्द यहाँ तत्पर होना' या 'सदा आचरण करना' अर्थ मे है इसलिये यदि कोई दुर्वृत्त व्यक्ति कही धर्म मे प्रवृत्त हो जाये तो वह धार्मिक नहीं कहा जायेगा । (तत्त्वबोधिनी)

(२) अधार्मिक शब्द का प्रयोग देखा जाता है, वहाँ धार्मिक के साथ नञ् समास है । न धार्मिक , अधार्मिक ।

४५८, शिल्पमिति—प्रथमान्त शब्द से "इसका यह शिल्प (कौशल, व्यवसाय) है" इस अर्थ मे ठक् प्रत्यय होता है ।

मार्दङ्गिक —मृदङ्गवादन शिल्पमस्य (बजाना है कौशल इसका, वह)—इस विग्रह मे मृदङ्ग शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । मृदङ्ग + ठक् → मृदङ्ग + इक, आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य अकार का लोप मार्दङ्ग + इक = मार्दङ्गिक ।

---

१ यहाँ दर्दुर शब्द का अर्थ है, वाद्य विशेष या भाण्ड विशेष । उसे करने वाला 'दार्दुरिक' कहलाता है, कुम्भकार आदि ।

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः ।

४५९ । प्रहरणम् । ४।४।५७॥

तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य आसिकः । धानुष्कः ।

४६० । शीलम् ।४।४।६१॥

अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः ।

४६१ । निकटे वसति । ४।४।७३॥

नैकटिको भिक्षुकः । इति ठगधिकारः ॥७॥ (प्राग्वहतीयाः) ॥

अथ यदधिकारः ॥८॥

४६२ । प्राग्घिताद्यत् । ४।४।७५॥

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

---

४५९. प्रहरणमिति—प्रथमान्त शब्द से 'इसका यह शस्त्र है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

आसिकः—असिः प्रहरणमस्य (तलवार है शस्त्र इसका)—असि + ठक् → असि + इक → आदि वृद्धि[1] (अ को आ) तथा अन्त्य इकार का लोप[2] होकर आस् + इक = आसिकः ।

धानुष्कः—धनुः प्रहरणमस्य (धनुष है, शस्त्र इसका)—इस विग्रह में धनुष् + ठक् → ठ को क[3] धनु, + क → आदि वृद्धि तथा विसर्गों को ष्[4] होकर धानुष्कः ।

४६० शीलमिति—प्रथमान्त शब्द से—"यह इसका स्वभाव है" इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

आपूपिकः—अपूपभक्षणं शीलमस्य (पूये खाना है स्वभाव इसका)—इस विग्रह में अपूप + ठक् → अपूप इक = आपूपिकः ।

४६१. निकटे इति—सप्तम्यन्त निकट शब्द से वसति (वसता है)—इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

नैकटिको भिक्षुकः—निकटे वसति (निकट वसने वाला)—निकट + ठक् → निकट + इक → आदिवृद्धि, अन्त्य अकार का लोप = नैकटिकः ।

इति ठगधिकारः ॥७॥

—:०:—

अथ यदधिकारः—यहाँ से यत् प्रत्यय का प्रकरण है ।

४६२. प्रागिति—'तस्मै हितम्' ५।१।५॥ इस सूत्र से पहले तक 'यत्' प्रत्यय का अधिकार है ।

---

१. किति च ७।२।११८ २. यस्येति च ६।४।१४८

३. इसुसुक्तान्तात् कः ७।३।५१ ४. इणः षः ८।३।३९

४६३ । तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । ४।४।७६॥

रथं वहति रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः ।

४६४ । धुरो यड्ढकौ । ४।४।७७॥

हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

४६५ । न भकुर्छुराम् । ८।२।७९॥

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात् । धुर्य , धौरेय ।

---

४६३ तद्वहति इति— द्वितीयान्त रथ युग और प्रासङ्ग शब्दो से 'वहति' (वहन करता है या वहन करने वाला) अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है ।

रथ्य —रथ वहति (रथ को खीचने वाला, बैल आदि)—इस विग्रह मे रथ + यत् + अन्त्य अकार का लोप (यस्येति च) रथ्य → रथ्य ।

युग्य —युग वहति (जुए को वहन करने वाला)—युग + यत् युग् + य → युग्य ।

प्रासङ्ग्य—प्रासङ्ग वहति (प्रासङ्ग को वहन करने वाला)—प्रासङ्ग + यत् → प्रासङ्ग्य ।

टिप्पणी—बछडे आदि को शिक्षित करने (हिलाने) के समय उनके कन्धे पर जो विशेष प्रकार का जुआ (जूड) रखा जाता है, उसे प्रासङ्ग कहते हैं ।

४६४ धुर इति—द्वितीयान्त धुर् शब्द से 'वहति' अर्थ मे यत् और ढक् प्रत्यय होते हैं ।

हलीति—'हलि च' ८।२।७७। से दीर्घ प्राप्त होने पर—

४६५ नेति—भ संज्ञक की तथा 'कुर्' और छुर् शब्दो की उपधा को दीर्घ नहीं होता । (इससे दीर्घ का निषेध होता है) ।

धुर्य—धुर वहति इति (धुरा को धारण करता है)—धुर् + यत् → इस दशा में 'उ' को दीर्घ प्राप्त होता है तथा प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो जाता है, धुर् + य → धुर्य ।

धौरेय —धुर वहति इति (धुरा को वहन करने वाला)—धुर् + ढक् → धुर् + एय → आदिवृद्धि[1] उ को औ—धौर् + एय → धौरेय ।

टिप्पणी—रथ आदि के अग्रभाग को धुर् कहा जाता है[2] धुर् को वहन करने वाला घोडा आदि 'धौरेय' कहलाता है । इसी आधार पर कोई अग्रगामी या उत्तरदायित्व को संभालने वाला व्यक्ति भी धौरेय आदि कहा जाता है ।

---

१. किति च ७।२।११८।

२. धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' (अमरकोष) ।

४६६ । नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु ।४।४।६१।

नावा तार्यं नाव्यं जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं तुल्यम् ।

---

४६६. नौवय इति—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला इन (आठ) तृतीयान्त शब्दों से क्रमशः तार्य (तरने योग्य), तुल्य (समान), प्राप्य (प्राप्त करने योग्य), वध्य (मारने योग्य), आनाम्य (लाभ नामक अंश), सम, समित (समीकृत इकसार किया हुआ), संमित (समान, मापा हुआ)—इन आठ अर्थों में यत् प्रत्यय होता है ।

नाव्यम् जलम्—नावा तार्यम् (नाव से तरने योग्य)—इस विग्रह में 'नौ' शब्द से यत् प्रत्यय होता है । नौ + यत् → यकारादि प्रत्यय परे होने से औ को आव्[1] होकर नाव् + य → नाव्यम् ।

वयस्य—वयसा तुल्यः (आयु में समान, मित्र)—वयस् + यत् ।

धर्म्यं—धर्मेण प्राप्यम् (धर्म से प्राप्त होने वाला)—धर्म + यत् अन्त्य अकार का लोप—धर्म्यम् ।

विष्यः—विषेण वध्यः (विष से मारा जाने योग्य)—विष + यत् → विष + य → विष्यः ।

मूल्यम्—मूलेन आनाम्यम् (मूल, 'लागत' के द्वारा बचने वाला धन)—मूल + यत् → मूल् + य → मूल्यम् ।

टिप्पणी—मूल शब्द का अर्थ है—मूलधन (लागत) और मूल्य' का अर्थ है—उससे प्राप्त किया जाने वाला धन अर्थात् 'लाभ', किन्तु जितने धन में वस्तु मिलती है उसके लिये 'मूल्य' शब्द रूढ़ हो गया है ।

मूल्यः—मूलेन समः (मूल के बराबर)—मूल + यत् → मूल्यः ।

टिप्पणी—वस्त्र आदि के उत्पत्ति के कारण (सूत आदि को मूल कहते हैं । मूल (सूत) के बराबर जो पट होगा वह 'मूल्यः पटः' कहलायेगा । उपादानेन समानफलः इत्यर्थः (उपादान के समान—यह भाव है)—काशिका ।

सीत्यम्—सीतया समितम् [सीता का अर्थ है—हल द्वारा खोदी हुई रेखा (खूड) उससे समीकृत अथवा कृष्ट]—सीता + यत् → सीत् + य → सीत्यम् ।

तुल्यम्—तुलया सम्मितम् (तराजू से तोला गया)—तुला + यत् = तुल्यम् । तुल्य शब्द सदृश का पर्याय है ।

---

१. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७६।

४६७ । तत्र साधुः ।४।४।९८॥

अग्रे साधु अग्र्य । सामसु साधुः सामन्य । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभाव । कर्मण्य । शरण्य ।

४६८ । सभाया यः ।४।४।१०५॥

सभ्य ।

इति यतोऽवधिः । (प्राग्घितीयाः) ॥८॥

अथ छयतोरधिकारः ॥९॥

४६९ । प्राक् क्रीताच्छ ।५।१।१॥

तेन क्रीतमित्यत प्राक् छाऽधिक्रियते ।

४७० । उगवादिभ्यो यत् ।५।१।२॥

प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्यापवाद. । शङ्कवे हित शङ्कव्य दारु । गव्यम् ।

---

४६७ तत्रेति—सप्तम्यन्तस उसमे प्रवीण या योग्य है" (साधु) इस अर्थ म यत् प्रत्यय होता है ।

अग्र्य —अग्रे साधु (आगे रहने मे योग्य)—अग्र + यत् = अन्त्य अकार का लोप—अग्र्य ।

सामन्य —सामसु साधु (साम गान मे प्रवीण) —सामन् + यत् इस दशा म 'नस्तद्धिते' ६।४।१४४। से 'अन्' का लोप प्राप्त होता है किन्तु ' ये चाऽभावकर्मणो ६।४।१६८" से प्रकृतिभाव होकर सामन् + य → सामन्य. इसी प्रकार "कर्मणि साधु" कर्मण्य." कर्मन् + यत् ।

शरण्य —शरणे साधु (शरण देने मे प्रवीण)—शरण + यत् → अन्त्य अकार का लोप शरण् + य = शरण्य ।

४६८. सभाया इति—सप्तम्यन्त सभा शब्द से 'तत्र साधु.' अर्थ मे य प्रत्यय होता है । (य और यत् के स्वर मे भेद है) ।

सभ्य.—सभाया साधु (सभा म प्रवीण या योग्य)—सभा + य → अन्त्य आकार का लोप सभ् + य → सभ्य । इति यत् प्रत्यय ॥८॥

अथ छयतोरधिकार —यहाँ से छ और यत् प्रत्यय का अधिकार है ।

४६९. प्राक् क्रीतादिति—तेन क्रीतम् ५।१।३७। से पहले तक 'छ' का अधिकार है ।

४७० उगवादिभ्य इति—जिनके अन्त मे उकार है, उनमे तथा गो आदि शब्दो मे यत् प्रत्यय होता है 'तेन क्रीतम्' से पहले आने वाले अर्थो मे यह 'यत्' प्रत्यय 'छ' का अपवाद है ।

*(ग० सू०) नाभि नभं च ॥

नभ्योऽक्षः । नभ्यमञ्जनम् ।

४७१ । तस्मै हितम् ।५।१।५॥

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ।

४७२ । शरीरावयवाद्यत् ।५।१।६॥

शङ्कव्यम्—शङ्कवे हितम् (शङ्कु के लिये उपयोगी, काष्ठ)—इस विग्रह में शङ्कु + यत् → उ को गुण[1] ओ तथा ओ को अव्[2] होकर शङ्क + अव् + य → शङ्कव्य + शङ्कव्यम् दारु ।

टिप्पणी—शङ्कु का अर्थ बाण का अग्रभाग या कीलक (खूंटा) होता है ।

गव्यम्—गोभ्यो हितम् (गायों के लिये हितकारी)—गो + यत् → ओ को अव् → गव्यं घास आदि ।

नाभीति—(ग० सू०)—नाभि शब्द से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है और इसे 'नभ' आदेश हो जाता है ।

नभ्योऽक्षः—नाभये हितः (नाभि के लिये हितकारी)—नाभि + यत् → नाभि को नभ होकर नभ + य → अन्त्य आकार का लोप नभ् + य → नभ्य → नभ्योऽक्षः ।

रथ के पहिये के मध्य भाग को नाभि कहते हैं उसके लिये हितकर अक्ष नामक काष्ठ विशेष यह अर्थ है ।

इसी प्रकार 'नभ्यम् अञ्जनम्' (चक्र नाभि के लिये हितकर तैलाभ्यङ्ग अर्थात् तैल डालना) ।

विशेष—यहाँ रथचक्र की 'नाभि' का ही ग्रहण है मनुष्य की नाभि का नहीं । उससे तो 'नाभये' हितं नाभ्यं तैलम्–"शरीरावयवाद्यत्' होता है । उस यत् के परे रहते नाभि को 'नभ्' आदेश नहीं होता ।

४७१. तस्मै इति—चतुर्थ्यन्त शब्द से 'उसके लिये हितकर' (हितम्) इस अर्थ में प्रत्यय होता है ।

वत्सीयो गोधुक्—वत्सेभ्यो हितः (बछड़ों के लिये हितकारी, गाय दोहने वाला)—वत्स + छ → छ को ईय वत्स + ईय → अन्त्य अकार का लोप—वत्सीय → वत्सीयो गोधुक् ।

४७२. शरीरेति—शरीर के अवयववाची चतुर्थ्यन्त शब्द से 'हित' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

---

१. ओर्गुणः ६।४।१४६।   २. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।

४७३ । आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् ख ।५।१।९॥

४७४ । आत्माध्वानौ खे ।६।४।१६९॥

एतौ खे प्रकृत्या स्त । आत्मने हितम् । आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीण ।

इति छयतो. पूर्णोऽवधि (प्राक्क्रीतीया) ॥९॥

अथ ठञधिकार ॥१०॥

४७५ । प्राग्वतेष्ठञ् ।५।१।१८॥

तेन तुल्यमिति वति वक्ष्यति तत प्राक् ठञधिक्रियते ।

दन्त्यम्—दन्तेभ्यो हितम् (दातो के लिय हितकारी)—दन्त + यत् → दन्त्यम् । इसी प्रकार 'कण्ठाय हितम्' कण्ठ्यम् ।

नस्यम्—नासिकायै हितम् (नासिका के लिये हितकारी)—नासिका + यत् → नासिका को नस् आदेश[1] होकर नस् + य → नस्यम् ।

४७३ आत्मन् इति—चतुर्थ्यन्त आत्मन्, विश्वजन और ऐसे शब्दों से जिनमे 'भोग' उत्तरपद हो ख प्रत्यय होता है हित' अर्थ म ।

४७४. आत्मेति—आत्मन् और अध्वन् शब्द को 'ख' प्रत्यय परे होने पर प्रकृतिभाव होता है । प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३। से 'प्रकृत्या' शब्द की अनुवृत्ति होती है ।

आत्मनीनम्—आत्मने हितम् (अपने लिये हितकारी)—आत्मन् + ख → ख को ईन आदेश होकर आत्मन् + ईन (यहाँ नस्तद्धिते ६।४।१४४ से (टि) 'अन्' का लोप प्राप्त था उसका ऊपर के सूत्र से बाध हो जाता है) आत्मनीनम् ।

विश्वजनीनम्—विश्वजनाय हितम् (सब जनो के लिये (हितकर)—विश्वजन + ख → विश्वजन + ईन → अन्त्य अकार का लोप विश्वजन् + ईन् → विश्वजनीनम् ।

मातृभोगीण —मातृभोगाय हित (माता के शरीर के लिये हितकर)—मातृभोग + ख → मातृभोग + ईन → मातृभोग + ईन → नकार को णकार[2] मातृभोगीण ।

इति छयतोरवधि ॥९॥

अथ ठञधिकार.—अब ठञ् प्रत्यय का अधिकार है ।

४७५. प्राग् इति— 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ५।१।११५" इस सूत्र से वति प्रत्यय कहेंगे उससे पहले तक 'ठञ्' का अधिकार है ।

---

१. पद्दन्नोमास् ६।१।६३।

२ कुमति च ८।४।१३।

४७६। तेन क्रीतम्। ५।१।३७॥

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम्। प्रास्थिकाम्।

४७७। तस्येश्वरः। ५।१।४२॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः।

४७८। अनुशतिकादीनाञ्च। ७।३।२०॥

सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पार्थिवः।

४७९। पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्। ५।१।५९॥

---

४७६. तेनेति—तृतीयान्त के "खरीदा हुआ" (क्रीतम्) इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

साप्ततिकम्—सप्तत्या क्रीतम् (सत्तर रुपये से खरीदा गया)—सप्तति + ठञ् → ठ को इक[1] सप्तति + इक → आदिवृद्धि अ को आ तथा अन्त्य इ का लोप सप्तत् + इक → साप्ततिकम्।

प्रास्थिकम्—प्रस्थेन क्रीतम् (प्रस्थ भर धान्य से खरीदा गया) प्रस्थ + ठञ्, ठ को इक आदिवृद्धि अन्त्य अकार का लोप प्रास्थिकम्।

४७७. तस्येश्वर[2] इति—षष्ठयन्त सर्वभूमि और पृथिवी शब्दों से उनका स्वामी (ईश्वर)' अर्थ में क्रम से अण् और अञ् प्रत्यय होते है।

टिप्पणी—इस सूत्र में पूर्व सूत्र (सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ५।१।४१) से 'सर्वभूमि और पृथिवी' शब्दों की अनुवृत्ति हो रही है।

४७८. अनुशतिकादीनामिति—णित्, ञित् और कित् प्रत्यय परे होने पर, अनुशतिक आदि (गणपठित) शब्दों के उभयपद को आदि वृद्धि होती है। (द्र० ऊपर सू० ४२७)

सार्वभौमः—सर्वभूमेः ईश्वरः (समस्त भूमि का स्वामी)—सर्वभूमि + अण् + उभयपद की आदिवृद्धि, अन्त्य इ का लोप होकर सर्वभौम् + अण् = सार्वभौमः।

पार्थिवः—पृथिव्याः ईश्वरः (पृथिवी का स्वामी)—पृथिवी + अञ् आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य इ का लोप, पार्थिवः।

४७९. पङ्क्ति इति—पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्; पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति तथा शतम्—इन रूढि शब्दों का निपातन किया गया है।

---

१. ठस्येकः ७।३।५०।

२. कुछ पुस्तकों में इससे पूर्व 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ, सूत्र भी दिया गया है।

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

४८० । तदर्हति ।५।१।६३॥

टिप्पणी—ये सब रूढि शब्द है । सर्वत्र ही इनके अवयवार्थ की सगति नही बैठती । किसी प्रकार प्रकृति प्रत्यय तथा अन्य कार्यों का सूत्र मे निपातन किया गया है । काशिका वृत्ति के अनुसार सिद्धि निम्न प्रकार से होती है—

पङ्क्ति—पञ्च परिमाणस्य (पाँच पद हैं परिमाण इसके)—पञ्चन् + ति → अन् (टि) लोप— पञ्च् + ति → च् को क् तथा अकार को अनुस्वार परसवर्ण ङ् होकर पङ्क्ति छन्द (पङ्क्ति नाम का छन्द) । पङ्क्ति शब्द 'लाइन' आदि अर्थों मे रूढ है ।

विंशति—द्वौ दशतौ परिमाणम् अस्य सघस्य (दो दशक है परिमाण इस सघ का अर्थात् बीस)—द्विदशत् + शतिच् → द्विदशत् को विन् आदश विन् + शति → न को अनुस्वार विंशति ।

टिप्पणी— दशत् शब्द का अथ है दस का समूह (वर्ग) पञ्चद्दशतौ वर्गे वा ५।१।६०[1]

त्रिंशत् —त्रयो दशत. परिमाणम् अस्य (तीन दशक हे परिमाण इसका तीस—त्रिदशत् + शत् → त्रिदशत् को त्रिन् आदश होकर त्रिंशत् ।

चत्वारिंशत्—चत्वारो दशत परिमाणम् अस्य (चार दशक हैं परिमाण इसका)—चतुर्दशत् + शत् – प्रकृति को चत्वारिन् आदेश होकर चत्वारिंशत् ।

पञ्चाशत्—पञ्च दशत परिमाणम् अस्य (पचास)—पञ्चदशत् + शत् → प्रकृति को पञ्चा आदेश होकर पञ्चाशत् ।

षष्टि —षड् दशत परिमाणमस्य (साठ)—षड्दशत् + ति → प्रकृति को षष् आदेश षष् + ति = षष्टि ।

सप्तति —सप्त दशत परिमाणम् अस्य (सत्तर)—सप्तदशत् + ति प्रकृति को सप्त आदेश होकर सप्त + ति = सप्तति ।

अशीति —अष्टौ दशत परिमाणम् अस्य (अस्सी)—अष्टदशत् + ति → प्रकृति को अशी आदेश—अशी + ति = अशीति. ।

नवति —नवदशत परिमाणम् अस्य (नब्बे)—नवदशत् + ति—प्रकृति को नव आदेश—नव + ति = नवति ।

शतम्—दश दशत. परिमाणम् अस्य (सौ)—दशदशत् + त → प्रकृति को 'श' आदेश होकर श + त = शतम् ।

विशेष—विंशति से लेकर नवति तक के शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिङ्ग मे होते हैं । 'शत' शब्द नपुसक लिङ्ग म होता है । य सख्या और सख्येय दोनो व लिये आते हैं तथा इस प्रकार प्रयोग होता है—"मनुष्याणा विंशति" (सख्या अर्थ मे)—"विंशति मनुष्या" (सख्येय अर्थ मे) ।

४८० तदर्हतीति—'उसको प्राप्त करने योग्य' इस अर्थ म द्वितीयान्त शब्द से ठय् आदि प्रत्यय होते है ।

---

1. तद्धितेष्वचामादे ।७।२।११७।

लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठञादयः स्युः । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः ।

४८१ । **दण्डादिभ्यो यत्** ।५।१।६६॥

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डमर्हति दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

४८२ । **तेन निर्वृत्तम्** ।५।१।७९॥

अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् । इति ठञोऽवधिः । (प्राग्वतीयाः) ॥१०॥

अथ त्वतलोरधिकारः ॥११॥

४८३ । **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** ।५।१।११५॥

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् अधीते । क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

श्वैतच्छत्रिकः—श्वेतच्छत्रम् अर्हति (श्वेतच्छत्र को प्राप्त करने योग्य है)—श्वेतच्छत्र + ठक् → ठ को इक, आदिवृद्धि ए को ऐ अन्त्य अकार का लोप—श्वेतछत्र् + इक = श्वैतच्छत्रिकः ।

दण्डादिभ्य इति—द्वितीयान्त दण्ड आदि शब्दों से 'अर्हति' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

दण्डयः—दण्डम् अर्हति (दण्ड प्राप्त करने योग्य)—दण्ड + यत् → अन्त्य अ का लोप दण्डयः । इसी प्रकार अर्घमर्हति (मूल्य या पूजा विधि के योग्य) अर्घ + यत् अर्घ्यः । वधमर्हति (वध के योग्य) वध + यत् = वध्यः ।

४८२. तेनेति—तृतीयान्त से 'सिद्ध हुआ' (निर्वृत्तम् = निष्पन्नम्) इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

आह्निकम्—अह्ना निर्वृत्तम् (एक दिन में सिद्ध होने वाला)—अहन् + ठञ् → अहन् + इक → अन् के अ का लोप (अल्लोपोऽनः) आदिवृद्धि आह्न् + इक आह्निकम् ।

इति ठञोऽवधिः ॥१०॥

अथ त्वतलोरधिकारः—अब त्व और तल् का अधिकार है ।

४८३. तेन तुल्यमिति—तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में वति प्रत्यय होता है, जो तुल्य है यदि वह क्रिया हो ।

वति में इकार इत्संज्ञक है । 'वत्' शेष रहता है ।

ब्राह्मणवद् अधीते ब्राह्मणेन तुल्यम् (ब्राह्मण के तुल्य)—यहाँ अध्ययन क्रिय समान है अतः 'ब्राह्मण' शब्द से वति प्रत्यय होकर ब्राह्मण + वति → ब्राह्मण + वत ब्राह्मणवत् । वत् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है और इसका प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है ।

४८४। तत्र तस्येव ।५।१।११६॥

मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः।

४८५। तस्य भावस्त्वतलौ ।५।१।११९॥

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो गोत्वम्। गोता। त्वान्तं क्लीबम्। तलन्तं स्त्रियाम्।

४८६। आ च त्वात् ।५।१।१२०॥

क्रिया चेदिति—ऐसा क्या कहा कि 'यदि तुल्य क्रिया हो'? इसलिये कि गुण की समानता होने पर वति प्रत्यय नहीं होता जैसे—"पुत्रेण तुल्यः स्थूलः" यहाँ स्थूलता रूप गुण की समानता है, अतएव वति प्रत्यय नहीं होता।

४८४ तत्रेति—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से समानता अर्थ (इव अर्थ) में वति प्रत्यय होता है। यहाँ 'क्रिया चेत्' की अनुवृत्ति नहीं होती अतः द्रव्य आदि की समानता में यह 'वति' प्रत्यय होता है।

मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः—मथुरायाम् इव (मथुरा के समान)—मथुरा + वति = मथुरावत्। स्रुघ्न और मथुरा के 'प्राकार' समान हैं।

चैत्रवत् मैत्रस्य गावः—चैत्रस्य इव (चैत्र के समान)—चैत्र + वति = चैत्र + वत्। चैत्र तथा मैत्र की गायें समान हैं।

४८५. तस्य भाव इति—षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं।

प्रकृति इति—प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञान में जो विशेषण होता है। वह भाव कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है वह प्रकृति कहलाती है, जैसे गो आदि शब्द। गो शब्द से गो व्यक्ति का बोध होता है जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—"गोत्व-विशिष्ट गो व्यक्ति" यहाँ गो व्यक्ति विशेष्य है और 'गोत्व' धर्म विशेषण या प्रकार है। यही भाव कहलाता है, जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में विशेषण है।

गोत्वम्, गोता—गोर्भावः (गो का भाव)—गो + त्व → नपुं० प्रथमा एकवचन में गोत्वम्। गो + तल् → गो + त → स्त्रीलिङ्ग होने से गोत + टाप्[1]—गोत + आ = गोता।

त्वान्तमिति—(लि०) त्व प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

तलन्तमिति—(लि०) तलन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

४८६. आचेति—"ब्रह्मणस्त्वः ५।१।१३६" से पहले तक त्व और तल् प्रत्यय का अधिकार है।

---

१. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४।

ब्राह्मणस्त्व इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ।

४८७ । पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ।५।१।१२२॥

वावचनमणादिसमावेशार्थम् ।

४८८ । र ऋतो हलादेर्लघोः ।६।४।१६१॥

हलादेर्लघोऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु परतः ।

४८९ । टेः ।६।४।१५५॥

भस्य टेर्लोपः स्यात् इष्ठेमेयस्सु ।

(वा) पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् ।

पृथोर्भावः प्रथिमा ।

अपवादैरिति—"पृथिव्यादिभ्य इमनिज्वा" इत्यादि अपवादों के साथ त्व और तल् प्रत्यय का समावेश करने के लिये यह अधिकार किया गया है । इसका फल यह होता है कि 'इमनिच्' आदि प्रत्यय त्व और तल् के वाधक नहीं होते तथा 'पृथु' से पृथुता, पृथुत्व शब्द भी बन जाते है ।

चकार इति—'सूत्र में च' (और, भी) नञ् और स्नञ् (स्त्रीपुंसाभ्या नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७) के साथ भी त्व और तल् का समावेश करने के लिये है । इसलिये स्त्री शब्द से भाव में नञ् (स्त्रैणम्), त्व (स्त्रीत्वम्), और तल् (स्त्रीता) प्रत्यय होते हैं तथा पुंस् शब्द से स्नञ् (पौंस्नम्), त्व (पुंस्त्वम्) और तल् (पुंस्ता) ।

४८७. पृथ्वादिभ्य इति—षष्ठ्यन्त पृथु आदि शब्दों से भाव अर्थ में विकल्प से 'इमनिच्' प्रत्यय होता है । इमनिच् में इमन् शेष रहता है ।

वावचनमिति—अण् आदि प्रत्यय के समावेश के लिये 'वा' (विकल्प से) कहा गया है ।

४८८. र ऋत इति—जिसके आदि में हल् (व्यञ्जन) हो, ऐसे लघु ऋकार को र् आदेश होता है, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

४८९. टेरति—भसंज्ञक की टि का लोप हो जाता है इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

पृथु इति (वा)—पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ शब्दों के ऋ को ही यह र् होता है, (अन्य को नही); जैसे—

प्रथिमा—पृथोर्भावः (पृथु का भाव-विस्तीर्णता)—इस विग्रह में पृथु शब्द से इमनिच् प्रत्यय होकर पृथु + इमन् → ऋ को र् तथा टि (उ) का लोप प्रथ् + इमन् → प्रथिमन्—प्र० एक० में प्रथिमा ।

४८९। (क) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।५।१।१३१॥

इगन्ताल्लघुपूर्वात् प्रातिपदिकाद् भावेऽण् प्रत्ययः। पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्।

४९०। वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ।५।१।१२३॥

चादिमनिच्। शौक्ल्यम् शुक्लिमा। दार्ढ्यम्, द्रढिमा।

४९१। गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।५।१।१२४॥

चाद्भावे। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्।

टिप्पणी—इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

४८९. (क) इगन्ताच्चेति[1]—इगन्त (जिसके अन्त में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ हैं) लघुपूर्वक (जिस इक् से पहले लघु स्वर है) प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है।

पार्थवम्—पृथोर्भावः—पृथु शब्द के अन्त में उ (इक्) है और उ से पहला स्वर लघु है। इसलिये इमनिच् के विकल्प में पृथु शब्द से अण् प्रत्यय होता है। पृथु +अण्→आदिवृद्धि[2] ऋ को आर् तथा उ को गुण[3] ओ होकर पार्थो+अ→ओ को अव् पार्थव्+अ→पार्थवम्।

इसी प्रकार मृदोर्भावः (मृदु का भाव, कोमलता) मृदु+इमनिच्→म्रदिमा। मृदु+अण् मार्दवम्।

४९० वर्ण इति—षष्ठ्यन्त वर्णविशेषवाची शब्द से तथा दृढ आदि शब्दों से भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है।

चादिति—च कहने से इमनिच् भी।

शौक्ल्यम् शुक्लिमा—शुक्लस्य भावः (शुक्ल का भाव, शुक्लता)—वर्णविशेषवाची शुक्ल शब्द से ष्यञ् प्रत्यय होकर शुक्ल+ष्यञ्→शुक्ल+य→आदिवृद्धि उ को औ तथा अन्त्य अकार का लोप, शौक्ल्+य→शौक्ल्यम्। पक्ष में शुक्ल+इमनिच्→शुक्ल्+इमन्→शुक्लिमा।

दार्ढ्यम्, द्रढिमा—दृढस्य भावः (दृढ का भाव, दृढता)—दृढ+ष्यञ्→आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य अ का लोप दार्ढ्+य→दार्ढ्यम्। पक्ष में दृढ +इमनिच्—ऋ को र द्रढिमा।

४९१. गुणवचनेति—षष्ठ्यन्त गुणवाची शब्द और ब्राह्मण आदि शब्दों से भाव तथा कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है।

चादिति—च कहने से भाव में भी होता है।

जाड्यम्—जडस्य भावः कर्म वा (मूर्ख का भाव या कर्म, मूर्खता)—जड

---

१ यह सूत्र चौखम्भा आदि संस्करणों में नहीं है। गीता प्रेस सं० में है।

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।   ३ ओर्गुणः ६।४।१४६।

मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ।

४९२ । सख्युर्यः ।५।१।१२६॥

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।

४९३ । कपिज्ञात्योर्ढक् ।५।१।१२७॥

कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

४९४ । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।५।१।१२८॥

सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् । इति त्वतलोरधिकार ॥११॥

+ष्यञ् → आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर जाड्+य → जाड्यम् । इसी प्रकार—

मौढ्यम्—मूढस्य भावः कर्म वा (मूढ का भाव या कर्म) मूढ+य → मौढ्यम् ।

ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा (ब्राह्मण का भाव या कर्म)—ब्राह्मण+ष्यञ् → ब्राह्मण्यम् ।

आकृतीति—यह ब्राह्मण आदि आकृति गण है ।

४९२. सख्युरिति—षष्ठ्यन्त सखि शब्द से भाव और कर्म, में य प्रत्यय होता है ।

सख्यम्—सख्युर्भावः कर्म वा (सखा का भाव या कर्म, मित्रता) सखि+य → अन्त्य इकार का लोप[1] सख्+य → सख्यम् ।

४९३. कपिज्ञात्योरिति—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति शब्द से भाव तथा कर्म में ढक् प्रत्यय होता है ।

कापेयम्—कपेर्भावः कर्म वा (कपि का भाव या कर्म)—कपि+ढक् → ढ को एय—कपि+एय → आदिवृद्धि तथा अन्त्य इ का लोप काप्+एय = कापेयम् । इसी प्रकार ज्ञातेर्भावः कर्म वा (सम्बन्धी का भाव या कर्म) ज्ञाति+ढक् → ज्ञातेयम् ।

४९४. पत्यन्तेति—जिनके अन्त में पति शब्द है ऐसे शब्दों से तथा 'पुरोहित' आदि से भाव और कर्म में यक् प्रत्यय होता है ।

सैनापत्यम्—सेनापतेः भावः कर्म वा (सेनापति का भाव या कर्म)—सेनापति +यक् → आदिवृद्धि[2] ए को ऐ तथा अन्त्य इ का लोप सैनापत्+य → सैनापत्यम् ।

पौरोहित्यम्—पुरोहितस्य भावः कर्म वा (पुरोहित का भाव या कार्य)—पुरोहित+यक् → पौरोहित्यम् । इति त्वतलोरधिकारः ॥११॥

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

२. किति च ७।२।११८॥

अथ भवनाद्यर्थका ॥१२॥

४६५ । धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१॥

भवन्त्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

४६६ । व्रीहिशाल्योर्ढक् ।५।२।२।

व्रैहेयम् । शालेयम् ।

४६७ । हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ।५ २।२३॥

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः विकारार्थे खञ्च निपात्यते । दुह्यत इति दोहः क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनं नवनीतम् ।

अथ भवनाद्यर्थका—अब भवन (होने का स्थान)—आदि अर्थ वाले प्रत्यय आरम्भ होते हैं ।

४६५ धान्यानामिति—षष्ठ्यन्त धान्यविशेषवाची शब्दों से 'भवन क्षेत्रम्' (होने का स्थान, खेत)—अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है ।

भवतीति—जिसमें होता है उसे भवन कहते हैं (होने का स्थान) ।

मौद्गीनम्—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें मूंग होती है ऐसा खेत)—मुद्ग+खञ्→ख को ईन—मुद्ग+ईन→आदिवृद्धि[1] उ को औ तथा अन्त्य अ का लोप होकर मौद्ग्+ईन→मौद्गीन क्षेत्रम् ।

४६६ व्रीहीति—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि शब्दों से 'भवन क्षेत्रम्' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।

व्रैहेयम्—व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें व्रीहि होती है ऐसा खेत)—व्रीहि+ढक्→ढ को एय होकर व्रीहि+एय→आदिवृद्धि ई को ऐ तथा अन्त्य इकार का लोप—व्रैह्+एय=व्रैहेयम् । इसी प्रकार 'शालीनां भवनं क्षेत्रम्' शाली+ढक्=शालेयम् ।

४६७ हैयङ्गवीनम् इति—ह्यो गोदोह (पहले दिन का दुहा हुआ दूध)—शब्द को 'हियङ्गु' आदेश और विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय का निपातन किया गया है, संज्ञा में ।

दुह्यत इति—जिसको दुहा जाता है (दुह्यते-कर्मवाच्य)—वह 'दोह' कहलाता है अर्थात् दूध ।

हैयङ्गवीनम्—ह्योगोदोहस्य विकारः (कल के दुहे दूध से बना हुआ या निकला हुआ, नवनी घृत)—ह्योगोदोह+खञ्→प्रकृति को हियङ्गु आदेश तथा ख को ईन होकर हियङ्गु+ईन→आदिवृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य उ को गुण (ओर्गुणः) हैयङ्गो+ईन→ओ को अव् होकर हैयङ्गवीन नवीनतम् ।

---

1. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

४९८। तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ।५।२।३६॥

तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम्।

४९९। प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचः ।५।२।३७॥

तदस्येत्यनुवर्तते। ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्।

५००। यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ।५।२।३९॥

यत् परिमाणमस्य यावान्। तावान्। एतावान्।

---

४९८. **तदस्येति**—प्रथमान्त तारका आदि शब्दों से "ये इसके हो गये" (अस्य संजातम्) इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है।

तारकितं नभः—तारकाः संजाता अस्य (इसके तारे हो गये या निकल आये)—तारका + इतच् → अन्त्य आकार का लोप होकर तारक् + इत = तारकितं नभः।

पण्डित—पण्डा संजाता अस्य (अच्छे बुरे का विवेक करने वाली) 'सदसद्विवेकिनी' बुद्धि को पण्डा कहते हैं, वह जिसके हो गई है—पण्डा + इतच् = पण्डितः।

आकृतीति—यह तारकादि आकृति गण है। इसी से पुलकित इत्यादि इतच् प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग भी देखा जाता है।

४९९. **प्रमाण इति**—प्रमाणविशेष के अर्थ में विद्यमान प्रथमान्त शब्दों से "यह इसका प्रमाण है" इस अर्थ में द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं। (तीनों प्रत्ययों में से च् का लोप हो जाता है।

ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्—ऊरू प्रमाणस्य (जङ्घा है प्रमाण इसका अर्थात् जङ्घा तक जल आदि)—ऊरु + द्वयसच् = ऊरुद्वयसम्, ऊरु + दघ्नच् = ऊरुदघ्नम्, ऊरु + मात्रच् = ऊरुमात्रम्।

५००. **यत्तदिति**—प्रथमान्त यत्, तत्, एतत् शब्दों से "यह इसका परिमाण है" इस अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। वतुप् में 'वत्' शेष रहता है।

यावान्—यत्परिमाणम् अस्य (जो है परिमाण इसका, जितना)—यत् + वतुप् → यत् + वत् → यत् के त् को आ (आ सर्वनाम्नः ६।३।९१) होकर या + वत् → यावत् → पुँल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में यावान्। इसी प्रकार तत्परिमाणमस्य (वह है परिमाण इसका, उतना) तत् + वत् → ता वत् = तावान्।

एतत् परिमाणमस्य—(यह है परिमाण इसका, इतना)—एतत् + वतुप् → एतावत् = एतवान्।

५०१ । किमिदम्भ्यां वो घः ।५।२।४०।।

आभ्यां वतुप् स्यात् वकारस्य घश्च ।

५०२ । इदंकिमोरीश् की ।६।३।९०।।

दृग्दृशवतुपु इदम ईश् किमः की । कियान् । इयान् ।

५०३ । संख्याया अवयवे तयप् ।५।२।४२।।

पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम् ।

५०४ । द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ।५।२।४३।।

---

५०१. किमिदंभ्यामिति—प्रथमान्त 'किम्' और 'इदम्' शब्द से परिमाण अर्थ मे वतुप् प्रत्यय होता है तथा वतुप् के व् को घ् हो जाता है ।

५०२ इदमिति—दृग्, दृश और वतुप् परे होने पर 'इदम्' को ईश्' तथा 'किम्' को 'की' आदेश हो जाता है ।

कियान्—किं परिमाणम् अस्य (क्या परिमाण है इसका, कितना)—किम् + वतुप्→व को घ—किम् + घ् + अत् + →घ् को इय् होकर किम् + इय् + अत्→ किम् को की आदेश होकर की→इयत्→'ई' का लोप (यस्येति च) होकर क् + इयत् कियत् (पु० प्र० एक०) कियान् ।

इयान्—इदं परिमाणम् अस्य (यह है परिमाण इसका, इतना)—इदम् + वतुप् →पूर्ववत् इदम् + इयत्→इदम् को ईश् (ई) होकर ई + इयत् हो जाता है । ई का लोप होकर इयत्[1]=इयान् ।

५०३ संख्याया इति—प्रथमान्त सङ्ख्यावाचक शब्द से 'ये इसके अवयव हैं' इस अर्थ मे तयप् प्रत्यय होता है ।

पञ्चतयम्—पञ्च अवयवा अस्य (पाँच अवयव हैं इसके)—पञ्च + तयप् = पञ्चतयम् । "पाँच अवयवो वाला समुदाय" यह प्रत्ययान्त शब्द का अर्थ होता है ।

५०४. द्वित्रिभ्यामिति—द्वि और त्रि से परे तयप् को अयच् हो जाता है, विकल्प से ।

द्वयम्, द्वितयम्—द्वौ अवयवौ अस्य (दो अवयव हैं इसके)—द्वि + तयप् = द्वितयम् । पक्ष मे तयप् को अयच् होकर द्वि + अयच्→द्वि + अय→इ का लोप (यस्येति च) द्व् + अय=द्वयम् ।

त्रयम्, त्रितयम्—त्रयः अवयवा अस्य (तीन अवयव हैं इसके)—त्रि + तयप् =त्रियतम् । पक्ष में त्रि + अयच्→'इ' का लोप=त्रयम् ।

---

1. इयत् में प्रत्यय मात्र शेष रहता है ।

द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रियतम् ।

५०५ । उभादुदात्तो नित्यम् ।५।२।४४॥

उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ।

५०६ । तस्य पूरणे डट् ।५।२।४८॥

एकादशानां पूरणः एकादशः ।

५०७ । नान्तादसङ्ख्यादेर्मट् ।५।२।४९॥

डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तात्किम् ?

---

५०५. उभादिति—उभ शब्द से परे तयप् को नित्य अयच् होता है और वह आद्युदात्त होता है।

उभयम्—उभौ अवयवौ अस्य (दो अवयव हैं इसके अथवा दो का समुदाय)—उभ + अयच्→अन्त्य आकार का लोप उभ् + अय = उभयम् ।

५०६. तस्येति—षष्ठ्यन्त संख्याविशेषवाची शब्द से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है। डट् में अ शेष रहता है।

टिप्पणी—पूरणार्थ प्रत्ययान्त शब्दों को संस्कृत में पूरणी संख्या कहते है। हिन्दी में ये क्रमवाचक संख्याबोधक विशेषण (Ordinal) कहलाते है।

एकादशः—एकादशानां पूरणः (ग्यारह संख्या को पूरा करने वाला, ग्यारहवां)—एकादशन् + डट्→एकादशन् + अ→डट् प्रत्यय के डित् होने से अन् (टि) का लोप होकर एकादश् + अ = (रामवत्) एकादशः ।

५०७. नान्तादिति—जिसके आदि में कोई संख्या न हो ऐसे नकारान्त संख्यावाचक शब्द से परे डट् को मट् का आगम हो जाता है। मट् में म् शेष रहता है। टित् होने से 'मट्' (आगम) डट् के आदि में आता है अतः आगम + प्रत्यय = म् + अ (डट्) = म ।

पञ्चमः—पञ्चानां पूरणः (पाँच संख्या को पूरा करने वाला, पाँचवाँ) पञ्चन् + डट् → मट् का आगम होकर पञ्चन् + म् + अ → न् का लोप[1] होकर पञ्च + म = पञ्चमः ।

नान्तादिति—नकारान्त से परे डट् को मट् का आगम हो यह क्यों कहा ? इसलिये कि विंशति आदि (अनकारान्त) से परे मट् का आगम नहीं होता। जैसे—

---

1. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७॥

५०८ । ति विंशतेर्डिति ।६।४।१४२॥

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपः स्यात् डिति परे। विंशः । असंख्यादेः किम्। एकादशः।

५०९ । षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ।५।२।५१॥

एषां थुगागमः स्याड्डटि। षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽप्यतएव ज्ञापकाड्डट्। कतिपयथः । चतुर्थः ।

५१० । द्वेस्तीयः ५।२।५४॥

डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः ।

---

५०८ ति विंशतेरिति—भसंज्ञक विंशति के ति शब्द का लोप होता है, डित् परे होने पर।

विंश—विंशतेः पूरणः (बीस संख्या को पूरा करने वाला, बीसवां)—विंशति + डट् → ऊपर के सूत्र से ति लोप होकर विंश + अ इस दशा में श् से आगे वाले अकार को पररूप (अतो गुणे) हो जाता है—विंश + अ + अ → विंश् + अ = विंश ।

असंख्यादेः किमिति—जिसके आदि में संख्या न हो ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'एकादश' में मट् का आगम नहीं होता। यहाँ दशन् शब्द से पूर्व 'एक' संख्यावाची शब्द है।

५०९ षट् इति—षट्, कति, कतिपय और चतुर् शब्दों को थुक् का आगम होता है, प्रत्यय परे होने पर।

थुक् में थ् शेष रहता है यह थ् कित्[1] होने से षट् आदि शब्दों के अन्त में होता है।

षष्ठ—षण्णां पूरणः (छः संख्या को पूरा करने वाला, छठा)—षष् + डट् → थुक् का आगम होकर षष् + थ् + अ → थ को ठ (ष्टुत्व) षष् + ठ = षष्ठ। इसी प्रकार 'कतीनां पूरणः' कति + थुक् + डट् = कतिथ (कितने नम्बर का)।

कतिपयेति—यद्यपि कतिपय शब्द संख्यावाचक नहीं (उससे डट् प्रत्यय प्राप्त नहीं होता) तथापि डट् परे होने पर कतिपय को थुक् का आगम कहा है, इस ज्ञापक से इससे डट् प्रत्यय होता है।

कतिपयथ—कतिपयानां पूरणः (कितनों का पूरा करने वाला)—कतिपय + थुक् + डट् = कतिपयथ ।

चतुर्थ—चतुर्णां पूरणः (चार संख्या पूरा करने वाला, चौथा)—चतुर् + थुक् + डट् = चतुर्थ ।

५१०. द्वेस्तीय इति—द्वि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है। यह डट् प्रत्यय का बाधक है।

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।

५११ । त्रेः सम्प्रसारणं च । ५।२।५५॥
तृतीयः ।

५१२ । श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ।५।२।८४॥
श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

५१३ । पूर्वादिनिः ।५।२।८६॥
पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

द्वितीयः—द्वयोः पूरणः (दो संख्या को पूरा करने वाला दूसरा)—द्वि+तीय→द्वितीयः ।

५११. त्रेरिति—त्रि शब्द से पूर्ण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और त्रि को सम्प्रसारण भी हो जाता है ।

तृतीयः—त्रयाणां पूरणः (तीन संख्या को पूरा करने वाला, तीसरा) त्रि+तीय→र् को ऋ (सम्प्रसारण) होकर (त्+ऋ+इ)+तीय इस दशा में इ को पूर्वरूप[1] (ऋ+इ=ऋ) होकर तृ+तीय→तृतीयः ।

५१२. श्रोत्रियन् इति—'वेद (छन्द) पढ़ता है' इस अर्थ में श्रोत्रिय शब्द का निपातन किया गया है ।

श्रोत्रियः—छन्दोऽधीते (वेद पढ़ने वाला, वेदपाठी) इस विग्रह में छन्दस् शब्द से निपातन द्वारा घन् प्रत्यय और छन्दस् को श्रोत्र आदेश होता है । श्रोत्र+घन्→श्रोत्र+इय→अन्त्य अ का लोप श्रोत्रियः ।

वेति—तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७ इस सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिये पक्ष में छन्दस् शब्द से अण् प्रत्यय होकर छन्दस्+अण्→आदिवृद्धि छान्दसः ।

टिप्पणी—घन् प्रत्यय में (श्रोत्रियन्) नकार स्वर के लिये है । पक्ष में छन्दोऽधीते 'छान्दसः' यह रूप होता है । भाषा-विज्ञान की शोध के अनुसार तो श्रोत्रियः भिन्न शब्द है, इसकी 'छन्दस्' शब्द से व्युत्पत्ति नहीं होती, अर्थ की समानता अवश्य है ।

५१३. पूर्वाद् इति—द्वितीयान्त पूर्व शब्द से 'अनेन कृतम्' (इसने किया) आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

पूर्वी—पूर्वं कृतम् अनेन (पहले किया है इसने)—इस विग्रह में पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होता है । पूर्व+इनि→पूर्व+इन्→अन्त्य अ का लोप 'पूर्विन्', प्रथमा एकवचन में पूर्वी ।

---

१. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८।

५१४ । सपूर्वाच्च ।५।२।८७॥

कृतपूर्वी ।

५१५ । इष्टादिभ्यश्च ।५।२।८८॥

इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

इति भवनाद्यर्थकाः ॥१२॥

अथ मत्वर्थीयाः ॥१३॥

५१६ । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।५।२।९४॥

गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान् ।

---

५१४. सपूर्वादिति—जिससे पहले दूसरा शब्द हो (सपूर्व = पूर्व सहित) ऐसे पूर्व शब्द से भी 'अनेन कृतम्' इस अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

कृतपूर्वी—कृत पूर्वम् अनेन (किया है पहले इसने)—इस विग्रह में कृतपूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप बनता है ।

५१५ इष्टादिभ्य इति—इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन इष्टम्' आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

इष्टी—इष्टम् अनेन (इसने यज्ञ किया है)—इस विग्रह में इष्ट + इनि → इष्टिन् (प्र० एक०) इष्टी ।

अधीती—अधीतमनेन (इसने पढ लिया है)—अधीत + इनि → अधीतिन् अधीती ।

टिप्पणी—इष्ट (यज् + क्त) अधीत (अधि + इङ् + क्त) आदि इष्टादि गण के शब्द क्त प्रत्ययान्त हैं । इन् प्रत्ययान्त 'अधीती' आदि के कर्म में सप्तमी[1] विभक्ति होती है, जैसे "अधीती व्याकरणे" । इति भवनाद्यर्थकाः ॥१२॥

अथ मत्वर्थीय —अब मतुप् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय आरम्भ होते हैं ।

५१६ तदस्येति—प्रथमान्त शब्द से 'तद् अस्यास्ति' (वह इसका है) तद् 'अस्मिन् अस्ति' (वह इसमें है) इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है ।

गोमान्—गावः अस्य अस्मिन् वा सन्ति (जिसकी या जिसमें गायें हैं, वह)—इस विग्रह में गो शब्द से मतुप् प्रत्यय होकर गो + मत् → गोमत् (प्रथमा एकवचन में) गोमान् ।

टिप्पणी—किसी वस्तु का बहुत्व (भूम), निन्दा, प्रशंसा, नित्यसम्बन्ध, अतिशय अथवा सम्बन्ध (संसर्ग) का बोध कराने के लिये मतुप् तथा मतुप् अर्थ वाले प्रत्यय होते हैं ।[2] जैसे (बहुत्व) गायों वाला—गोमान्, (निन्दा) ककुदावर्तिनी (ककुदावर्त +

---

१. क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् (वा) कारकप्रकरणम् ।

२. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

५१७। तसौ मत्वर्थे ।१।४।१९॥

तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। वसोः सम्प्रसारणम्। विदुष्मान्।

*(वा) गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः॥

शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः।

५१८। प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ।५।२।९६॥

इनि) कन्या—कुवड़ी कन्या; (प्रशंसा) रूपवती (रूप + मतुप्) कन्या; (नित्यसम्वन्ध) क्षीरी (क्षीर + इनि) वृक्षः—सदा दूध वाला वृक्ष; (अतिशय) उदरिणी (उदर + इनि) कन्या—वड़े उदर वाली; (सम्वन्ध) दण्डी (दण्ड + इनि) पुरुषः—दण्ड वाला पुरुष।

५१७. तसौ इति—तकारान्त और सकारान्त शब्द भसंज्ञक होते हैं मत्वर्थक प्रत्यय परे होने पर।

गरुत्मान्—गरुतः अस्य सन्ति (पंख जिसके हैं, पक्षी) गरुत् + मतुप् → गरुत् + मत्। यहाँ गरुत् की भसंज्ञा हो जाने से पद संज्ञा का वाध हो जाता है तथा त् को 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिक (न) नहीं होता। गरुत्मत्—पुं० प्र० एक० में गरुत्मान्।

विदुष्मान्—विद्वांसः अस्य सन्ति (विद्वान् जिसके हैं)—विद्वस् + मतुप्—भसंज्ञा होने से सम्प्रसारण[1] अर्थात् व् को उ होकर विद् + उ + अ + स् + मत् → अ को पूर्वरूप[2] विद् + उ + स् + मत् → विदुष्मत् पुं० प्र० ए० विदुष्मान्।

गुणवचनेभ्य इति (वा)—गुणवाचक शब्दों से परे मतुप् का लोप होना अभीष्ट है।

टिप्पणी—जो शब्द गुण और गुणवान् दोनों के लिये आते हैं वे ही यहाँ गुणवचन कहे गये हैं जैसे—शुक्लो वर्णः शुक्लो वस्त्रः। इस लिये 'रूप' आदि शब्दों से परे मतुप् का लोप नहीं होता जैसे—रूपवान्।

शुक्लः पटः—शुक्लो गुणोऽस्यास्ति (श्वेत गुण वाला वस्त्र)—शुक्ल + मतुप् → मतुप् लोप होकर शुक्लः पटः। इसी प्रकार कृष्णो गुणोऽस्यास्तीति कृष्णः।

५१८. प्राणिस्थाद् इति—प्राणी में स्थित अङ्गवाचक आकारान्त शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से लच् प्रत्यय होता है।

---

१. वसोः ६।४।१३१।
२. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८।

चूडाल —चूडावान् । प्राणिस्थात्किम् ? शिखावान् दीपः । प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान् ।

५१९। लोमादिपामादिपिच्छादिभ्य शनेलच. ।५।२।१००॥

लोमादिभ्य श । लोमशः । लोमवान् । रोमशः । रोमवान् । पामादिभ्यो न पामन । (ग० सू०) अङ्गात्कल्याणे ॥ अङ्गना ।

*(वा) (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च ॥

लक्ष्मण । पिच्छादिभ्य इलच् । पिच्छिल , पिच्छवान् ।

चूडाल , चूडावान्—चूडा अस्य अस्ति (चोटी जिसके है)—चूडा + लच् = चूडाल । पक्ष मे—चूडा + मतुप् → चूडा + मत्, मतुप् के म को व[1] होकर = चूडावत् पु० प्र० एक० मे चूडावान् ।

प्राणिस्थात् किमिति—'प्राणी म स्थित हो' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि "शिखावान् दीप" यहाँ लच् न हो । यहाँ शिखा दीप मे है, प्राणिस्थ नही, अत मतुप् प्रत्यय ही होता है लच् नही ।

प्राण्यङ्गादेव—प्राणी के अङ्गवाची से ही लच् प्रत्यय होता है, इस लिये "मेधाऽस्यास्तीति मेधावान्" यहाँ मेधा शब्द से 'लच्' नही होता अपितु मतुप् प्रत्यय होता है । मेधा (बुद्धि) प्राणी का अङ्ग नही, मूर्त्त हाथ, पैर आदि ही प्राणी के अङ्ग कहलाते हैं ।

५१९. लोमादिति—मत्वर्थ मे लोमादि शब्दो से 'श' पामादि शब्दा से 'न' तथा पिच्छादि शब्दो से इलच् प्रत्यय, विकल्प से होते हैं ।

लोमश लोमवान्—लोमानि अस्य सन्ति (लोम जिसके हैं, लोम वाला) लोमन् + श → नकार का लोप[2] होकर लोमश । पक्ष मे मतुप्—लोमन् + मतुप् = लोमवान् । इसी प्रकार 'रोमाणि अस्य सन्ति'—रोमश , रोमवान् ।

पामन'—पाम अस्यास्ति (खुजली इसके है) पामन् + न → पामन् का न् लोप होकर पाम + न = पामन । पक्ष मे पामवान् ।

अङ्गादिति (ग० सू०) शोभानाङ्ग विषयक अङ्ग शब्द से मत्वर्थ मे न प्रत्यय होता है ।

अङ्गना—कल्याणानि (शोभनानि) अङ्गानि सन्ति अस्या (सुन्दर अङ्ग हैं जिसके)—अङ्ग + न → स्त्रीत्वबोधक टाप् (आ) प्रत्यय होकर अङ्गना (स्त्री) ।

लक्ष्म्या—(ग० सू०)—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ मे न प्रत्यय होता है और इसके अन्त को अकार हो जाता है ।

---

1 मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य ८।२।९।

2 नलोप प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

५२० । दन्त उन्नत उरच् ।५।२।१०६॥

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः ।

५२१ । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०९॥

केशवः, केशी, केशिकः, केशवान् ।

*(वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥

मणिवः ।

लक्ष्मणः—लक्ष्मीः अस्यास्ति (लक्ष्मी इसके है, लक्ष्मी वाला)—लक्ष्मी + न → अन्त्य (ईकार) को अकार होकर लक्ष्म + न → न् को ण् लक्ष्मणः । पक्ष में—लक्ष्मी + मतुप् → लक्ष्मी + मत् → लक्ष्मीवान् ।

पिच्छिलः—पिच्छमस्यास्ति (मोरपंख इसके हैं)—पिच्छ + इलच् → अन्त्य अकार का लोप होकर पिच्छ् + इल → पिच्छिलः । पक्ष में पिच्छ + मतुप् → पिच्छवान् ।

५२९. दन्त इति—उन्नतदन्तार्थक दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय होता है ।

दन्तुरः—उन्नता दन्ताः अस्य सन्ति (ऊँचे दांत इसके हैं, दांतू)—दन्त + उरच् → अन्त्य अ का लोप दन्त् + उर = दन्तुरः ।

५२१. केशादिति—केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से व प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—तद्धित प्रकरण में 'वा' का अधिकार चल ही रहा है ।[1] इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश शब्द से इनि तथा ठन्[2] प्रत्यय भी होते हैं । इस प्रकार व, इनि, ठन् और मतुप् ये चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः केशवान्—केशा अस्य सन्ति (केशों वाला) केश + व + केशवः । पक्ष में—केश + इनि → अन्त्य अकार का लोप केश् + इन् = केशिन्, केशी । केश + ठन् → ठ् को इक् केश + इक्, अन्त्य अ का लोप केशिकः । केश + मतुप् = केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व' प्रत्यय देखा जाता है ।

मणिवः—मणिरस्यास्ति (मणि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—मणि + व = मणिवः ।

---

१. समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२। (३३०)

२. अत इनिठनौ ५।२।११५। (५२२)

*(वा) अर्णसो लोपश्च ॥

अर्णव. ।

५२२ । अत इनिठनौ ।५।२।११५॥

दण्डी । दण्डिक ।

५२३ । व्रीह्यादिभ्यश्च ।५। ।११६॥

व्रीही, व्रीहिक ।

५२४ । अस्मायामेधास्रजो विनि ।५।२।१२१॥

यशस्वी,यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ । मायी । मायिक. । मायावान् । मेधावी । स्रग्वी ।

अर्णस इति (वा)—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ म व प्रत्यय होता है और स् का लोप हो जाता है ।

अणव —अर्णांसि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)—अर्णस्+व→स् लोप्→अर्ण+व=अर्णव ।

५२२. अत इति—अकारान्त शब्द से मत्वर्थ मे इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिक —दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला)—दण्ड+इनि→दण्ड+इन्→अन्त्य अकार का लोप होकर दण्डिन् पु० प्र० एक० मे दण्डी । दण्ड+ठन्→ठ् को इक्=दण्डिक । पक्ष म दण्ड+मतुप् दण्डवान्

· ५२३. व्रीह्यादिभ्य इति—व्रीहि आदि शब्दो से भी मत्वर्थ मे इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं और मतुप् भी ।

व्रीही, व्रीहिक —व्रीहय अस्य सन्ति (धान इसके हैं, धान वाला व्रीहि+इन्→अन्त्य इ का लोप—व्रीह्+इन्→व्रीहिन् (व्रीही) तथा व्रीहि+ठन्→ठ् को इक् तथा अन्त्य इ का लोप होकर व्रीह्+इक=व्रीहिक । पक्ष मे व्रीहिमान् ।

५२४ अस्मायेति—असन्त (जिन शब्दो के अन्त मे अस् हो) तथा माया, मेधा और स्रज् शब्द से मत्वर्थ मे विनि प्रत्यय होता है ।

यशस्वी—यशोऽस्यास्ति (जिसके यश है, यश वाला)—असन्त यशस् शब्द से यशस्+विनि→यशस्→विन्=यशस्विन् पु० प्र० एक० मे यशस्वी । पक्ष मे यशस्+मतुप्=यशस्वान् ।

इसी प्रकार मायाऽस्यास्ति, माया+विनि=मायावी, मायावान् । मेधाऽस्यास्ति, मेधा+विनि=मेधावी, मेधावान् । स्रग् अस्यास्ति (माला जिसके है, माला वाला) स्रज्+विनि→ज् को ग् (चो कु.), स्रग्+विन्=स्रग्वी, स्रग्वान् ।

५२५। वाचो ग्मिनिः ।५।२।१२४॥

वाग्ग्मी ।

५२६। अर्श आदिभ्योऽच् ।५।२।१२७॥

अर्शोऽस्य विद्यते अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

५२७। अहंशुभमोर्युस् ।५।२।१४०॥

अहंयुः, अहङ्कारवान् । शुभंयुस्तु शुभान्वितः । इति मत्वर्थीयाः ॥१६॥

अथ प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

५२८। प्राग्दिशो विभक्तिः ।५।३।१॥

दिक्शब्देभ्य इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसञ्ज्ञाः स्युः ।

---

५२५. **वाच इति**—वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है ।

वाग्ग्मी[1]—वाचोऽस्य सन्ति (वाणी इसके है, प्रशस्त वाणी वाला)—वाच् + ग्मिन्→च को क् (चोः कुः) तथा ग् (जश्त्व) होकर वाग् + ग्मिन्→वाग्ग्मिन् = वाग्ग्मी ।

५२६. **अर्श इति**—अर्शस् आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता है ।

अर्शसः—अर्शांसि सन्ति अस्य (ववासीर इसके है, ववासीर का रोगी) अर्शस् + अच् = अर्शसः ।

आकृतीति—अर्श आदि आकृति गण है ।

५२७. **अहमिति**—अहम् और शुभम् शब्द से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है ।

'अहम्' अहङ्कार अर्थ में अव्यय है और 'शुभम्' शुभ अर्थ में अव्यय है । युस् में यु शेष रहता है ।

अहंयुः—अहम् (अहङ्कारः) अस्यास्ति (अहङ्कार वाला)—अहम् + युस्→ अहम् + यु→म् को अनुस्वार अहंयुः । इसी प्रकार 'शुभमस्यास्ति' शुभम् + युस् = शुभंयुः ।

टिप्पणी—युस् प्रत्यय के सित् होने से पूर्व की पद संज्ञा (सिति च) होती है तथा पदान्त के मकार को अनुस्वार हो जाता है (मोऽनुस्वारः ८।३।२३।)

इति मत्वर्थीयाः ॥१३॥

अथ प्राग्दिशीयाः—यहाँ से प्राग्दिशीय प्रत्यय आरम्भ होते हैं ।

५२८. **प्राग्दिशो इति**—'दिक्शब्देभ्यः—अस्ताति ५।३।२७॥' इस सूत्र से पहले जो प्रत्यय कहे जायेंगे, उनकी विभक्ति संज्ञा होती है ।

---

१. वाग्ग्मी में दो गकार हैं ।

५२९ । किसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्य ।५।३।२॥

किम सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

५३० । पञ्चम्यास्तसिल् ।५।३।७॥

पञ्चम्यन्तेभ्य. किमादिभ्यस्तसिल् वा स्यात् ।

५३१ । कु तिहो' ।७।२।१०४॥

किम कुः स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ परत. । कुतः । कस्मात् ।

५३२ । इदम इश् ।५।३।३॥

प्राग्दिशीये परे । इत ।

५३३ । (एतदः) अन ।५।३।५॥

एतदः प्राग्दिशीये । अनेकाल्त्वात्सर्वादेश । अतः । अमुतः । यत' । तत । बहुत । द्व्यादेस्तु । द्वाभ्याम् ।

---

५२९ किमर्वनामेति—द्वि आदि मे भिन्न सर्वनाम, किम् तथा बहु शब्द से (ये प्रत्यय होते हैं) यह "दिक्शब्देभ्य" से पहले तक अधिकार है।

'किम्' शब्द भी सर्वनाम है किन्तु यह द्वि आदि मे आता है अतः अद्व्यादिभ्य' कहने के कारण इससे तसिल् आदि प्रत्यय न हो सकते थे। इसलिये किम् का पृथक् ग्रहण किया है।

५३०. पञ्चम्या इति—पञ्चम्यन्त किम् आदि से तसिल् प्रत्यय होता है विकल्प से। तसिल् मे तस् शेष रहता है।

५३१' कु इति—किम् को कु हो जाता है तकारादि और हकारादि विभक्ति परे होने पर।

कुतः—कस्मात् (किससे)—इस विग्रह मे पञ्चम्यन्त किम् शब्द से तसिल् प्रत्यय होता है। किम् + ङसि + तस् इस दशा मे प्रातिपदिक संज्ञा (कृत्तद्धितसमासाश्च) होकर सुप् (ङसि) का लोप (सुपो धातुप्रातिपदिकयो) हो जाता है। किम्+तसिल् →किम् को कु आदेश होकर कु + तस्→स् को विसर्ग=कुत । पक्ष मे कस्मात् ।

टिप्पणी—(i) प्राग्दिशीय प्रत्ययो से बने शब्द अव्यय[1] होते हैं।

(ii) तसिल् आदि प्रत्यय पञ्चम्यन्त आदि सुबन्त शब्दों से होते हैं, जैसा कि दिखलाया गया है (किम्+ङसि+तस्)। सुप् का लुक् हो जाता है। अग्रिम प्रयोगों मे भी यह प्रक्रिया समझनी चाहिये।

५३२. इदमिति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर इदम् को इश् आदेश हो जाता है। इश् मे इ शेष रहता है। शित् होने से यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान मे होता है।

---

१ तद्धितश्चासर्वविभक्ति ।१।१।३८।

५३४। पर्यभिभ्यां च ।५।३।९।।

आभ्यां तसिल् स्यात् [सर्वोभयार्थाभ्यामेव] परितः, सर्वत इत्यर्थः। अभितः, उभयत इत्यर्थः।

५३५। सप्तम्यास्त्रल् ।५।३।१०।।

कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

इतः—अस्मात् (इससे) सर्वनाम 'इदम्' शब्द से तसिल् प्रत्यय होकर इदम् + तस् → इदम् को इश् होकर इ + तस्—इतः।

५३३. अन् इति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर 'एतद्' को अन् आदेश हो जाता है।

अनेकाल्त्वादिति—अनेक वर्णो (अल्) वाला होने से 'अन्' आदेश सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान में होता है। (अन् में 'अ' तथा न् दो अर्थात् अनेक वर्ण हैं)। जो आदेश अनेक वर्णो वाला या शित् (जिसमें श् की इत्संज्ञा हो-जैसे 'इदम् इश्') होता है, वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हुआ करता है (अनेकाल्शित्सर्वस्य ।१।१।५५)।

अतः—एतस्मात् (इससे)—एतद् + तसिल्—एतद् को 'अन्' आदेश अन् + तस् → न् का लोप[1] → अतस् + अतः।

अमुतः—अमुष्मात् (उससे)—अदस् + तसिल् → अदस् + तस् → स् को अ तथा पूर्व अकार का पररूप[3] होकर अद + तस् इस दशा में दकार से आगे वाले अकार को उकार तथा दकार को मकार[4] होकर अमु → तस् → अमुतः।

यतः—यस्मात् (जिससे)—यद् + तसिल् → यद् + तस् → द को अकार तथा पूर्व अकार का पररूप य + तस् → यतः इसी प्रकार तस्मात्, तद् + तस् → ततः। बहोः, बहु + तसिल् → बहुतः।

द्व्यादेरिति—द्वि आदि सर्वनाम शब्दो से प्राग्दिशीय प्रत्यय नहीं होते अतएव 'द्वि' शब्द से पञ्चमी में 'द्वाभ्याम्' ही बनता है, दूसरा तद्धितान्त रूप नहीं।

५३४. पर्यभिभ्यामिति—परि और अभि से तसिल् प्रत्यय होता है।

परितः—सर्वतः (सब ओर से) परि + तसिल् → परितः। इसी प्रकार अभितः—उभयतः (दोनों ओर से) अभि + तसिल्।

५३५. सप्तम्या इति—सप्तम्यन्त किम् आदि से त्रल् प्रत्यय होता है।

कुत्र—कस्मिन् (किसमें, कहाँ)—किम् शब्द से त्रल् प्रत्यय होकर किम् + त्र → किम् को कु आदेश (कु तिहोः ७।२।१०४) कुत्र। इसी प्रकार यस्मिन् (जिसमें, जहाँ), यद् + त्रल् → यत्र, तस्मिन् (उसमें, वहाँ) तद् + त्रल् → तत्र, बहुषु (बहुतों में) बहु + त्रल् → बहुत्र।

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।   २. त्यदादीनामः ७।२।१०२।
३. अतो गुणे ६।१।९७।   ४. अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०।

५३६ । इदमो ह् ।५।३।११॥

त्रलोऽपवादः । इह ।

५३७ । किमोऽत् ।५।३।१२॥

वाग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ।

५३८ । क्वाति ।७।२।१०५॥

किमः क्वादेशः स्यादति । क्व । कुत्र

५३९ । इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ।५।३।१४॥

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद्-

---

टिप्पणी—यत्र तत्र में यद् तद् के द् को अकार[1] तथा पररूप[2] यत, ततः के समान होता है ।

५३६ इदम् इति—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से ह् प्रत्यय होता है । यह त्रल् प्रत्यय का बाधक है ।

इह—अस्मिन् (इसमें, यहाँ) —इदम् शब्द से ह् प्रत्यय होकर इदम् + ह् → इदम् को इश् आदेश (इदम इश् ५।३।३) होकर इ + ह = इह ।

टिप्पणी—एतद् शब्द से त्रल् प्रत्यय होकर एतद् को अन् (एतदोऽन् ५।३।५) सर्वादेश होना है तथा अत्र शब्द बनता है ।

५३७ किम् इति—सप्तम्यन्त किम् शब्द से अत् प्रत्यय होता है विकल्प से पक्ष में त्रल् होता है ।

वाग्रहणमिति—अग्रिम सूत्र 'वा ह च छन्दसि' ५।३।१३ से 'वा' का अपकर्ष किया जाता है अर्थात् 'वा' को ऊपर की ओर खींच लिया जाता है (इसी से 'अत्' विकल्प से होता है) ।

५३८ क्वातीति—किम् को 'क्व' आदेश होता है अत् प्रत्यय परे होने पर ।

क्व—कस्मिन् (किसमें, कहाँ)—किम् + अत् → किम् को क्व आदेश होकर क्व + अ → क्व 'अतो गुणे' से पररूप होकर क्व । पक्ष में किम् + त्रल् = कुत्र (पूर्ववत्) ।

५३९. इतराभ्य इति—पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न विभक्ति वाले शब्दों से भी तसिल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं ।

दृशिग्रहणादिति—दृशि धातु (दृश्यन्ते) के ग्रहण से 'भवद्' आदि के योग में ही

---

१. त्यदादीनाम ७।२।१०२।

२ अतो गुणे ६।१।९७।

भवदादियोग एव । स भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ।

५४० । सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ।५।३।१५॥

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ।

५४१ । सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ।५।३।६॥

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले सदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ।

तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं । अभिप्राय यह है, कि जहाँ अन्य विभक्त्यन्त से तसिल् आदि का प्रयोग देखा जाता है, वहीं ये प्रत्यय होते हैं । भवद् आदि के योग में इनका प्रयोग देखा जाता है इसलिये ये भवद् आदि के योग में ही होते हैं ।

ततो भवान् तत्र भवान्—स भवान् (पूज्य)—भवद् शब्द के प्रयोग में प्रथमान्त तद् शब्द से तसिल् और त्रल् प्रत्यय होते हैं ।

ततो भवन्तम्, तत्र भवन्तम्—त भवन्तम् (पूज्य को)—भवद् शब्द के योग में द्वितीयान्त तद् शब्द से तसिल् और त्रल् प्रत्यय होकर ततः, तत्र वनते हैं ।

एवमिति—इसी प्रकर दीर्घायुः, देवानाम्प्रिय तथा आयुष्मान् शब्दों के योग में भी; जैसे—स दीर्घायुः, इस अर्थ में ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः आदि का प्रयोग होता है ।

५४२. सर्वैकेति—सप्तम्यन्त कालवोधक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् शब्दों से स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है ।

५४१. सर्वस्येति—सर्व शब्द को विकल्प से स आदेश होता है प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय परे होने पर ।

सदा, सर्वदा—सर्वस्मिन् काले (सब समय में)—इस विग्रह में सर्व शब्द से दा प्रत्यय होता है सर्व + दा → सर्व को विकल्प से स आदेश होकर सदा, पक्ष में सर्वदा । इसी प्रकार एकस्मिन् काले (एक समय) एकदा । अन्यस्मिन् काले (अन्य समय) अन्यदा ।

कदा—कस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम् + दा = किम् को क आदेश[1] क + दा = कदा ।

यदा—यस्मिन् काले (जिस समय, जब)—यद् + दा 'त्यदादीनामः' से द् को अ और 'अतो गुणे' से अ + अ को पररूप होकर यदा । इसी प्रकार तस्मिन् काले (उस समय, तब) तद् + दा = तदा ।

१, किमः कः ७।२।१०३।

५४२ । इदमोर्हिल् ।५।३।१६।

सप्तम्यन्तात् । काले इत्येव ।

५४३ । एतेतौ रथोः ।५।३।४।।

इदम् शब्दस्य एत् इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे ।

५४४ । अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ।५।३।२१।।

कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि तदा ।

५४५ । एतदः ५।३।५।।

काले किमिति— काल अर्थ म दा प्रत्यय होता है' यह क्यो कहा ? इसलिये कि सर्वस्मिन् देशे = सर्वत्र । यहां देश अर्थ है इसी से दा नही होता अपि तु 'त्रल्' प्रत्यय होता है ।

५४२ इदम् इति—काल अर्थ मे विद्यमान सप्तम्यन्त इदम् शब्द से र्हिल् प्रत्यय होता है । र्हिल् म र्हि शेष रहता है ।

५४३ एतेतौ इति—इदम् शब्द को एत तथा इत् आदेश हो जाते हैं, क्रमश रेफादि (जिसके आदि मे र = रेफ हो) तथा थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो पर ।

एतर्हि—अस्मिन् काले (इस समय, अब)—इदम् + र्हिल् = रेफादि प्रत्यय परे होने से इदम् को एत आदेश एत + र्हि = एतर्हि ।

टिप्पणी—इदम् शब्द से इस अर्थ म 'अधुना' और 'इदानीम्' शब्द भी बनते हैं ।

काले किमिति—इदम् शब्द से काल मे र्हिल् प्रत्यय होता है, यह क्यो कहा ? इसलिये कि अस्मिन् देशे (इह देशे) यहां र्हिल नही होता अपि त 'ह' प्रत्यय होता है ।

५४४. अनद्यतन इति—अनद्यतन (जो आज का न हो) काल-विषयक 'किम्' आदि सप्तम्यन्त शब्दो से विकल्प से र्हिल् प्रत्यय होता है ।

कर्हि, कदा—कस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम् + र्हिल् = किम् के स्थान पर 'क' होकर कर्हि । पक्ष मे किम् + दा = कदा ।

इसी प्रकार यद् + र्हिल् = यर्हि । तद् + र्हिल् = तर्हि । पक्ष मे यदा, तदा ।

५४५ एतद इति—एतद् शब्द को एत्, इत्, ये दो आदेश होते हैं, क्रमश. रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर ।

एत इत् एतौ स्तो रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये। एतस्मिन्काले एतर्हि।

५४६। प्रकारवचने थाल् ।५।३।२३॥

प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण तथा। यथा।

५४७। इदमस्थमुः ।५।३।२४॥

थालोऽपवादः।

*(वा) एतदोऽपि वाच्यः॥

अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम्।

टिप्पणी - अन् (५३३) तथा एतदः (५४५) ये दोनों सूत्र अष्टाध्यायी में एक सूत्र के ही रूप में (एतदोऽन् ५।३।५) हैं। काशिकाकार तथा भट्टो जि दीक्षित (सि० कौमुदी) इस सूत्र में योग विभाग करके ही दोनों अर्थ निकालते रहे किन्तु लघुकौमुदी-कार वरदराज ने इन्हें दो सूत्रों के रूप में ही रख दिया।

एतर्हि—एतस्मिन् काले (इस समय, अब)—एत + र्हिल → एतद् को एत आदेश एत + र्हि = एतर्हि।

५७६. प्रकारवचन इति—प्रकार अर्थ में किम् आदि शब्दों से थाल् प्रत्यय होता है, स्वार्थ में।

टिप्पणी—सामान्य के भेदक (विशेषक) को प्रकार कहते हैं। जैसे देवदत्त किस दशा (विशेष) में है? इस जिज्ञासा में कथं देवदत्तः? यह प्रश्न होता है।

तथा—तेन प्रकारेण (उस प्रकार से, वैसा)—तद् शब्द से थाल् प्रत्यय होकर पूर्वोक्त प्रकार से तद् को अ तथा पहले अ को पररूप होकर—तथा। इसी प्रकार येन प्रकारेण (जिस प्रकार से, जैसा) यद् + थाल् = यथा।

५४७. इदम इति—प्रकार अर्थ में इदम् शब्द से थमु प्रत्यय होता है (स्वार्थ में)। यह थाल् प्रत्यय का बाधक है। थमु में 'थम्' शेष रहता है।

एतद् इति (वा)—प्रकार अर्थ में एतद् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है।

इत्थम्—अनेन प्रकारेण (इस प्रकार से, ऐसे)—इदम् + थमु → इदम् + थम् → थकारादि प्रत्यय परे होने से इदम् को इत्[1] होकर इत् + थम् = इत्थम्। इसी प्रकार एतेन प्रकारेण एतद् + थमु → एतद् को इत्[2] इत्थम्।

---

१. एतेतौ रथोः ५।३।४। (५४३)
२. एतदः ५।३।५। (५४५)

५४८। किमश्च ५।३।२५॥

केन प्रकारेण कथम्।

इति प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

अथ प्रागिवीयाः ॥१३॥

५४९। अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५॥

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयमेषामतिशयेनाढ्य —आढ्यतम । लघुतमः। लघिष्ठ ।

५५०। तिङश्च ।५।३।५६॥

---

५४८. किमश्चेति—प्रकारार्थ में किम् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है।

कथम्—केन प्रकारेण (किस प्रकार, कैसे)—किम्+थमु→किम् को क होकर 'कथम्'। इति प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

अथ प्रागिवीयाः—यहाँ से लेकर इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। से पहले तक के प्रत्यय प्रागिवीय (प्राग्+इव+ईय) कहलाते हैं। अब उनका आरम्भ किया जाता है।

५४९. अतिशायन इति—अतिशय अर्थ में विद्यमान शब्द से स्वार्थ में तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं।

साराश यह है कि जिसका बहुतों में उत्कर्ष दिखलाना होता है उसके वाचक शब्द से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं। तमप् में तम तथा इष्ठन् में इष्ठ शेष रहता है। ये प्रत्यय विशेषण शब्दों में होते हैं।

आढ्यतम —अयमेषाम् अतिशयेन आढ्यः (यह इनमें अधिक धनी है)—इस विग्रह में आढ्य शब्द से तमप् प्रत्यय होकर आढ्य+तम=आढ्यतमः।

लघुतम-लघिष्ठ—अयमेषाम् अतिशयेन लघुः (यह इनमें सबसे छोटा है)—लघु+तमप्=लघुतम। लघु+इष्ठन्→टि अर्थात् उ का लोप[1] लघ्→इष्ठ=लघिष्ठ।

५५०. तिङश्चेति—तिङन्त शब्द से भी अतिशय प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय होता है।

---

१. टेः ६।४।१५५। इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर भसंज्ञक की टि का लोप होता है।

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ।

५५१ । तरप्तमपौ घः ।१।१।२२।

एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

५५२ । किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ।५।४।११।।

किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घरतदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु— उच्चैस्तमस्तरुः ।

५५३ । द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ ।५।३।५७।।

---

५५१. तरप् इति तरप् और तमप् प्रत्ययों को घ संज्ञा होती है ।

५५२. किमेद् इति—किम्, एकारान्त, तिङन्त और अव्यय से परे जो घ (तरप्, तमप्) तदन्त से आमु प्रत्यय होता है, किन्तु द्रव्यप्रकर्ष में नहीं ।

किन्तमाम्—किम् + तमप् → आम् प्रत्यय होकर किम् + तम + आम् → तम के अन्त्य अकार का लोप (यस्येति च) होकर किन्तमाम् ।

प्राह्णेतमाम्—(बहुत मध्याह्न) एदन्त प्राह्णे शब्द से तमप् प्रत्यय होकर उससे परे 'आम्' प्रत्यय, प्राह्णेतमाम् ।

पचतितमाम्—अतिशयेन पचति (बहुत अच्छा पकाता है)—पचति + तमप् + आम् = पचतितमाम् ।

उच्चैस्तमाम्—अतिशयेन उच्चैः (बहुत ऊँचे पर) उच्चैस् + तमप् + आम् = उच्चैस्तमाम् ।

टिप्पणी—आम् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं।

द्रव्यप्रकर्षे इति—जहाँ द्रव्य का प्रकर्ष दिखाया जाता है वहाँ तो 'आम्' प्रत्यय नही होता; जैसे—उच्चैस्तमस्तरुः (अधिक ऊँचा वृक्ष) । यहाँ (तरु) द्रव्य है । 'उच्चैस्तम' शब्द से उसका अतिशय प्रकट किया जा रहा है ।

५५३. द्विवचनेति—दो मे से एक का उत्कर्ष दिखाने के लिये तथा जिससे विभाग करना हो (विभक्तव्य) उसके उपपद होने पर सुवन्त और तिङन्त से तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय होते हैं । तरप् मे तर तथा ईयसुन् में ईयस् शेष रहता है ।

टिप्पणी—जो पद समीप में सुना जाता है वह उपपद कहलाता है (समीपे श्रूयमाणं पदम् उपपदम्) ।

पूर्वयोरिति—ये प्रत्यय पूर्वोक्त तमप् और इष्ठन् प्रत्यय के बाधक हैं । भाव यह है कि दो में से एक का अतिशय दिखाने के लिये तरप्, ईयसुन् प्रत्यय होते हैं और बहुतों में से एक का उत्कर्ष दिखाने के लिये तमप् तथा इष्ठन् ।

लघुतरः, लघीयान्—अयम् अनयोरतिशयेन लघुः (यह इन दोनों में छोटा है)—लघु + तरप् = लघुतरः । लघु + ईयसुन् → लघु + ईयस् → उ (टि) का लोप

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्त । पूर्वयोरपवाद । अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतर., लघीयान् । उदीच्या प्राच्येभ्य पटुतराः, पटीयास ।

५५४ । प्रशस्यस्य श्र ।५।३।६०॥

अस्य श्रादेश स्यादजाद्यो परत ।

५५५ । प्रकृत्यैकाच् ।६।४।१६३॥

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठ , श्रेयान् ।

५५६ । ज्य च ।५।३।६१॥

प्रशस्यस्य ज्यादेश स्यात् इष्ठेयसो । ज्येष्ठ ।

५५७ । ज्यादादीयस' ।६।४।१६०॥

(टि. ६।४।१५५।) होकर लघ्+ईयस्→लघीयस् पु० प्रथमा के एकवचन मे लघीयान् ।

पटुतरा , पटीयास —उदीच्या प्राच्येभ्य अतिशयेन पटव (उत्तर के निवासी पूर्वी लोगो से अधिक चतुर हैं)—यहाँ प्राच्य से विभाग (भेद) दिखाना है, अत. पटु शब्द से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं—पटु+तर=पटुतरा । पटु+ईयसुन्= पटीयान् पु० प्र बहु० म पटीयास ।

टिप्पणी—तमप् आदि प्रत्यय विशेषण शब्दो से होते हैं अत तमप् आदि प्रत्यय वाले शब्दो के रूप तीनो लिङ्गो मे बनते हैं जैसे (पु०) लघुतम , (नपु०) लघुतमम्, (स्त्री०) लघुतमा । (पु०) लघीयान्, (नपु०) लघीय (स्त्री०) लघीयसी ।

५५४ प्रशस्यस्येति—प्रशस्य शब्द को 'श्र' आदेश होता है, स्वरादि (इष्ठन् ईयसुन्) प्रत्यय परे होने पर ।

५५५ प्रकृत्येति—इष्ठन् आदि प्रत्यय परे होने पर एकाच् (जिसमे एक अच् या स्वर हो) को प्रकृतिभाव होता है अर्थात् टि लोप नही होता ।

श्रेष्ठ —अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्य (यह इनमें अधिक प्रशसनीय है)—प्रशस्य+इष्ठन्→प्रशस्य को श्र आदेश होकर श्र+इष्ठ→टि लोप प्राप्त होने पर प्रकृति भाव होकर श्र+इष्ठ ।

श्रेयान्—अयम् अनयो अतिशयेन प्रशस्य (यह इन दोनो मे अधिक प्रशसनीय है) प्रशस्य+ईयसुन्→श्र+ईयस्=श्रेयस्, पु० प्रथमा एक० मे श्रेयान् ।

५५६. ज्य चेति—प्रशस्य को ज्य आदेश होता है, इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

ज्येष्ठ —अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्य (यह इनमें अधिक प्रशसनीय है) प्रशस्य+इष्ठन्→ज्य+इष्ठ→प्रकृतिभाव तथा गुण (अ+इ=ए) ज्येष्ठ ।

५५७. ज्याद् इति—ज्य से परे ईयस् के आदि को आकार आदेश होता है।

(ज्यादुत्तरस्येयसुनः आकारादेशः) आदेः परस्य ज्यायान् ।

५५८। बहोर्लोपो भू च बहोः ।६।४।१५८॥

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्यात् बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ।

५५९। इष्ठस्य यिट् च ।६।४।१५९॥

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिडागमश्च । भूयिष्ठः ।

५६०। विन्मतोर्लुक् ।५।३।६५॥

आदेरिति—आदेः परस्य १।२।५४। सूत्र के अनुसार ऊपर कहा गया 'आ' ईयस् के आदि (ईकार) को होता है ।

ज्यायान्—अयम् अनयोः अतिशयेन प्रशस्यः (यह इन दोनों में अधिक प्रशंसनीय है)—प्रशस्य + ईयसुन् प्रशस्य को ज्य आदेश होकर ज्य + ईयस् → ईयस् के आदि (ई) को आ होकर ज्य + आयस्, → ज्यायस्, पुं०, प्र० एक० में ज्यायान् ।

५५८. **बहोरिति**—बहु से परे इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय (के आदि[1]) का लोप होता है और बहु को भू आदेश हो जाता है ।

भूमा—बहोर्भावः (बहुत्व, बहुतायत)—बहु शब्द से भाव अर्थ में इमनिच्[2] प्रत्यय होकर बहु + इमन् → इमन् के इ का लोप तथा बहु को भू आदेश होकर भू + मन् → (पुं०) प्रथमा एक० में—भूमा ।

भूयान्—अयमनयोः अतिशयेन बहुः (दो में अधिक)—बहु + ईयसुन् → बहु + ईयस् → ईयस् के आदि (ई) का लोप तथा बहु को भू आदेश होकर भू + यस् → भूयस् पुं० प्रथमा एकवचन में भूयान् ।

५५९. **इष्ठस्येति**—बहु से परे इष्ठन् (के आदि) का लोप होता है तथा उसे यिट् आगम होता है । (भू आदेश भी होता है) यिट् में यि शेष रहता है वह ष्ठ के आदि में आता है ।

भूयिष्ठः—अयम् एतेषाम् अतिशयेन बहुः (यह इनमें सबसे अधिक है)—बहु + इष्ठन् → इ का लोप तथा बहु को भू आदेश होकर भू + ष्ठ → यि (यट्) का आगम होकर भू + यि + ष्ठ → भूयिष्ठः।

५६०. **विन्मतोरिति**—विन् और मतुप् प्रत्यय का लोप (लुक्) हो जाता है इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

स्रजिष्ठः—अतिशयेन स्रग्वी (अत्यधिक माला वाला) स्रग्विन्[3] + इष्ठन् → विन् का लोप होकर स्रज् + इष्ठ → स्रजिष्ठः ।

---

१. 'आदेःपरस्य' परिभाषा सूत्र के अनुसार आदि इ, ई का लोप होता है ।

२. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२।

३. अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१।

विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः, स्रजीयान्। अतिशयेन त्वग्वान् त्वचिष्ठः, त्वचीयान्।

५६१। ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः।५।३।६७॥

ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः। विद्वद्देश्यः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम्।

५६२। विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु।५।३।६८॥

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः। ईषदूनः पटुर्बहुपटुः। पटुकल्पः। सुपः किम्? यजतिकल्पम्।

स्रजीयान्—अयमनयोः अतिशयेन स्रग्वी (यह इन दोनों में अधिक माला वाला है) स्रग्विन् → विन् का लोप स्रजीयान्।

त्वचिष्ठः—अतिशयेन त्वग्वान् (अधिक त्वचा वाला)—त्वग्वान् (त्वच् + मत्)+इष्ठन् → मतुप् का लोप होकर त्वचिष्ठः। इसी प्रकार त्वग्वान् + ईयसुन् → त्वचीयस् = त्वचीयान्।

५६१. ईषदिति—कुछ अपूर्ण (ईषदसमाप्ति-विशिष्ट)—अर्थ में विद्यमान सुबन्त और तिङन्त शब्दों से कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं।

(इनमें क्रमशः कल्प, देश्य और देशीय शेष रहता है) ईषद् असमाप्ति शब्द का अर्थ है थोड़ी सी अपूर्णता, कुछ कमी।

विद्वत्कल्पः—ईषदूनः विद्वान्, (कुछ कम विद्वान्, विद्वान् सा)—विद्वस् + कल्पप् → स् को द्[1] तथा त्[2] होकर विद्वत्कल्प। इसी प्रकार विद्वस् + देश्य = विद्वद्देश्य। विद्वस् + देशीयर् = विद्वद्देशीय।

पचतिकल्पम्—ईषद् पचति (कुछ कम पकाता है, पकाता सा है) तिङन्त पचति शब्द से कल्पप् प्रत्यय होकर रूप बनता है।

५६२. विभाषेति—ईषदसमाप्ति विशिष्ट अर्थ में विद्यमान सुबन्त शब्द से बहुच् प्रत्यय विकल्प से होता है और वह शब्द से पहले होता है परे नहीं। (बहुच् में बहु शेष रहता है)।

बहुपटु—ईषदूनः पटु (कुछ कम चतुर-चतुर सा)—बहुच् + पटु → बहु + पटु = बहुपटु। पक्ष में कल्पप् आदि होकर पटुकल्प आदि।

सुपः किम्—सूत्र में सुपः क्यों कहा? इसलिये कि बहुच् प्रत्यय सुबन्त से ही होता है तिङन्त से नहीं, इसी से 'यजति', से बहुच् प्रत्यय नहीं होता क्योंकि यह तिङन्त है। कल्पप् आदि प्रत्यय होकर यजतिकल्पम्[3] आदि रूप होते हैं।

---

१. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२।

२. खरि च ८।४।५५।

३. कुछ पुस्तकों में 'जयतिकल्पम्' पाठ है

५६३। **प्रागिवात्कः ।५।३।७०॥**

इवे प्रतिकृताविन्यतः प्राक् काधिकारः॥

४६४। **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ।५।३।७१॥**

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते।

५६५। **अज्ञाते ।५।३।७३॥**

कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके।

*(वा) **ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्।**

अन्यत्र सुबन्तस्य। युष्मकाभिः। युवकयोः। त्वयका।

---

५६३ प्रागिति—इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। इस (सूत्र) से पहले तक 'क' प्रत्यय का अधिकार है।

५६४. अव्ययेति—अव्यय और सर्वनाम से अकच् प्रत्यय होता है। प्रागिवीय अर्थों में और वह टि से पूर्व होता है। (अकच् में अक् शेष रहता है)।

यह क प्रत्यय का अपवाद है। यहाँ 'तिङन्त' की अनुवृत्ति आती है अर्थात् तिङन्त से भी होता है।

५६५. अज्ञाते इति—अज्ञात अर्थ में यथोक्त क तथा अकच् प्रत्यय होते हैं।

टिप्पणी—'अज्ञाते' आदि सूत्रों में केवल अर्थ-निर्देश किया गया है। इसके साथ पिछले दो सूत्रों की एकवाक्यता होकर पूर्ण अर्थ होता है। अतः भाव यह है—अज्ञात अर्थ में अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त की टि से पूर्व 'अकच्' प्रत्यय होता है तथा शेष सुबन्तों से 'क' प्रत्यय

अश्वकः—अज्ञातोऽश्वः अर्थात् कस्यायमश्वः इति न ज्ञातः (अज्ञात घोड़ा अर्थात् यह किसका घोड़ा है इसका पता नहीं)—इस अर्थ में अश्व शब्द से क प्रत्यय होकर अश्व+क=अश्वकः।

उच्चकैः—अज्ञातम् उच्चैः (अज्ञात ऊँचा)—इस विग्रह में उच्चैस् शब्द से अव्यय होने के कारण टि (ऐस्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है। उच्च्+अक्+ऐस्=उच्चकैः। इसी प्रकार अज्ञातं नीचैः (अज्ञात नीचा) नीच्+अक्+ऐस्=नीचकैः।

सर्वके—अज्ञाताः सर्वे (अज्ञात सब)—सर्वनाम 'सर्वे' शब्द से टि (अ) से पूर्व अकच् प्रत्यय होकर सर्व+ए=सर्वके रूप होता है।

अकारेति—जिस सुप् (विभक्ति प्रत्यय) के आदि में ओ, स या भ हो, उसके परे होने पर सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् होता है, अन्यत्र सुबन्त की टि से पहले।

युष्मकाभिः—अज्ञातैः युष्माभिः (तुम अज्ञातों ने)—इस अर्थ में 'युष्मद्' सर्वनाम से भकारादि (भिस्) प्रत्यय परे है इसलिये युष्मद् की टि (अद्) से पहले अकच्

५६६। कुत्सिते ।५।३।७४।

कुत्सितोऽश्वोऽश्वक ।

५६७। किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ।५।३।९२॥

अनयो कतरो वैष्णव । यतर । ततर. ।

५६८। वा बहूना जातिपरिप्रश्ने डतमच् ।५।३।९३॥

हो जाता है। युष्म्+अक्+अद्+भिस्→युष्मकद्+भिस्→द् को आ[1] तथा सवर्ण दीर्घ होकर युष्मकाभि ।

टिप्पणी—यदि युष्माभि (सुबन्त) म टि (दस्) से पूर्व अकच् होता तो अनिष्ट रूप होने लगता।

युवकयो —अज्ञातयो युवयो. (अज्ञात तुम दोनो का)—इस अर्थ मे ओकारादि (ओस्) प्रत्यय पर होन पर सर्वनाम की टि स पूर्व अकच् होता है। युव्[2]+अक् +अद्+ओस्→युवकद्+ओस्→द्=य्[3]=युवकयो ।

त्वयका—अज्ञातेन त्वया (अज्ञात तूने)—हां ओकार, सकार या भकारादि प्रत्यय परे नही अतएव सुबन्त त्वया की टि (आ) से पूर्व अकच् होता है, त्वय्+ अक्+आ=त्वयका ।

५६६ कुत्सित इति—कुत्सा-विशिष्ट अर्थ मे विद्यमान शब्दो मे यथोक्त (क तथा अकच्) प्रत्यय होते हैं।

अश्वक —कुत्सितोऽश्व (निन्दित घोडा) अश्व+क=अश्वक ।

५६७ किंयत्तदोरिति—दो में एक का निर्धारण करने मे किम्, यद् और तद् से डतरच् प्रत्यय होता है। डतरच् मे अतर शेष रहता है।

कतर —अनयोः क. वैष्णव ? (इन दोनो मे कौन वैष्णव है ?)—किम् शब्द से डतरच् प्रत्यय होकर किम्+अतर→इम् (टि) का लोप क्+अतर=कतर । इसी प्रकार अनयो य (इन दोनो म से जो) यत्+डतरच्=यतर, अनयो स (इन दोनो मे से वह) तत्+डतरच्=ततर ।

५६८. वा बहूनामिति—बहुतो मे से एक का निर्धारण करने मे किम् यद् और तद् से डतमच् प्रत्यय होता है। डतमच् का अतम शेष रहता है।

जातीति—जातिपरिप्रश्ने' इस शब्द का आकर (भाष्य) मे प्रत्याख्यान (खण्डन) किया गया है अर्थात्, सूत्र मे इस पद की कोई आवश्यकता नही।

कतम —क भवता कठ ? (कौन आप मे कठ शाखा का है ?)—किम्+ डतमच्=कतम. । इसी प्रकार यो भवताम् यतम । स भवताम्, ततम ।

---

१. युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६।

२ युवावौ द्विवचने ७।२।९२। से युष्मद् के स्थान पर युव् होता है।

३ योऽचि ७।२।८९।

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात्। जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्। यकः। सकः।

इति प्रागिवीयाः ॥१५॥

अथ स्वार्थिकाः ॥१६॥

५६९। इवे प्रतिकृतौ। ५।३।९६॥

कन् स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिः अश्वकः।

*** (वा) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्।** अश्वकः।

५७०। तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१॥

प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्। तस्य वचनं प्रतिपादनम्। भावे अधिकरणे

वाग्रहणमिति—सूत्र में 'वा' का ग्रहण अकच् के लिये किया गया है; अतएव विकल्प से अकच् प्रत्यय होता है।

यकः—यः भवताम् (आप में से जो) सकारादि (यद्+सु) प्रत्यय परे होने के कारण सर्वनाम की टि (अद्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है। य्+अक्+अद्+सु→यकद्+सु+द को 'अ' तथा पहले अ को पररूप होकर यक+सु=यकः।

सकः—सः भवताम् (आप में से वह) तद्+सु→तकद्+सु→तक+सु→त को स[1] होकर→सकः+स्=सकः इति। प्रागिवीयाः ॥१५॥

अथ स्वार्थिकाः—अब स्वार्थिक प्रत्यय आरम्भ होते हैं।

५६९. इव इति—सदृश (इवार्थ) अर्थ में विद्यमान (अर्थात् उपमानवाची) प्रातिपादिक से कन् प्रत्यय होता है। यदि प्रतिकृति (मूर्ति आदि) उपमेय होता है।

यहाँ उपमानवाची शब्द से प्रत्यय होता है और प्रत्ययान्त शब्द उपमेय के लिये आता है किन्तु वह उपमेय मिट्टी काष्ठ आदि से निर्मित प्रतिमा होनी चाहिये।

अश्वकः—अश्व इव प्रतिकृतिः (अश्व के समान मूर्ति)—अश्व+कन्= अश्वकः।

सर्वेति (वा)—सब प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है।

अश्वकः—अश्व एव (घोड़ा ही) अश्व+कन्=अश्वकः। स्वार्थ में प्रत्यय होने पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता। अश्वः और अश्वकः का समान अर्थ है।

५७०. तत्प्रकृतवचन इति—प्रथमान्त शब्द से प्रचुरता-बोधन में मयट् प्रत्यय होता है।

प्राचुर्येणेति—सूत्र में 'प्रकृत' का अर्थ है—प्रचुरता से प्रस्तुत किया गया। उसका वचन=कथन या बोध कराना। वचन शब्द (वच्+ल्युट्) भाव में या

---

१. तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६।

वा ल्युट् । आद्ये प्रकृतमन्नम् अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये तु-अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व ।

५७१ । प्रज्ञादिभ्यश्च । ५।४।३८॥

अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

५७२ । बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ।५।४।४२॥

बहूनि ददाति बहुशः । अल्पशः ।

* (वा) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसङ्ख्यानम् ॥

अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय होकर बना है । जब वचन को भाववाची मानते हैं तो मयट् प्रत्ययान्त शब्द उसी वस्तु की अधिकता को प्रकट करता है जिससे वाचक शब्द से मयट् होता है । जब इसे अधिकरणवाची मानते हैं तो जिसमें किसी वस्तु की अधिकता है उसे प्रकट करता है । जैसे—पहले अर्थ में (भाव ल्युट् मानने पर)—

अन्नमयम्—प्रकृतमन्नम् (अन्न की अधिकता)—अन्न + मयट् → अन्नमयम् । इसी प्रकार प्रकृतोऽपूपः—(पूड़ा की अधिकता)—अपूप + मयट् → अपूपमयम् ।

दूसरे अर्थ में (अधिकरण ल्युट् मानने पर)—

अन्नमयो यज्ञः—प्रकृतमन्नं यस्मिन् (जिसमें अन्न की प्रचुरता हो ऐसा यज्ञ) —अन्न + मयट् → अन्नमय, यह यज्ञ का विशेषण है । इसी प्रकार प्रकृताः अपूपाः यस्मिन् (जिसमें पूड़ों की प्रचुरता है ऐसा त्योहार) अपूपमयं पर्व ।

५७१ प्रज्ञेति—प्रज्ञ आदि शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

प्राज्ञः—प्रज्ञ एव (पण्डित)—प्रज्ञ + अण् → आदिवृद्धि अ को आ प्राज्ञः । प्राज्ञ + ङीप् (ई) → अकार लोप प्राज् + ई → प्राज्ञी स्त्री । अण् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।[1]

दैवतः—देवता एव (देव)—देवता + अण् → आदिवृद्धि ए को ऐ तथा अन्त्य अकार का लोप दैवतः ।

बान्धवः—बन्धुरेव (बन्धु ही बान्धव है)—बन्धु + अण् → आदिवृद्धि अ को आ तथा उ को गुण[2] ओ होकर ओ को अव् हो जाता है—बान्धवः ।

५७२. बह्वल्पार्थादिति—जिनका अर्थ बहु या अल्प है । ऐसे कारक शब्दों से स्वार्थ में शस् प्रत्यय होता है, विकल्प से ।

बहुशः—बहूनि ददाति (बहुत देता है)—यहाँ 'बहु' शब्द बह्वर्थक है । यह कर्म कारक है इनमें शस् प्रत्यय होकर बहु + शस् → बहुशः । इसी प्रकार अल्पानि ददाति, अल्प + शस् → अल्पशः ।

---

१ टिड्ढाणञ्० ४।१।१५।

२ ओर्गुणः ६।४।१४६।

आदौ आदितः। मध्यतः। अन्ततः, पृष्ठतः, पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण, स्वरतः। वर्णतः।

५७३। कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ।५।४।५०।।

*(वा) अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् ।।

विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे।

५७४। अस्य च्वौ ।७।४।३२।

अवर्णस्य ईत्यात् च्वौ। वेर्लोपः। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्। अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवती। गङ्गीस्यात्।

आद्यादिभ्य इति (वा)—'आदि' प्रभृति शब्दों से तसि प्रत्यय कहना चाहिये। यह तसि विभक्तियों के अर्थ में होता है। (सार्वविभक्तिकः)।

आदितः—आदौ (आदि में)—आदि + तस् → आदितः। इसी प्रकार मध्यतः आदि।

आकृतीति—यह (आद्यादि) आकृति गण है, अतः स्वरतः इत्यादि शब्दों में इस वार्त्तिक से तसि प्रत्यय होता है।

स्वरतः—स्वरेण (स्वर से)—तृतीयार्थ में तसि हुआ। इसी प्रकार वर्णेन वर्णतः।

टिप्पणी—शस् प्रत्ययान्त और तसि प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं। (स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७) 'शस्तसी' का स्वरादि में पाठ है।

५७३. कृभ्वस्तियोग इति—विकार रूप को प्राप्त होने वाली प्रकृति (कारण) के अर्थ में विद्यमान विकारवाची (कार्यवाचक) शब्द से स्वार्थ में च्वि प्रत्यय होता है विकल्प से कृ, भू और अस् धातु के योग में।

अभूतेति (वा)—अभूत (जो जैसा नहीं)—उसके तद्भाव (वैसा होने) में च्वि होता है, यह कहना चाहिये।

इस वार्त्तिक को मिलाकर ही ऊपर अर्थ किया गया है, भाव यह है कि जो जैसा नहीं है उसके वैसा होने के अर्थ में होने वाले के वाचक शब्द (सम्पद्यकर्तरि) से कृ, भू अस्ति के योग में च्वि प्रत्यय होता है।

५७४. अस्येति—अवर्ण को ई हो जाता है च्वि प्रत्यय होने पर।

वेर्लोप इति—च्वि प्रत्यय में चकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है,

---

१. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा (महाभाष्य)।

* (वा) अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ॥

दोषाभूतमहः, दिवाभूता रात्रिः ।

५७५ । विभाषा साति कार्त्स्न्ये ।५।४।५२॥

च्विविषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये ।

५७६ । सात्पदाद्योः ८।३।१११॥

इ उच्चारण के लिये है व् का लोप (वेरपृक्तस्य ६।१।६७) से होता है, इस प्रकार समस्त प्रत्यय का लोप (जिसे वैयाकरण सर्वापहार कहते हैं) हो जाता है ।

च्व्यन्तादिति—च्वि प्रत्यय अन्त में होने से अव्यय संज्ञा होती है । स्वरादि-निपातमव्ययम् से च्वि प्रत्ययान्त अव्यय मजर हैं ।

कृष्णीकरोति—अकृष्ण कृष्ण सम्पद्यते त करोति (जो काला नहीं वह काला होता है, उसे करता है)—कृष्ण शब्द से अभूततद्भाव में कृ धातु के योग में च्वि प्रत्यय होता है । कृष्ण + च्वि + करोति → च्वि का सर्वापहार अ को ई कृष्णी-करोति ।

ब्रह्मीभवति—अब्रह्म ब्रह्म भवति (जो ब्रह्म नहीं वह ब्रह्म होता है)—ब्रह्मन् + च्वि + भवति → च्विलोप, न् लोप[1], अ को ई ब्रह्मीभवति ।

गङ्गीस्यात्—अगङ्गा गङ्गा स्यात् (जो गङ्गा नहीं वह गङ्गा हो जाये)—गङ्गा + च्वि + स्यात् → च्वि लोप आ को ई होकर गङ्गीस्यात् ।

अव्ययस्येति—(वा) च्वि प्रत्यय परे होने पर अव्यय के अवर्ण को ई नहीं होता, यह कहना चाहिये ।

दोषाभूतमहः—अदोषा दोषा अभूत् (जो रात में नहीं था वह रात बन गया, ऐसा दिन जो अन्धकार के कारण रात सा हो गया)—दोषा + च्वि + भूतम् = दोषा-भूतम् । 'दोषा' अव्यय शब्द है अतः आ को ई नहीं होता है । इसी प्रकार अदिवा दिवा अभूत् (जो दिन नहीं थी दिन हो गई, दिन जैसी उजली रात) दिवाभूत रात्रिः ।

५७५. विभाषेति—च्वि प्रत्यय के विषय में विकल्प से साति प्रत्यय होता है, साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में ।

५७६. सादिति—सात् प्रत्यय के स् तथा पद के आदिम स् को ष् नहीं होता ।

अग्निसाद् भवति—कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते [सम्पूर्ण शस्त्र (अजगर) अग्नि हो रहा है]—अग्नि + साति + भवति → सकार को षत्व[2] प्राप्त था, उपर्युक्त

---

१ नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

२. आदेशप्रत्ययोः ८।३।५९।

सस्य षत्वं न स्यात्। कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यतेऽग्निसाद्भवति। दधि सिञ्चति।

५७७। च्वौ च ।७।४।२६॥

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात्।

अग्नीभवति।

५७८। अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ।५।४।५७॥

द्व्यजेवावरं द्व्यजवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनमनेकाजिति यावत्तादृशमर्द्धं यस्य तस्माड्डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे।

***(वा) डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् ॥**

इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम्।

***(वा) नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ॥**

डाच् परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः। पटपटाकरोति।

सूत्र ने उसका निषेध कर दिया। अग्निसाद्भवति। (सात् प्रत्यान्त अव्यय होते हैं[1])।

टिप्पणी—दधि सिञ्चति यहाँ षत्व नहीं होता। सात्पदाद्योः सूत्र के प्रसङ्ग से यह उदाहरण यहाँ दिया गया है। इसका तद्धित से कोई सम्बन्ध नहीं।

५७७. च्वौ चेति—च्वि प्रत्यय परे होने पर पूर्व को दीर्घ हो जाता है।

अग्नीभवति—अनग्निः अग्निः भवति (जो अग्नि नहीं वह अग्नि हो जाता है) अग्नि + च्वि + भव → तिच्वि प्रत्यय का लोप तथा पूर्व 'इ' को दीर्घ (ई) होकर अग्नीभवति।

५७८. अव्यक्तेति—जिसका अर्धभाग अनेक स्वर वाला (अनेकाच्) हो तथा जिससे परे इति शब्द न हो ऐसे अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ, भू और अस्ति के योग में डाच् प्रत्यय होता है। डाच् में आ शेष रहता है।

(सूत्रस्थ शब्दों की व्याख्या)—ऐसी ध्वनि जिसमें अकारादि वर्ण नहीं प्रकट होते अव्यक्त ध्वनि कहलाती है। जैसे हाथ से किवाड़ आदि पीटने का शब्द। द्व्यजवरार्धात् का अर्थ है, द्व्यच् (दो स्वर वाला शब्द) ही है न्यून उससे कम नहीं अर्थात् अनेकाच् (अनेक स्वर वाला)। ऐसा (अनेकाच्) शब्द है आधा जिसका, उससे डाच् होता है कृ, भू, अस्ति धातु के योग में।

डाचीति—(वा)—डाच् प्रत्यय की विवक्षा में बाहुल्येन द्वित्व होता है।

नित्यमिति (वा)—डाच् प्रत्यय है परे जिससे उस आम्रेडित के परे होने पर पूर्व और पर वर्ण को पररूप (एकादेश) हो जाता है।

इससे पटत् + पटत् + डाच्, यहाँ त् + प् = प होता है।

---

१. स्वरादिगण में 'च्व्यर्थाश्च' पढ़ा है और सात् च्वि के अर्थ वाला प्रत्यय है।

अव्यक्तानुकरणात्किम् ? ईषत्करोति। द्व्यजवरार्धात्किम् ? श्रत्करोति। अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति। अनितौ किम् ? पटितिकरोति। इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

। इति तद्धितप्रकरणम् ।

पटपटाकरोति—पटत् करोति (पटत् ऐसा अव्यक्त शब्द करता है)—डाच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् को द्वित्व होकर 'पटत्' पटत् करोति यह अवस्था हो जाती है। यहाँ आधा भाग पटत् दो स्वर वाला (द्व्यच्) है अतः ऊपर के सूत्र से डाच् प्रत्यय होता है। पटत् पटत्+डाच करोति इस दशा में अगले 'पटत्' की आम्रेडित[1] संज्ञा होकर पूर्वतकार और अगले पकार को पररूप अर्थात् पकार हो जाता है तथा अगले पटत् के अन्त (टि) का लोप होकर पटपट्+आ+करोति→ पटपटाकरोति।

अव्यक्तानुकरणादिति—अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से डाच् होता है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि ईषत्करोति में डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि 'ईषद्' अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण नहीं।

द्व्यजवरार्धादिति—द्व्यच् ही न्यून हो ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि श्रत्करोति में डाच् नहीं होता, श्रत् में द्वित्व होने पर अर्धभाग एक अच् वाला है।

अवरेति—अवर (न्यून) शब्द क्यों दिया गया ? इसलिये कि खरटखरटाकरोति में भी डाच होता है। यहाँ अर्ध भाग खरटत् दो अच् वाला नहीं, तीन अच् वाला है। 'अवर' शब्द के ग्रहण से यह अर्थ होता है कि आधा भाग कम से कम (अवर) दो अच् वाला हो अधिक अच् वाला हो तो कोई बात नहीं।

अनितौ किमिति—इति परे रहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों कहा ? इसलिये कि पटत् इति करोति→पटितिकरोति यहाँ डाच् नहीं होता।

इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

॥ इति तद्धितप्रकरणम् ॥

---

१ तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२। जहाँ शब्द को द्वित्व होता है। वहाँ पर बाद शब्द की आम्रेडित संज्ञा होती है।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७९। स्त्रियाम् ।४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत्।

५८०। अजाद्यतष्टाप् ।४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजा। एडका। अश्वा। चटका। मूषिका। बाला। वत्सा। होडा। मन्दा।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः—अब स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है।

५७९. स्त्रियाम् इति—'स्त्रियाम्' यह अधिकार 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ तक है। 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' ४।१।१ से प्रातिपदिकात् शब्द की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में आगे के प्रत्यय होते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि 'स्त्रियाम्' यह अधिकार सूत्र है। 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है यर्थात् वहाँ तक के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय होते हैं।

५८०, अज द्यत इति—'अज' आदि तथा अकारान्त शब्दों का वाच्य जो 'स्त्रीत्व' उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपादिकों से टाप् प्रत्यय होता है। [टाप् में 'आ' शेष रहता है। टकार तथा पकार का लोप हो जाता है]

टिप्पणी—'लिङ्ग' किसका अर्थ है? इस विषय में दो मत हैं—प्रथम मत यह है कि लिङ्ग प्रातिपदिक का ही अर्थ है। 'टाप्' आदि प्रत्यय केवल उसके द्योतक हैं। इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है। द्वितीय पक्ष के अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं। द्वितीय पक्ष में अनेक दोषों की उद्‌भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन किया है।

अजा (बकरी)—'अज' शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्य-तष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप प्रत्यय होकर अज + आ इस अवस्था में सवर्णदीर्घ (अ + आ = आ) होकर 'अजा' शब्द बनता है। अजा से प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' होकर उसका लोप[1] हो जाता है—अजा।

इसी प्रकार अजादि गण में पठित एडका (भेड़), अश्वा (घोड़ी), चटका (चिड़िया), मूषिका (चुहिया) इन शब्दों से 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' ४।१।६३ सूत्र से ङीप्' प्रत्यय प्राप्त था, तथा बाला, वत्सा, होड़ा, मन्दा, विलाता ये शब्द प्रथम आयु (यौवन से पूर्वावस्था) के वाचक हैं, इनसे 'वयसि प्रथमे' ४।१।२० के अनुसार

---

१. 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' ६।१।६८

विलाता इत्यादि अजादिगणः। सर्वा।

५८१। उगितश्च ।४।१।६॥

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवती। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

५८२। टिड्ढाणञ् द्वयसज्दघ्नञ् मात्रच्तयप्ठक्ठञ् कञ्क्वरप. ।४।१।१५॥

स्त्रीत्वबोधक ङीप् प्राप्त था। अजादिगण में इनका पाठ होने के कारण ङीप् तथा ङीप् को बाधकर टाप् हो जाता है। इनके अतिरिक्त अजादिगण में अन्य भी शब्द हैं।

सर्वा—अकारान्त सर्व' शब्द से अजाद्यतष्टाप्' सूत्र के अनुसार टाप् प्रत्यय होकर सर्व + आ → सवर्णदीर्घ सर्वा → सु तथा लोप सर्वा।

५८१ उगितश्चेति—उगित् (उक् है इत्संज्ञक जिसका) प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—(१) ङीप् प्रत्यय में ङकार और पकार की इत्संज्ञा तथा लोप हो जाता है केवल 'ई' शेष रहता है। (२) उक् प्रत्याहार है। जिसमें उ, ऋ, ऌ वर्ण आते हैं। ये वर्ण जिस प्रत्यय में इत्संज्ञक होते हैं वह उगिद् कहलाता है।

भवती (आप)—भा धातु से डवतु प्रत्यय होकर भवत् शब्द बनता है। डवतु प्रत्यय में उकार की इत्संज्ञा है अतः यह उगिद् है तथा भवत् शब्द उगित् प्रत्ययान्त है अतः इससे ङीप् होकर भवत् + ई → भवती' इससे 'सु' आकर उसका लोप होकर भवती रूप बनता है।

भवन्ती (होती हुई)—भू धातु से शतृ प्रत्यय, शप्, ऊकार को गुण (ओ) तथा अवादेश होकर भवत् शब्द बनता है। वह उगिदन्त है, अतः उससे ङीप् होकर भवत् + ई इस अवस्था में 'शप्श्यनोर्नित्यम्' ७।१।८१ से नुम् का आगम होकर भव न् (नुम्) त् + ई → भवन्ती। सु का लोप।

इसी प्रकार पचन्ती—पच् + शप् + शतृ → पचत् + ङीप् + पच न् त् + ई।

दीव्यन्ती—दिव् + श्यन् + शत् + शतृ → दीव्यत् + ङीप् → दीव्य न् त् = ई।

५८२ टिड्ढेति—टित् (टकार है इत् जिसका ऐसा प्रत्यय) और ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् क्वरप् प्रत्यय हैं अन्त में जिसके ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है, यदि वह गौण (उपसर्जन) न हो।

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुरुचरी । नदट्—नदी । देवट्—देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री ।

कुरुचरी—(कुरु प्रदेश में विचरण करने वाली) कुरुषु चरति (स्त्री) इस अर्थ में कुरु (सुबन्त) उपपद होने पर चर् धातु से चरेष्टः' ३।२।१६ के अनुसार 'ट' प्रत्यय होकर 'कुरुचर' शब्द बनता है। यह टिदन्त है। इससे 'टिड्ढाण०' सूत्र से ङीप् होकर कुरुचर + ई→'यस्येति च' २।४।१४८ से अकार का लोप होकर कुरुचरी रूप बनता है।

नदी-देवी—नदट् और देवट् शब्द पचादि में पढ़े गये हैं। इनके टित् होने से ङीप् प्रत्यय होकर नद + ई, देव + ई इस अवस्था में 'यस्येति च' से अकार का लोप होकर नदी, देवी ये रूप बनते हैं।

सौपर्णेयी (सुपर्णी की पुत्री)—सुपर्णी शब्द से अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्यो ढक् से ढक् प्रत्यय होकर 'ढ्' को एय्[1] आदेश, सु के उकार को वृद्धि (आदि वृद्धि) औकार, ईकार का लोप[2] होकर 'सौपर्णेय'—यह ढ प्रत्ययान्त शब्द बनता है। इससे ङीप् होकर सौपर्णेय + ई→अकार लोप सौपर्णेयी।

ऐन्द्री (इन्द्र है देवता जिसका या इन्द्र सम्बन्धिनी)—इन्द्रो देवताऽस्याः (साऽस्या देवता ४।२।२४।) अथवा इन्द्रस्य इदम् (तस्येदम् ४।३।१२०) इस अर्थ में इन्द्र शब्द से अण् प्रत्यय होकर आदि वृद्धि, अकार लोप होकर 'ऐन्द्र' यह अण् प्रत्ययान्त शब्द बनता है। इससे ङीप् होकर ऐन्द्र + ई = ऐन्द्री।

औत्सी—उत्स सम्बन्धिनी (उत्स = जल-स्रोत या ऋषि विशेष)—'उत्सस्येयम्' इस अर्थ में उत्स शब्द से 'उत्सादिभ्योऽञ्' ४।३।८६। सूत्र से अञ् प्रत्यय होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर अञ् प्रत्ययान्त औत्स शब्द बनता है। उससे ङीप् होकर औत्सी।

ऊरुद्वयसी-ऊरुद्घ्नी-ऊरुमात्री—(घुटने तक गहरी) ऊरु प्रमाणमस्याः (ऊरु है माप जिसकी) इस अर्थ में ऊरु शब्द से द्वयसच् दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय[3] होकर ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र शब्द बनते हैं। उनसे ङीप् प्रत्यय होकर अकार का लोप होने पर ऊरुद्वयसी आदि रूप बनते हैं।

---

१. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२।

२. यस्येति च ६।४।१४८।

३. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।

पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी ।

*नञ् स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् ॥

स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तीकी । याष्टीकी । आढ्यङ्करणी ।

पञ्चतयी—(पांच अवयव वाली) पञ्च अवयवा अस्या —इस अर्थ मे पञ्चन् श० से संख्याया अवयवे 'तयप्' ५।२।४२ से तयप् प्रत्यय होकर 'पञ्चतय' शब्द बनता है । इससे ङीप् होकर पञ्चतयी ।

आक्षिकी—(पासों से खेलने वाली)—अक्षैर्दीव्यति इस विग्रह म 'अक्ष' शब्द से 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' ४।४।२ से ठक् प्रत्यय होकर अक्ष+इक् आदि वृद्धि तथा अकार लोप होकर आक्षिक→स्त्रीत्व बोधक ङीप् होकर आक्षिक+ई→ अकार का लोप आक्षिकी रूप बनता है ।

लावणिकी (नमक बेचने वाली)—लवण पण्यम् अस्या – इस विग्रह म लवण शब्द से ठञ (लवणाट्ठञ्) होकर लावणिक शब्द बनता है । उसमे स्त्रीलिङ्ग म ङीप् प्रत्यय होकर लावणिक+ई→अकार लोप लावणिकी ।

यादृशी (जैसी)—'यत्' शब्द उपपद होने पर दृश् धातु से कञ् [त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च ३।२।६०] प्रत्यय होकर 'आ सर्वनाम्न' से यत् के तकार (अन्त्य) को आकार होकर 'यादृश' शब्द बनता है, उससे ङीप् होकर यादृश+ई→ अकार लोप यादृशी ।

इत्वरी (कुलटा)—'इण्' धातु से 'इण्नश्जिसर्तिभ्य क्वरप्' इस सूत्र के अनुसार क्वरप् प्रत्यय होकर 'इ+वर' यहां तुक् का आगम होने पर इत्वर शब्द बनता है । उससे ङीप् प्रत्यय होकर इत्वर+ई=इत्वरी ।

नञ् स्नञिति—नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन् प्रत्ययान्त तथा तरुण और तलुन शब्दों से भी ङीप् प्रत्यय कहना चाहिये ।

स्त्रैणी (स्त्रीसम्बन्धिनी)—स्त्री शब्द से अपत्यादि अर्थों मे 'नञ्' प्रत्यय होकर स्त्री+न आदिवृद्धि तथा नकार को णकार 'स्त्रैण'—उससे ङीप् होकर स्त्रैणी ।

पौंस्नी (पुरुषसम्बन्धिनी)—पुंस् शब्द से अपत्यादि अर्थों में 'स्नञ्' प्रत्यय होकर 'पुंस्+स्न' आदिवृद्धि पुंस् के सकार का लोप हो जाने पर 'पौंस्न' शब्द बनता है । उससे ङीप् होकर पौंस्नी ।

शाक्तीकी—(शक्ति नामक अस्त्र वाली)—'शक्ति प्रहरणमस्या' इस विग्रह में 'शक्ति' शब्द से ईकक् (शक्तियष्ट्योरीकक्) प्रत्यय होकर आदिवृद्धि, शक्ति के इकार का लोप (यस्येति च) होने पर 'शाक्तीक' शब्द बनता है । उससे ङीप् होकर शाक्तीकी । इसी प्रकार 'यष्टि' से याष्टीकी ।

---

१. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७।

तरुणी । तलुनी ।

५८३ । यञश्च ।४।१।१६।।

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । अकारलोपे कृते—

५८४ । हलस्तद्धितस्य ।६।४।१५०।।

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईति परे गार्गी ।

५८५ । प्राचां ष्फस्तद्धितः ।४।१।१७।।

यञन्तात् ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः ।

आढ्यङ्करणी (धनवान् बनाने वाली)—अनाढ्यः आढ्यः क्रियतेऽनया—इस विग्रह में 'आढ्य' उपपद होने पर कृ धातु से ख्युन्[1] प्रत्यय (कृत्) होकर यु को अन होकर 'आढ्य कृ + अन' मुम्[2] का आगम, गुण और नकार को णकार होने पर 'आढ्यङ्करण' शब्द बनता है । उससे ङीप् होकर आढ्यङ्करणी ।

तरुणी, तलुनी (युवती)—तरुण, तलुन शब्द से ङीप् प्रत्यय होकर 'यस्येति च' से अन्तिम अकार का लोप होने पर तरुणी, तलुनी रूप बनते हैं ।

५८३. यञश्चेति—यञ् है अन्त में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

अकारेति—(गार्ग्य + ङीप् → गार्ग्य + ई इस अवस्था में 'यस्येति च' से) अन्त्य अकार का लोप करने पर ।

५८४. हल इति—हल् से परे जो तद्धित का यकार उपाधारूप में होता है । उसका लोप हो जाता है । ईकार परे होने पर ।

टिप्पणी—अलोन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६४ अर्थात् किसी शब्द के अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है, जैसे—'गार्ग्य' शब्द में अन्त्य वर्ण अकार है उससे पूर्व वर्ण यकार की उपधा संज्ञा होती है ।

गार्गी (गर्ग गोत्र की स्त्री)—'गर्ग' शब्द से 'गर्गस्य अपत्यं स्त्री' इस विग्रह में यञ् (गर्गादिभ्यो यञ्) प्रत्यय होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर 'गार्ग्य' यह यञ् प्रत्ययान्त शब्द बनता है । इससे 'यञश्च' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर गार्ग्य + ई → अकार लोप तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप होकर गार्गी ।

५८५. प्राचामिति—यञ् प्रत्ययान्त से विकल्प से स्त्रीलिङ्ग में ष्फ प्रत्यय होता है और वह तद्धित संज्ञक होता है ।

---

१. आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ३।२।५६।

२. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७।

५८६ षिद्गौरादिभ्यश्च ।४।१।४१॥

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीष् स्यात् । गार्ग्यायणी । नर्तकी । गौरी ।

*आमनडुहः स्त्रियां वा ॥

अनडुही, अनड्वाही । आकृतिगणोऽयम् ।

टिप्पणी—(१) ष्फ प्रत्यय के षकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और फकार को आयन् आदेश हो जाता है । (२) 'ष्फ' की तद्धित संज्ञा के प्रयोजन हैं—(अ) 'यस्येति च' से अकार लोप और (आ) तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाना ।

५८६. षिद्गौरादिभ्यश्चेति—षित् (षकार है इत् जिसका) प्रातिपदिक से तथा गौर आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—ङीष् में भी 'ई' शेष रहता है । ङीप् तथा ङीष् दोनों में स्वर का अन्तर है ।

गार्ग्यायणी—(गर्ग की सन्तान स्त्री)—यञन्त 'गार्ग्य' शब्द से ष्फ प्रत्यय (प्राचां ष्फस्तद्धित) होकर गार्ग्य+आयन (फ)→गार्ग्यायण शब्द बनता है । यहाँ ष्फ में षकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह षित् है । अतः 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् प्रत्यय होकर गार्ग्यायण+ई→गार्ग्यायणी रूप बनता है ।

नर्तकी—नृत् धातु से ष्वुन् (शिल्पिनि ष्वुन्) प्रत्यय होकर वु को अक आदेश होने पर नर्तक शब्द बनता है । षित् होने के कारण ङीष् प्रत्यय होकर नर्तक+ई→अन्त्य अकार का लोप नर्तकी ।

गौरी—गौर आदि (गण) के प्रथम शब्द 'गौर' से 'षिद्गौरादिभ्य.' से ङीष् प्रत्यय होकर गौर+ई→अकार लोप गौरी ।

आमिति (ग)—अनडुह् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में आम् का आगम होता है विकल्प से ।

अनडुही-अनड्वाही (गौ)—अनडुह् शब्द गौरादि गण में है । इसमें स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होने पर प्रस्तुत वार्त्तिक के अनुसार विकल्प से आम् का आगम हो जाता है-अनडु+आ+ह्+ई→अनड्वाही । जब आम् का आगम नहीं होता तब अनडुह्+ई→अनडुही रूप बनता है ।

आकृतिगण इति—यह गौरादिगण आकृतिगण है । गण में पठित शब्दों के अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य शब्द भी इसके अन्तर्गत समझने चाहिये ।

५८७। वयसि प्रथमे ।४।१।२०॥

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुमारी ।

५८८। द्विगोः ।४।१।२१॥

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात् । त्रिलोकी । अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका (सेना) ।

५८९। वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः ।४।१।३९॥

---

५८७. वयसीति—प्रथम अवस्था के वाचक अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

कुमारी—प्रथम अवस्था के वाचक कुमार शब्द से ङीप् प्रत्यय होकर कुमार + ई → अकार लोप (यस्येति च) कुमारी ।

टिप्पणी—तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—कौमार, यौवन और वृद्धता । प्रथम वयः (अवस्था) का अभिप्राय है—यौवन से पूर्वावस्था 'वयसि प्रथमे' पाणिनीय सूत्र के अनुसार प्रथम अवस्था के वाचक शब्द से ही स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है; किन्तु वधूट आदि शब्द, जो यौवनावस्था के वाचक हैं उनसे भी ङीप् प्रत्यय देखा जाता है अर्थात् 'वधूटी आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं अतः वार्त्तिककार के अनुसार—'वयस्य-चरम इति वाच्यम्' वृद्ध-अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थावाचक शब्दों से ङीप् प्रत्यय होता है । इसलिये वधूटी, चिरण्टी आदि शब्द बन जाते हैं ।

५८८. द्विगोरिति—अकारान्त द्विगु (समास) से ङीप् प्रत्यय होता है ।

त्रिलोकी—(तीन लोकों का समुदाय)—त्रयाणां लोकानां समाहारः—इस विग्रह में द्विगु समास होकर 'त्रिलोक' रूप बनता है । जिसका उत्तरपद अकारान्त होता है ऐसा द्विगु स्त्रीलिङ्ग में होना चाहिये" (अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्टः) इसके अनुसार स्त्रीलिङ्ग होने पर द्विगोः' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर त्रिलोक + ई → अकार लोप → त्रिलोकी ।

त्रिफला—त्रयाणां फलानां समाहारः—इस विग्रह में 'त्रिफल' यह अकारान्त द्विगु बनता है । किन्तु यह अजादिगण के अन्तर्गत है । अतः 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ से टाप् प्रत्यय होकर त्रिफला रूप बनता है ।

त्र्यनीका—(सेना) त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः—इस विग्रह में द्विगु समास होकर 'त्र्यनीक' शब्द बनता है । यहाँ भी अजादिगण में होने के कारण टाप् प्रत्यय होता है ।

५८९. वर्णादिति—वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तथा तोपध (तकार है उपधा में जिसकी) तदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है और तकार को नकार हो जाता है ।

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

५९० । वोतो गुणवचनात् ।४।१।४४।।

उदन्तात् गुणवाचिनो वा ङीप् स्यात् । मृद्वी, मृदु ।

५९१ । बह्वादिभ्यश्च ।४।१।४५।।

एभ्यो वा ङीप् स्यात् । बह्वी, बहु ।

* (ग) कृदिकारादक्तिनः । रात्री, रात्रि ।

एनी एता—(कबरी) 'एत शब्द अनुदात्तान्त'[1] है । इसकी उपधा मे तकार है । यह किसी के प्रति गौण भी नही है (अनुपसर्जन है) अत यहाँ वर्णाद् इत्यादि सूत्र से विकल्प से ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार होकर 'एनी' रूप बन जाता है । पक्ष मे अजाद्यतष्टाप् से टाप् प्रत्यय होकर 'एता' रूप बनता है ।

रोहिणी रोहिता—(लाल रङ्ग वाली), 'रोहित' शब्द से उपर्युक्त रीति से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होने पर तथा तकार को नकार होकर रोहिणी, पक्ष में टाप् होकर रोहिता रूप बनता है ।

५९०. वोत इति—उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग मे ङीप् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

मृद्वी, मृदु (कोमला)—मृदु शब्द उकारान्त तथा गुणवाचक है । इससे ङीप् प्रत्यय होने पर मृदु + ई → उकार को यण् (व्) मृद्वी जब ङीप् प्रत्यय नही होता तो मृदु ।

५९१. बह्वादिभ्य इति—बहु आदि शब्दो से स्त्रीलिङ्ग मे विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ।

बह्वी-बहुः (बहुत)—बहु शब्द से स्त्रीलिङ्ग मे ङीप् प्रत्यय होने पर बहु + ई → बह्वी । ङीप् प्रत्यय के अभाव मे बहु रूप बनता है ।

कृदिति (ग)—(यह बह्वादिगण का सूत्र है) कृत् प्रत्यय का जो इकार वह है अन्त मे जिसके ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है विकल्प से, किन्तु क्तिन् प्रत्ययान्त से नही होता ।

रात्री-रात्रि—'रा' धातु से त्रिप् प्रत्यय (राशदिभ्यां त्रिप् उणादि) होकर रात्रि शब्द बनता है । उपर्युक्त गण सूत्र के अनुसार रात्रि शब्द से ङीप् होकर रात्रि + ई → इकार लोप (यस्येति च) रात्री । पक्ष मे रात्रि ।

---

1. 'वर्णानां तणतिनितान्ताम्' इस फिट् सूत्र से 'एत' का ए (आदिवर्ण) उदात्त है और अनुदात्त पदमेकवर्जम्' के अनुसार शेष स्वर अनुदात्त हैं, अत यह अनुदात्तान्त है ।

*(ग) सर्वतोऽक्तिन्नार्थादित्येके । शकटी, शकटिः ।

५६२ । पुंयोगादाख्यायाम् ।४।१।४८॥

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीप् । गोपस्य स्त्री गोपी ।

* पालकान्तान्न ।

५६३ । प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ।७।३।४४॥

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न

सर्वत इति (ग)—(यह भी बह्वादि गण का सूत्र है) क्तिन् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय हैं अन्त में जिनके ऐसे शब्दों को छोड़कर सभी कृत् या कृत्‌भिन्न इकारान्त शब्दों से ङीप् होता है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

शकटी, शकटिः—(गाड़ी) शकटि इकारान्त शब्द है। इससे ङीप् प्रत्यय होने पर शकटी, पक्ष में शकटिः—ये दो शब्द होते हैं।

टिप्पणी—शकटि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपादिक है, यह कृदन्त शब्द नहीं है अतः इसके अन्त में कृत् प्रत्यय का इकार नहीं है तथा 'कृदिकारादक्तिनः' (ग) से यहाँ ङीप् नहीं होता, किन्तु 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इसके अनुसार हो जाता है। सर्वतः= सबसे=कृत् या कृत्-भिन्न इकारान्त से।

५६२. पुंयोगादिति—जो पुरुषवाचक (पुंसः आख्या=पुमाख्या, पुरुष की संज्ञा अर्थात् पुरुष के अर्थ में प्रसिद्ध) शब्द पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है। उससे ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

गोपी (गोपाल की स्त्री)—'गाः' पाति (गायों का पालन करता है)—इति गोपः। तस्य स्त्री गोप+ङीप्→अकार का लोप (यस्येति च) गोपी।

टिप्पणी—यहाँ गोपालन के कारण 'गोप' शब्द पुरुष के लिये आया है। उस पुरुष के साथ पति पत्नी भाव सम्बन्ध होने से स्त्री के लिये भी जब इस शब्द का व्यवहार होता है तो 'गोपी' शब्द बनता है, किन्तु कोई स्त्री यदि स्वयं गोपालन करती है, गोप की स्त्री नहीं है तो 'गोपा' शब्द बनता है।

पालकान्तादिति—पालक शब्द है अन्त में जिसके ऐसे शब्द से पुंयोग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता।

५६३. प्रययस्थादिति—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व के अकार को इकार हो जाता है आप् परे होने पर, यदि वह आप् सुप् से परे न हो।

गोपालिका (गोपाल की स्त्री)—यहाँ पुंयोग होने से ङीप् प्राप्त था, किन्तु पालकान्त होने से 'पालकान्तान्न' वार्तिक से ङीप् का निषेध हो जाता है और अकारान्त होने से टाप् प्रत्यय होकर पूर्व के अकार को इकार होने पर गोपालिका रूप बनता है। इसी प्रकार 'अश्वपालिका'।

चेत्। गोपालिका। अश्वपालिका। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात् किम्? शक्नोतीति शका। असुप: किम्। बहुपरिव्राजका नगरी।

* सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्य ॥

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायां किम्?

सर्विका—सर्व' शब्द से अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१ से अकच् प्रत्यय होकर सर्वक' शब्द बनता है। उससे स्त्रीलिङ्ग में टाप् (अजाद्यतष्टाप्) प्रत्यय होकर सर्वक+आ→सर्वका इस अवस्था में प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व के अकार को इकार होता है तथा सर्विका रूप बनता है।

कारिका—कृ धातु से 'ण्वुल्तृचौ' ३।१।१३३ सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय होता है। वु को अक, ऋकार को वृद्धि (आर्) होकर कारक शब्द बनता है। उससे स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर, पूर्व के अकार को इकार होने पर कारिका रूप बनता है।

अत किमिति—ककार से पूर्व के अकार को इकार होता है—यह क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'नौका' में औकार को इकार नहीं होता, यहाँ प्रत्यय के ककार से पूर्व औकार है अकार नहीं, नौ+क (स्वार्थिक)+आ (टाप्) →नौका।

प्रत्ययस्थात् किमिति—प्रत्यय का ककार हो ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'शका' में अकार को इकार नहीं होता। 'शक्' धातु से पचादि—अच प्रत्यय होकर शक उससे टाप् प्रत्यय होकर शका शब्द बनता है। यहाँ ककार प्रत्यय का नहीं अपितु धातु का है।

असुप किमिति—यदि आप् सुप् से पर न हो—ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'बहुपरिव्राजका' यहाँ अकार को इकार नहीं होता। परिपूर्वक व्रज धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर परिव्राजक शब्द बनता है। फिर 'बहवः परिव्राजका यस्य (सा नगरी)—इस विग्रह में समास होकर सुप् का लुक् होकर बहुपरिव्राजक' शब्द से टाप् प्रत्यय होकर 'बहुपरिव्राजका' पद बनता है। यहाँ आप् (लुप्त) सुप् से परे है अतः अकार को इकार नहीं होता।

सूर्यादिति—(वा) पुयोग से देवता रूप स्त्री के अर्थ में वर्तमान सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय कहना चाहिये।

[यह पुंयोगादाख्यायाम्' से प्राप्त ङीप् का अपवाद है। चाप् में आ शेष रहता है। चकार और पकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है]

*सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च ।।

यलोपः । सूरी-कुन्ती, मानुषीयम् ॥

५९४ । इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्-
।४।१।४९॥

एषामानुगागमः स्यात् ङीप् च । इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी । वरुणानी । भवानी ।

सूर्या—इसका अर्थ है—सूर्य की स्त्री देवता । यहाँ सूर्य शब्द पुंयोग से देवता रूप स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है अतः सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय होकर सूर्य+आ→ सूर्या ।

देवतायां किमिति—देवता अर्थ में चाप् होता है—यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि यदि सूर्य की स्त्री देवता न हो तो ङीप् प्रत्यय ही होता है । जैसे सूर्यस्य स्त्री सूरी (कुन्ती), यह मानुषी अर्थात् मनुष्य जाति की है । यहाँ सूर्य+ई (ङीप्) इस दशा में अकार लोप होने पर—

सूर्यागस्त्ययोरिति (वा)—सूर्य और अगस्त्य शब्द के यकार का लोप होता है छ और ङ प्रत्यय परे होने पर ।

यलोपः—इससे यकार का लोप होता है ।

सूरी—(सूर्य की स्त्री मानुषी-सूरी-कुन्ती) पुंयोग से स्त्री अर्थ में वर्तमान 'सूर्य' शब्द से 'पुंयोगादाख्यायाम्' ४।१।४८ के अनुसार ङीप् प्रत्यय होकर सूर्य+ई →अकार लोप (यस्येति च) तथा ऊपर के वार्तिक से यकार का लोप होने पर सूरी ।

५९४. इन्द्रेति—इन्द्र वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है और आनुक का आगम भी ।

टिप्पणी—(१) इस सूत्र में भी 'पुंयोगात्' की अनुवृत्ति आती है । इन्द्र आदि ६ शब्दों और मातुल तथा आचार्य शब्दों से 'पुंयोगात्' का सम्बन्ध होता है अन्यों से नहीं, क्योंकि सम्भव नहीं है । इस प्रकार इन्द्र आदि शब्दों से ङीप् 'पुंयोग' में सिद्ध ही है, आनुक् का विधान करने के लिये यहाँ इनका ग्रहण किया गया है । शेष 'हिम' आदि चार शब्दों से ङीप् तथा आनुक् दोनों का विधान किया गया है । (२) आनुक् में ककार की इत्संज्ञा होती है, उकार उच्चारण मात्र के लिये है अतः 'आन्' शेष रहता है जो कित्[1] होने से 'इन्द्र' आदि के अन्त में होता है ।

---

1. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी ।

*हिमारण्ययोर्महत्त्वे ॥

महद् हिमं हिमानी । महद् अरण्यम् अरण्यानी ।

*यवाद्दोषे ॥

दुष्टो यवो यवानी ।

*यवनाल्लिप्याम् ॥

यवनानां लिपि —यवनानी ।

*मातुलोपाध्याययोरानुग्वा ॥

मातुलानी, मातुली । उपाध्यायानी, उपाध्यायी ।

इन्द्राणी—(इन्द्र की स्त्री)—इन्द्र शब्द से पुंयोग में ङीष् तथा आनुक् का आगम होकर इन्द्र + आन् + ई→इन्द्रान् + ई→नकार को णकार इन्द्राणी । इसी प्रकार वरुण की स्त्री 'वरुणानी' । भव, शर्व, रुद्र, मृड—ये शिव के नाम हैं—इनसे 'भवानी', 'शर्वाणी', रुद्राणी', 'मृडानी' ।

हिमारण्ययोरिति (वा)—हिम और अरण्य शब्द से महत्त्व (अधिकता) अर्थ में ङीष् और आनुक् होते हैं ।

हिमानी (महद् हिमम् अधिक बर्फ)—हिम + आन् + इ (ङीष्) ।

अरण्यानी—(महद् अरण्यम् बड़ा वन—अरण्य + आन् + ई (ङीष्) ।

यवादिति—दोषयुक्त यव के अर्थ में वर्तमान 'यव' शब्द से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् होते हैं ।

यवानी—(दोषयुक्त यव)—'दुष्ट यव.' इस अर्थ में यव शब्द से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होकर यव + आन् + ई→यवानी ।

यवनादिति—यवन शब्द से लिपि अर्थ में ङीष् और आनुक् होते हैं ।

यवनानी—(यवनों की लिपि)—यवनानां लिपि —इस अर्थ में यवन शब्द से ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होकर यवन + आन् + ई→यवनानी ।

मातुलेति—मातुल और उपाध्याय शब्द से आनुक् विकल्प से होता है ।

मातुलानी मातुली (मामी)—मातुलस्य स्त्री मामा की स्त्री—इस विग्रह में 'मातुल' शब्द से (पुंयोग में) ङीष् प्रत्यय होता है और विकल्प में आनुक् का आगम होता है→मातुल + आन् + ई→मातुलानी । आनुक् न होने पर मातुल + ङीष्→मातुल + ई→अकार लोप (यस्येति च) मातुली ।

इसी प्रकार उपाध्याय की स्त्री—'उपाध्यायानी', 'उपाध्यायी'

*आचार्यादणत्वं च ॥

आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी ।

*अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे ॥

अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया ।

५६५ । क्रीतात् करणपूर्वात् ।४।१।५०॥

क्रीतान्ताददन्तात् करणादेः स्त्रियां ङीप् स्यात् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न-धनक्रीता ।

टिप्पणी—जो स्वयं ही अध्यापिका होती है । उसके लिये तो 'उपाध्यायी' या उपाध्याया शब्द का प्रयोग होता है । क्योंकि वार्तिक है—'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीप्वाच्यः' ।

आचार्येति—ङीप् प्रत्यय और आनुक् का आगम होने पर आचार्य शब्द से परे नकार को णकार (णत्व) नहीं होता है ।

आचार्यानी—आचार्यस्य (आचार्य की स्त्री)—इस विग्रह में आचार्य शब्द से पुंयोग में ङीप् प्रत्यय तथा आनुक का आगम होकर आचार्य + आन् + ई → आचार्यानी—इस अवस्था में नकार को णकार होना प्राप्त होता है उसका प्रस्तुत वार्तिक से निषेध हो जाता है तथा आचार्यानी रूप बनता है । जो स्त्री स्वयं ही आचार्य हो उसको 'आचार्या' कहा जाता है ।

अर्येति—अर्य और क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में ङीप् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होता है विकल्प से ।

अर्याणी-अर्या—(वैश्य-वर्ण की नारी)—अर्य (वैश्य) शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होने पर अर्य + आन् + ई → नकार को णकार अर्याणी । पक्ष में टाप् प्रत्यय (अजाद्यतष्टाप्) होकर अर्य + आ → अर्या रूप बनता है ।

इसी प्रकार क्षत्रियाणी-क्षत्रिया—(क्षत्रिय वर्ण की स्त्री) ।

पुंयोग में तो (अर्यस्य स्त्री) अर्यी तथा (क्षत्रियस्य स्त्री) क्षत्रियी रूप बनते हैं ।

५६५. क्रीतादिति—'क्रीत' शब्द है अन्त में जिसके तथा करण कारक है आदि में जिसके ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

वस्त्रक्रीती (वस्त्र से खरीदी हुई)—'वस्त्रेण क्रीता' इस विग्रह में गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः, इस परिभाषा के अनुसार 'क्रीत' से परे सुप् आने से पहले ही समास[1] हो जाता है तब 'वस्त्रक्रीत' शब्द से 'क्रीतात् करणपूर्वात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर वस्त्रक्रीत + ई → अकार लोप वस्त्रक्रीती शब्द बनता है ।

---

१. कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२।

५६६ । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसयोगोपधात् ।४।१।५४॥

असयोगोपधमुपसर्जन यत् स्वाङ्ग तदन्ताददन्तात् ङीप् वा स्यात् । केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । असयोगोपधात्

क्वचिदिति—कही यह ङीप् नही होता, जैसे—धनक्रीता धनेन क्रीता धनक्रीता—'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' मे बहुल शब्द के ग्रहण से कही-कही 'गतिकारक०' इत्यादि परिभाषा की प्रवृत्ति नही होती, अतएव क्रीत शब्द से पहले सुप् होकर तब सुबन्त के साथ समास होता है और सुप् से पूर्व लिङ्गबोधक प्रत्यय टाप् हो जाता है।

५६६. स्वाङ्गाच्चेति—सयोग नही है उपधा मे जिसकी ऐसा, उपसर्जन (गौण) जो स्वाङ्गवाची शब्द, वह जिसके अन्त म हो उस अकारान्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

टिप्पणी—स्वाङ्ग शब्द का यौगिक अर्थ 'अपना अङ्ग' (शरीर का अवयव) होता है किन्तु इसका पारिभाषिक अर्थ है जैसा कि काशिका म बताया गया है—

(१) अद्रव मूर्तिमत् स्वाङ्ग प्राणिस्थमविकारजम् ।

(२) अतत्स्थ तत्र दृष्ट च । (३) तेन चेत्तत्तथायुतम् ।

अर्थात् स्वाङ्ग तीन प्रकार का होता है—(१) जो द्रव (तरल) रूप न हो साकार (मूर्तिमान्) हो, प्राणधारी मे विद्यमान हो और किसी रोग आदि (विकार) से उत्पन्न न हुआ हो, (२) जो इस समय प्राणी मे स्थित न हो किन्तु प्राणी मे देखा गया हो, जैसे यदि प्राणी के सुन्दर केश किसी गली मे पडे हो तो वहाँ भी उपर्युक्त सूत्र से ङीप् होकर 'सुकेशी सुकेशा वा रथ्या' यह प्रयोग हो जायेगा । (३) यदि कोई अप्राणी भी प्राणी मे स्थित किसी अङ्ग (स्तन आदि) से उसी प्रकार युक्त हो जैसे प्राणी होता है तो वह अप्राणी का भी स्वाङ्ग कहलायेगा । अत सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा—यहाँ भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विकल्प से ङीप् होता है ।

अतिकेशी, अतिकेशा—केशान् अतिक्रान्ता (केशो का अतिक्रमण करने वाली) यहाँ 'अतिकेश' शब्द से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असयोगोपधात्' सूत्र से विकल्प से ङीप् होकर अतिकेश + ई → अकारलोप अतिकेशी । ङीप् न होने पर (अजाद्यतष्टाप्) टाप् प्रत्यय होकर अतिकेशा शब्द बनता है ।

विशेष—'केशान् अतिक्रान्ता' इस विग्रह मे 'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस वार्त्तिक से समास होता है । अतिकेश शब्द म केश शब्द प्रथम प्रकार का स्वाङ्गवाची है यह अद्रव है, मूर्तिमत् है तथा प्राणी मे स्थित है । यह उपसर्जन भी है, क्योंकि 'अतिकेश' शब्द मे पूर्वपद का अर्थ प्रधान है तथा उत्तरपद का गौण । इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

चन्द्रमुखी चन्द्रमुखा—चन्द्र इव मुख य या (चन्द्र के समान है मुख जिसका)—इस विग्रह मे बहुव्रीहि समास होकर चन्द्रमुख शब्द बनता है । उससे 'स्वाङ्गाच्च'

किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।

५९७ । न क्रोडादिबह्वचः ।४।१।५६॥

क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीप् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ।

५९८ । नखमुखात् संज्ञायाम् ।४।१।५८॥

न ङीष् ।

इत्यादि सूत्र से विकल्प से ङीष् होकर चन्द्रमुखी । पक्ष में टाप् (अजाद्यतष्टाप्) प्रत्यय होकर चन्द्रमुखा शब्द बनता है ।

असंयोगोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में संयोग न हो ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि सुगुल्फा (शोभनौ गुल्फौ यस्याः) यहाँ ङीष् नहीं होता क्योंकि यहाँ उपधा में (फकार के साथ लकार का) संयोग है ।

उपसर्जनात् किमिति—उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची—ऐसा क्यों कहा गया है । इसलिये कि 'शिखा' शब्द में ङीष् नहीं होता । यहाँ 'शिखा' शब्द किसी के प्रति उपसर्जन नहीं है ।

५९७. न क्रोडादीति—क्रोड आदि गण के तथा बह्वच् (जिसमें बहुत से अच अर्थात् स्वर हों) स्वाङ्गवाची प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय नहीं होता ।

कल्याणक्रोडा—कल्याणी क्रोडा यस्याः (कल्याणकारी है क्रोडा[1] अर्थात् वक्ष-स्थल जिसका ऐसी घोड़ी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर बने हुए 'कल्याण-क्रोड' शब्द से 'स्वाङ्गाच्च०' से प्राप्त ङीष् नहीं होता अपितु टाप् (अजाद्यतष्टाप्) होकर 'कल्याणक्रोडा' शब्द बनता है ।

आकृतिगण इति—यह (क्रोडादि) आकृतिगण है अर्थात् गणपठित शब्दों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे शब्द हो सकते हैं । जैसे—

सुजघना—शोभनं जघनं यस्याः (सुन्दर हैं जघन जिसके)—इस विग्रह में 'सुजघन' बहुव्रीहि समास बनता है । यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०' से ङीष् प्राप्त होता है किन्तु 'जघन' शब्द में बहुत से अच् हैं अतः न क्रोडादिबह्वचः से ङीष् का निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर सुजघना शब्द बनता है ।

५९८. नखेति—नख और मुख—इन स्वाङ्गवाचक शब्दों से संज्ञा में ङीष् प्रत्यय नहीं होता ।

---

१. अश्वानामुरः क्रोडा—सिद्धान्तकौमुदी ।

५९९ । पूर्वपदात्संज्ञायामगः ।८।४।३॥

पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने । शूर्पणखा । गौरमुखा । संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ।

६०० । जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।४।१।६३॥

जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात् । तटी । वृषली । कठी । बह्वृची । जातेः किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका । अयोपधात् किम् ? क्षत्रिया ।

---

५९९ पूर्वपदादिति—पूर्वपद में स्थित निमित्त से पर वाले नकार को णकार हो जाता है संज्ञा में, किन्तु यदि गकार बीच में हो तो नहीं होता ।

शूर्पणखा—शूर्पाणि इव नखानि यस्याः (छाज के समान हैं नख जिसके) यह एक राक्षसी का नाम (संज्ञा) है अतः 'स्वाङ्गाच्च०' से जो ङीष् प्राप्त होता है उसका 'नखमुखात् संज्ञायाम्' इस सूत्र से निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर तथा 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' के अनुसार नकार को णकार होकर शूर्पणखा' शब्द बनता है ।

गौरमुखा—गौरं मुखं यस्याः (गौर है मुख जिसका)—यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०' से ङीष् प्राप्त होता है, किन्तु यह किसी का नाम है अतः ङीष् का उपर्युक्त सूत्र से निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर 'गौरमुखा' रूप बनता है ।

संज्ञायां किमिति—संज्ञा में ङीष् नहीं होता ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'ताम्रमुखी कन्या' यहाँ (स्वाङ्गाच्च) ङीष् होता ही है क्योंकि 'ताम्रं मुखं यस्याः सा' इस विग्रह से बना हुआ 'ताम्रमुखी' शब्द यौगिक है, किसी की संज्ञा नहीं ।

६००. जातेरिति—जो जातिवाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग में नियत न हो तथा जिसकी उपधा में यकार न हो, ऐसे अकारान्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—यहाँ जाति शब्द पारिभाषिक है । जैसा कि कहा है—

(१) आकृतिग्रहणा जातिः (२) लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या (३) गोत्रं च चरणैः सह ॥

अर्थात् यहाँ जाति तीन प्रकार की है—(१) जो आकृतिविशेष से व्यक्त हो जाती है, जैसे तट आदि, आकृतिविशेषयुक्त जलसमीप का प्रदेश तट कहलाता है । (२) जो सब लिङ्गों में न हो तथा एक व्यक्ति में बतला देने पर अन्यों में उसका सुगमता से ग्रहण हो जाये, जैसे वृषल आदि । (३) गोत्र अर्थात् अपत्य-प्रत्ययान्त शब्द

*योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः ॥
हयी । गवयी । मुकयी । हलस्तद्धितस्येति यलोपः । मनुषी ।
*मत्स्यस्य ङ्याम् ॥
यलोपः । मत्सी ।

औपगव इत्यादि, चरण अर्थात् शाखा के पढ़ने वाले के वाचक शब्द 'कठ' आदि। इनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

तटी—तट जातिवाचक शब्द है, यह स्त्रीलिङ्ग में नियत भी नहीं है, इसकी उपधा में यकार भी नहीं है अतः इससे उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ङीप् प्रत्यय होकर तट + ई → अकार लोप तटी शब्द बनता है।

वृषली—(वृषल जाति की स्त्री)—वृषल + ङीप् → वृषल + ई → वृषली।

कठी—(कठ शाखा को पढ़ने वाली)—कठेन प्रोक्तमधीयाना। कठ द्वारा जिसका प्रवचन किया गया है (कठेन प्रोक्तम्) वह कठ शाखा है। उसको पढ़ने वाले भी कठ कहलाते हैं। कठ शब्द को जातिवाचक मानकर उससे 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

इसी प्रकार 'बह्वृची' बह्वृचशाखामधीयाना—बह्वृचशाखा को पढ़ने वाली। अपत्यप्रत्ययान्त का उदाहरण है—उपगोरपत्यं स्त्री 'औपगवी'—यहाँ औपगव शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है (सिद्धान्तकौमुदी)।

जातेः किमिति—जातिवाची से हो, ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'मुण्डा' (मुंडी हुई) यहाँ ङीप् नही होता क्योकि इसमें उपर्युक्त जाति का लक्षण घटित नहीं होता।

अस्त्रीविषयात् किमिति—जो स्त्रीलिङ्ग में नियत न हो ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'बलाका' यहाँ ङीप् नहीं होता; क्योंकि बलाका शब्द स्त्रीलिङ्ग मे नियत है।

अयोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में यकार न हो—ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'क्षत्रिया'—यहाँ ङीप् नहीं होता।

योपधेति (वा)—योपध के निषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य तथा मत्स्य—इन शब्दों का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् इनसे ङीप् होता ही है।

हयी (घोड़ी)—'हय' शब्द की उपधा में यकार है अतः 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्राप्त नहीं था। इस वार्त्तिक के अनुसार ङीप् हो जाता है तथा हय + ङीप् → हय + ई → अकारलोप हयी शब्द बनता है। इसी प्रकार गवय (गाय जैसा एक पशु) से 'गवयी' और मुकय (पशुविशेष) से 'मुकयी'।

मनुषी (नारी)—मनुष्य शब्द की उपधा में यकार है फिर भी उपर्युक्त वार्त्तिक

६०१। इतो मनुष्यजातेः ।४।१।६५॥

ङीप्। दाक्षी।

६०२। ऊङुत ।४।१।६६॥

उदन्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिन स्त्रियामूङ् स्यात्। कुरूः।

के द्वारा ङीप् प्रत्यय होता है। मनुष्य + ई→ इस अवस्था मे अकार लोप (यस्येति च) तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप होकर 'मनुषी' शब्द बनता है।

मत्स्यस्येति— मत्स्य के यकार का लोप होता है ङी परे होने पर।

मत्सी (मछली)— मत्स्य शब्द की उपधा मे यकार है तथापि उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार ङीप् प्रत्यय हो जाता है। मत्स्य + ई→ इस अवस्था मे अकार लोप (यस्येति च) तथा मत्स्यस्य ङ्याम् इस वार्तिक से यकार का लोप मत्स् + ई→ मत्सी रूप बनता है।

६०१ इत इति—मनुष्य जातिवाची इकारान्त शब्द से ङीप प्रत्यय होता है।

टिप्पणी— जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् सूत्र के अनुसार अकारान्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है अतः प्रस्तुत सूत्र द्वारा इकारान्त शब्द से ङीप् का विधान किया गया है।

दाक्षी—दक्षस्यापत्यं स्त्री—दक्ष की सन्तान स्त्री इस विग्रह मे दक्ष शब्द से 'अत इञ्' प्रत्यय होकर 'दाक्षि' शब्द बनता है जो अपत्य प्रत्ययान्त होने से जाति-वाचक है। इससे (इतो मनुष्यजातेः) ङीप् प्रत्यय होकर दाक्षि + ई→ इकार लोप (यस्येति च) दाक्षी रूप बनता है।

६०२ ऊङुत इति—उकार है अन्त मे जिसके तथा यकार नही है उपधा मे जिसके ऐसे मनुष्य जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग मे ऊङ प्रत्यय होता है।

कुरूः—कुरोः अपत्यं स्त्री कुरुप्रदेश का राजा कुरु उसकी सन्तान स्त्री। यहाँ 'कुरु' शब्द से अपत्य अर्थ मे ण्य[1] प्रत्यय होकर उसका लुक् हो जाता है। अपत्य-प्रत्ययान्त होने से यह मनुष्यजातिवाचक है अतएव इससे ऊङुतः से ऊङ् प्रत्यय होकर कुरु + ऊ→ सवर्णदीर्घ कुरू रूप बनता है।[2] कुरू + सु = कुरूः।

---

१ कुरुनादिभ्यो ण्यः ।४।१।१७२।

२ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५। सूत्र से धातु तथा प्रत्ययान्त को छोडकर अर्थयुक्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है अतः 'कुरू' आदि ऊङन्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा न होगी फिर सु आदि (सुप्) प्रत्यय कैसे होंगे ? क्योकि वे (ङ्याप् प्रातिपदिकात्) ङी, आप् प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिक संज्ञक से ही होते हैं; तथापि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' (प्रातिपदिक के ग्रहण से लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्ट का भी ग्रहण होता है) इस परिभाषा के अनुसार ऊङ् प्रत्ययान्त से भी 'सु' आदि हो जाते हैं और कुरू + सु→ कुरूः आदि रूप बनते हैं।

अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

६०३ । पङ्गोश्च ।४।१।६८॥

पङ्गूः ।

*श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ॥

श्वश्रूः ।

६०४ । ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।४।१।६९॥

उपमानवाचि पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् । करभोरूः ।

अयोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में यकार न हो—ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि अध्वर्युः ब्राह्मणी यहाँ अध्वर्यु शब्द से ऊङ् प्रत्यय नहीं होता; क्योंकि इसकी उपधा में यकार है । 'अध्वर्यु' शब्द 'गोत्रं च चरणैः सह' के अनुसार जातिवाचक है ।

६०३. पङ्गोश्चेति—'पङ्गु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—पङ्गु शब्द जातिवाचक नहीं, अतः ऊङतः से ऊङ् प्राप्त नहीं था । इसलिये इस सूत्र द्वारा ऊङ् प्रत्यय कहा गया है ।

पङ्गूः—(लँगड़ी)—पङ्गु शब्द से 'पङ्गोश्च' सूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होकर पङ्गु + ऊ → पङ्गूः रूप बनता है ।

श्वशुरस्येति—'श्वशुर' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है तथा शकार से परे वाले उकार का और रेफ (र्) से परे वाले अकार का लोप हो जाता है ।

श्वश्रूः (सास)—'श्वशुर' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होकर श्वशुर + ऊ—इस अवस्था में शकार से पर उकार का तथा रेफ से पर अकार का लोप हो जाता है, श्वशुर् + ऊ → श्वश्रू + सु → श्वश्रूः ।

६०४. ऊरूत्तरेति—उपमानवाची हो पूर्वपद जिसका और 'ऊङ्' शब्द हो उत्तरपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

करभोरूः—करभौ इव ऊरू यस्याः (करभ के समान हैं ऊरु जिसके)—यहाँ पूर्वपद 'करभ' शब्द है जो उपमानवाची है तथा उत्तरपद 'ऊरु' शब्द है अतः प्रस्तुत सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होकर करभोरु + ऊ + सवर्णदीर्घ होकर करभोरूः शब्द बनता है ।

६०५ । संहितशफलक्षणवामादेश्च ।४।१।७०॥

अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरू । शफोरू । लक्षणोरू । वामोरू ।

६०६ । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ।४।१।७३॥

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात् ।

टिप्पणी—हाथ की कलाई (मणिबन्ध) से लेकर कनिष्ठका तक के हथेली के निचले भाग को करभ[1] कहते हैं । ऊरु की आकृति इस (करभ) के सदृश है यही दोनों में समानता है अथवा स्निग्धता या कोमलता दोनों का समान धर्म है ।

६०५ संहितेति—संहित शफ लक्षण और वाम शब्द हो पूर्वपद (आदि) जिसका और ऊरु शब्द हो उत्तरपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

अनौपम्यार्थमिति—यह सूत्र अनौपम्य के लिये है अर्थात् जहाँ पूर्वपद उपमान वाची नहीं है वहाँ ऊङ् प्रत्यय के विधान के लिये है ।

संहितोरू—संहितौ (संश्लिष्टौ) ऊरू यस्याः—मिले हुए हैं ऊरु जिसके, इस विग्रह में निष्पन्न 'संहितोरु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होकर संहितोरु+ ऊ→सवर्णदीर्घ संहितोरू ।

इसी प्रकार 'शफौ ऊरू यस्याः' (संश्लिष्ट[2] हैं ऊरु जिसके) शफोरू । लक्षणौ ऊरू यस्याः (शुभ लक्षणयुक्त[3] हैं ऊरू जिसके) 'लक्षणोरू' । वामौ ऊरू यस्याः (सुन्दर हैं ऊरू जिसके) 'वामोरू' शब्द बनते हैं ।

६०६. शार्ङ्गरवेति—शार्ङ्गरव आदि शब्दों से तथा अञ् का जो अकार वह है अन्त में जिसके ऐसे जातिवाचक शब्दों से ङीन् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—शार्ङ्गरव तथा 'बैद' शब्द अपत्य प्रत्ययान्त हैं । इनसे जातिलक्षण ङीष् प्राप्त होने पर ङीन् प्रत्यय का विधान किया गया है । ङीप् और ङीन् में स्वर का भेद है । ङीन् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होता है ।[4]

शार्ङ्गरवी—शृङ्गरोः अपत्यं स्त्री (शृङ्गरु की सन्तान स्त्री) शृङ्गरु शब्द से अण् प्रत्यय होकर शार्ङ्गरव शब्द बनता है । उससे प्रस्तुत सूत्र के अनुसार ङीन् प्रत्यय होकर शार्ङ्गरव+ई→अकार लोप (यस्येति च) शार्ङ्गरवी ।

बैदी—बिदस्य अपत्यं स्त्री बैदी । (बिद की सन्तान स्त्री) बिद+अञ्→ बैद ।[5] अजन्त बैद शब्द से ङीन् प्रत्यय होकर बैद+ई→अकार लोप बैदी ।

---

१. मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः, अमरकोश ।

२. शफ शब्द का अर्थ खुर होता है, किन्तु यहाँ शफ शब्द से 'शफ के सदृश संश्लिष्ट' यह अर्थ लक्षणा द्वारा प्रकट होता है ।

३. यहाँ 'लक्षण' शब्द अर्शआद्यच् प्रत्ययान्त है जो लक्षणयुक्त के अर्थ में है ।

४. ञ्नित्यादिर्नित्यम् ।६।१।१९७॥

५. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४॥

शार्ङ्गरवी। वैदी। ब्राह्मणी। नृनरयोर्वृद्धिश्च। नारी।

६०७। यूनस्तिः।४।१।७७।। ८

युवन् शब्दात् स्त्रियां ति प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

। इति स्त्रीप्रत्ययाः।

ब्राह्मणी—ब्राह्मण शब्द शार्ङ्गरव आदि गण में है। इससे जाति लक्षण ङीप् प्राप्त था। उसे बाध कर प्रस्तुत सूत्र से ङीन् होता है। ब्राह्मण+ई→ब्राह्मणी।

नृनरयोरिति (गणसूत्र)—नृ और नर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् प्रत्यय होता है और इन शब्दों को वृद्धि भी होती है।

टिप्पणी—(१) नृ के ऋकार को वृद्धि (आर्) होती है तथा नर शब्द में नकार से पर अकार को वृद्धि (आ) होती है। (२) नृ शब्द से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्रत्यय प्राप्त था और 'नर' शब्द से जाति लक्षण ङीप् प्राप्त था। उनको बाधकर इससे ङीन् प्रत्यय होता है।

नारी—'नृ' शब्द से ङीन् होकर ऋकार को वृद्धि (आर्) होकर नार+ई→नारी तथा 'नर' शब्द से ङीन् होकर नर+ई→अन्त्य अकार का लोप तथा पूर्व अकार को वृद्धि होकर नारी शब्द बनता है।

६०७. यून इति—'युवन' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय होता है।

युवतिः—युवन् शब्द से 'यूनस्तिः' सूत्र के अनुसार ति प्रत्यय होकर युवन्+ति→नकार[1] लोप होकर युवतिः शब्द बनता है।

टिप्पणी—यह ति प्रत्यय तद्धितसंज्ञक है, अतः 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'युवति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय होते हैं।

* इति स्त्रीप्रत्यय *

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७॥

अथ तिङन्तम्

१. भ्वादिगण

लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्, । एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचर ।

तिङन्त—धातुओ से क्रियापद बनाने के लिये जो तिप् आदि (तिप् से लेकर महिङ् पर्यन्त) प्रत्यय लगाये जाते हैं उन्हे तिङ कहते हैं । तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त मे होते है ऐसे पदो को तिङन्त कहते हैं, जैसे 'भवति' आदि ।

धातु—धातु पाठ मे पठित जो भू आदि हैं तथा सन् आदि प्रत्यय जोडकर जो 'चिकीर्ष' आदि बनते हैं उन्ह धातु कहते हैं । (भूवादयो धातव ।१।३।१।, सनाद्यन्ता धातव ।३।१।३२।) ।

धातुओं से दो प्रकार के प्रत्यय जोडे जाते हैं—(१) कृत् प्रत्यय, (२) तिङ् प्रत्यय । कृत् प्रत्ययो की प्रक्रिया ऊपर दिखलाई जा चुकी है । यहाँ 'तिङन्त' प्रक्रिया दिखलाई जा रही है ।

टिप्पणी—'चिकीर्ष' आदि प्रत्ययान्त धातुएँ कृ आदि मूल धातु मे 'सन्' आदि प्रत्यय जोडकर बनती हैं । उनसे भी कृत् तथा तिङ् दोनो प्रकार के प्रत्यय जोडे जाते हैं ।

भ्वादिगण इति—'गण का अर्थ है समुदाय या समूह । संस्कृत-व्याकरण में सभी धातुओ को दस गणो मे विभक्त कर दिया गया है । प्रथम गण भ्वादिगण है । जिस धातु-समुदाय के आदि मे भू धातु है वह भ्वादिगण कहलाता है । सभी गणो की धातुओ के रूपो म परस्पर कुछ अन्तर होता है, यह आगे स्पष्ट हो जायेगा ।

लट् इति—लट् आदि दश लकार कहलाते हैं । 'लकार' शब्द का अर्थ है—लवर्ण । इन दसो में ही लवर्ण होता है । लवर्ण (लकार) मे भिन्न भिन्न मात्रा और 'ट्' आदि अनुबन्ध जोडकर ही ये बनाये गये हैं । व्याकरण मे 'लकार' एक विशेष अर्थ का बोधक है । काल आदि को प्रकट करने वाली क्रिया की अवस्था को लकार कहा जाता है । कौन-सा लकार किस काल अथवा किस विशेष अवस्था को प्रकट करता है ? इत्यादि का निरूपण लकारार्थ प्रक्रिया मे किया जायेगा ।

एषुइति—इन (दस लकारो) मे पाँचवा लकार (लेट्) केवल वेद मे होता है (लौकिक संस्कृत भाषा मे नहीं) । यहाँ 'छन्दस्' शब्द का अर्थ है—वेद ।

६०८। लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ।३।४।६९॥

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ।

६०९। वर्तमाने लट् ।३।२।१२३॥

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् ।

अटावितौ । उच्चारणसामर्थ्याद् लस्य नेत्त्वम् ।

---

६०८. लः इति—लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में होते हैं ।

टिप्पणी—(१) लट् आदि जो दस लकार हैं वे किन अर्थों को प्रकट करते हैं ? यही यहाँ बतलाया गया है । धातु दो प्रकार की है एक सकर्मक तथा दूसरी अकर्मक। सकर्मक धातु से जोड़े गये लकार कर्त्ता या कर्म अर्थ को प्रकट करते हैं और अकर्मक धातु से जोड़े गये कर्त्ता या भाव अर्थ को। (२) धातु के अर्थ में दो अंश होते हैं—फल और व्यापार, जैसे 'देवदत्तः ओदनं पचति' (देवदत्तः भात पकाता है) यहाँ पकना या गलना (विक्लित्ति) फल है और पकाने के लिये की गई क्रियाएँ (चावल चढ़ाने से लेकर उतारने तक) सभी व्यापार हैं, जिसे 'पाकानुकूल व्यापार' कहा जाता है। फल का आश्रय जो ओदन है वह कर्म है और व्यापार का आश्रय होने वाला देवदत्त कर्ता है। भाव का अर्थ है—भावना, क्रिया, उत्पत्त्यनुकूल व्यापार। यह सामान्यतः प्रत्येक धातु का वाच्यार्थ होता है और लकार द्वारा इसका बोध हुआ करता है। (३) इसी आधार पर क्रियाओं में तीन वाच्य होते हैं कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य (द्र० आगे भावकर्म प्रक्रिया)। (४) वे धातु सकर्मक कही जाती हैं जिनके फल और व्यापार का आश्रय पृथक्-पृथक् होता है, जैसे 'पच्' धातु सकर्मक है; इसके फल (विक्लित्ति) का आश्रय ओदन आदि है और व्यापार (पाकानुकूल-व्यापार) का आश्रय देवदत्त आदि है। वे धातु अकर्मक हैं जिनके फल और व्यापार का आश्रय एक ही होता है, जैसे 'भू' धातु है।

६०९. वर्तमाने इति—वर्तमान काल की क्रिया का बोध कराने वाली धातु से लट् लकार होता है।

[क्रिया के तीन काल होते हैं—वर्तमान, भूत और भविष्यत्। व्याकरण में दिखलाया गया है कि तीनों कालों का विविध लकारों द्वारा बोध हुआ करता है।]

अटाविति—'लट्' के अकार (ल्+अ) तथा टकार (ट्) की इत् संज्ञा होती है। 'ल्' का उच्चारण (लट् में) किया गया है (उच्चारणसामर्थ्य) इसलिये 'ल्' की

'भू' सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां 'भू ल्' इति स्थिते—

६१०। तिप्तस्झि सिप्थस्थ- मिब्वस्मस् तातांझ-थासाथांध्वम् -इड्वहिमहिङ् ।३।४।७८॥

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ।

६११। लः परस्मैपदम् ।१।४।९९॥

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः ।

६१२। तङानावात्मनेपदम् ।१।४।१००॥

तङ्प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञापवादः ।

इत् संज्ञा नहीं होती।[1] [यदि ल् की भी इत्संज्ञा हो जाय तो कुछ भी शेष न रहे और लट् का विधान ही व्यर्थ हो जाये।]

भू इति—भू धातु सत्ता (=होना) अर्थ में है। कर्त्ता की क्रिया बतलाने की इच्छा (=विवक्षा) होने पर (भू धातु से लकार करने पर) भू+ल् यह स्थिति हुई।

['कर्तृविवक्षायाम्' में विवक्षा (बतलाने की इच्छा) शब्द से यह प्रकट होता है कि कर्त्ता, कर्म आदि विवक्षा के अधीन होते हैं। वक्ता अपनी इच्छा के अनुसार किसी को भी कर्त्ता रूप में कह देता है।]

६१०. तिप्तस् इति—तिप्—तस्—झि, सिप्—थस्—थ, मिप्—वस्—मस्, त—आताम्—झ, थास्—आथाम्-ध्वम्, इड् वहि—महिङ्—ये अठारह लकार के (स्थान में) आदेश होते हैं (यहां लस्य ३।४।७७। का अधिकार है)।

[इन १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं। सूत्र में आदि के 'ति' से लेकर अन्त के इत्संज्ञक 'ङ्' तक तिङ् प्रत्याहार बनता है। इसी प्रकार 'त' से लेकर 'ङ्' तक तङ् प्रत्याहार बनता है।]

६११. ल इति—लकार के (स्थान में होने वाले) आदेश परस्मैपदसंज्ञक होते हैं। (सूत्र में 'ल' यह षष्ठी है जिससे 'ल के आदेश' यह अर्थ हो जाता है)।

६१२ तङ् इति—तङ् प्रत्याहार (त से लेकर महिङ् तक) के प्रत्यय और शानच् तथा कानच् आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं। यह पूर्वसंज्ञा का अपवाद है।

भाव यह है धातु से लट् आदि होते है जिन्हें लकार कहा जाता है। लकारों के स्थान में कुछ आदेश हो जाते हैं जो लादेश कहलाते हैं जैसे तिङ् प्रत्यय, कानच् (लिटः कानज् वा ३।२।१०६), क्वसु (क्वसुश्च ३।२।१०७) और शतृ—शानच् (लटः शतृशानचौ० ३।२।१२४। और लृटः सद्वा ३।३।१४)—ये लादेश हैं। 'लः परस्मैपदम्'

---

[1] १. यहां अकार की इत्संज्ञा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२' से, टकार की 'हलन्त्यम् १।३।३' से होती है। लकार की इत्संज्ञा 'लशक्वतद्धिते १।३।८' से प्राप्त है जो नहीं होती।

६१३। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ।१।३।१२॥

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् ।

7. ६१४। स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।१।३।७२।

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपद स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले ।

8. ६१५। शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् ।१।३।७८॥

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।

से इन सभी की परस्मैपद संज्ञा प्राप्त होती है। किन्तु वह सामान्य नियम (उत्सर्ग) है और कोई भी सामान्य नियम किसी विशेष नियम (अपवाद) के विषय को छोड़कर ही लागू हुआ करता है। 'तङानावात्मनेपदम्' यह विशेष नियम है। यह अपने विषय में सामान्य नियम का बाधक है। अतः तङ्, शानच् और कानच् की आत्मनेपद संज्ञा ही होती है, परस्मैपद संज्ञा नहीं।

६१३. अनुदात्तेति—अनुदात्तेत् (जिसका अनुदात्त अच् इत् होता है) और ङित् (जिसका ङकार इत् होता है) धातुओं से आत्मनेपद होता है।

एध आदि धातु अनुदात्तेत् है। 'एध' में धकार से परे जो अकार है (एध्+अ=एध) वह अनुदात्त है और उसकी इत् संज्ञा होती है। इसी प्रकार अन्य कुछ धातुएँ भी अनुदात्तेत् हैं। कौन धातु अनुदात्तेत्? इसका बोध धातुपाठ से हो जाता है। 'शीङ्' आदि धातु ङित् हैं; यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार की धातुओं से आत्मनेपद= तङ्, शानच् तथा कानच् होते हैं।

६१४. स्वरितेति—स्वरितेत् (जिसका स्वरित अच् इत् होता है) और ञित् (जिसका ञकार इत् होता है) धातुओं से आत्मनेपद होता है, यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त (कर्तृगामी) हो।

पच आदि धातु स्वरितेत् है। 'पच' में चकार से परे जो अकार है (पच्+अ=पच्) वह स्वरित है और उसकी इत् संज्ञा होती है। इसी प्रकार अन्य कुछ धातुएँ भी स्वरितेत् हैं। कौन धातु स्वरितेत् है? इसका बोध धातुपाठ से हो जाता है। कृञ् आदि धातु ञित् हैं, यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार की धातुओं से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद और परगामी होने पर (शेषात्०) परस्मैपद होता है। जैसे कृञ् धातु से।

६१५. शेषादिति—आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातु से कर्त्ता में परस्मैपद होता है।

भू धातु में आत्मनेपद होने का निमित्त नहीं? न यह अनुदात्तेत् या ङित् है और न ही स्वरितेत् या ञित्। अतः इसके कर्त्ता (कर्तृवाच्य) में परस्मैपद ही होता है। सूत्र में 'कर्त्तरि' (कर्तृवाच्य में) पद रखने से यह व्यवस्था कर्तृवाच्य में ही है।

६१६ । तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ।१।४।१०१॥
तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमाद् एतत्सञ्ज्ञाः स्युः ।

६१७ । तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ।१।४।१०२॥
लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादिसञ्ज्ञानि स्युः ।

६१८ । युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ।१।४।१०५॥
तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः ।

कर्मवाच्य और भाववाच्य आदि में तो सदा आत्मनेपद ही हुआ करता है। सामान्यतः व्यवस्था यह है—कर्तृवाच्य में अनुदात्तेत् तथा ङित् से सर्वत्र, स्वरितेत् और ञित् से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद होता है अन्यत्र परस्मैपद । कर्मवाच्य, भाववाच्य आदि में सर्वत्र आत्मनेपद ।

इस प्रकार भू धातु से कर्त्ता की विवक्षा में परस्मैपद के प्रत्यय आते हैं। ये प्रत्यय तिप् से लेकर मस् तक नौ हैं । इनमें से प्रथम पुरुष आदि के एकवचन आदि में एक एक प्रत्यय हुआ करता है । कैसे ?

६१६ तिङ इति—तिङ् के दोनों पदों (परस्मैपद और आत्मनेपद) के जो तीन-तीन त्रिक (=तीन प्रत्ययों के समूह) हैं उनकी क्रम से प्रथम, मध्यम तथा उत्तम (पुरुष) सञ्ज्ञा होती है ।

६१७ तानीति—प्रथम आदि सञ्ज्ञा वाले तिङ् के तीन-तीन (प्रत्ययों) में से प्रत्येक की एकवचन आदि सञ्ज्ञा होती है ।

संक्षेप में प्रथम पुरुष आदि के एकवचन आदि इस प्रकार हैं—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पु०	तिप्	तस्	झि	त	आताम्	झ
मध्यम पु०	सिप्	थस्	थ	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पु०	मिप्	वस्	मस्	इट् (इड्)	वहि	महिङ्

६१८ युष्मदीति—तिङ् का वाच्य जो कारक (कर्त्ता आदि), उसके वाचक युष्मद् शब्द के उपपद होने पर, उस (युष्मद्) का प्रयोग हुआ हो या न हुआ हो, मध्यम सञ्ज्ञा वाले (तिङ् प्रत्यय) होते हैं ।

६१९। अस्मद्युत्तमः ।१।४।१०७।

तथाभूतेऽस्मदि उत्तमः ।

६२०। शेषे प्रथमः ।१।४।१०८।

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् ।

६२१। तिङ्शित् सार्वधातुकम् ।३।४।११३।

तिङ्शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्सञ्ज्ञाः स्युः ।

६२२। कर्तरि शप् ।३।१।६८।।

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् ।

टिप्पणी—उपपद का अर्थ है समीप उच्चारित पद । समान अर्थात् एक है वाच्य (अर्थ) जिनका वे समानाधिकरण कहलाते हैं । तिङ् लकार के स्थान में होता है और लकार कर्ता-कर्म आदि में । अतः जिस कर्ता आदि कारक का वोधक तिङ् है जव उसी के लिये 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग होता है तो तिङ् तथा युष्मद् दोनों समानाधिकरण कहलाते हैं । स्थानिनि=स्थान वाला होने पर (=अप्रयुज्यमाने)।

६१९. अस्मदीति—उस प्रकार के अस्मद् के रहते उत्तम संज्ञा वाले (तिङ् प्रत्यय) होते हैं ।

[तथाभूते=वैसा होने पर, तिङ्वाच्यकारकवाचिनि+प्रयुज्यमाने अप्रयुज्यमाने च अर्थात् 'अस्मत्' तिङ्वाच्य कारक का वाचक हो, उसका प्रयोग हो या न हो।]

६२०. शेष इति—मध्यम और उत्तम का विषय न होने पर प्रथम संज्ञा वाले (तिङ् प्रत्यय) होते हैं ।

संक्षेप में—युष्मद् का प्रयोग हो या प्रयोग के विना ही उसका अर्थ बोध होता हो तो धातु से मध्यम पुरुष के प्रत्यय होते हैं, इसी प्रकार अस्मद् के साथ उत्तम पुरुष के प्रत्यय होते हैं और शेप स्थलों पर प्रथम पुरुष के । उपर्युक्त सूत्रों के अनुसार भू धातु से कर्तृवाच्य परस्मैपद लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में 'तिप्' प्रत्यय होता है । तिप् में पकार की 'हलन्त्यम्' (१।३।३) से इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है ।

६२१. तिङ् इति—धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे गये तिङ् और शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक होता है) की सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

६२२. कर्तरीति—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर धातु से शप् होता है ।

[शप् प्रत्यय धातु और तिङ् के मध्य में होता है । इसे 'विकरण' कहा जाता है । शप् के शकार की (लशक्वतद्धिते १।३।८।) तथा पकार की (हलन्त्यम् १।३।३।) इत्संज्ञा होकर लोप (तस्य लोपः १।३।९।) हो जाता है और अकार शेप रहता है। इसी प्रकार तिप् के पकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है]

६२३। सार्वधातुकार्धधातुकयोः ।७।३।८४॥
अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः ।
अवादेशः । भवति । भवतः ।

६२४। झोऽन्तः ।७।१।३॥
प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः स्यात् । अतो गुणे—भवन्ति ।

---

६२३ सार्वधातुकेति—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर इगन्त अङ्ग को गुण होता है ।

टिप्पणी—(१) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३॥—जिस (शब्द) से कोई प्रत्यय किया जाता है वह जिस समुदाय के आदि में हो उस शब्दस्वरूप की उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्ग संज्ञा होती है । यहाँ ति (तिङ्) सार्वधातुक प्रत्यय पर होने पर 'भू अ' की अङ्ग संज्ञा है । (२) तथा शप् (सार्वधातुक) प्रत्यय परे होने पर 'भू' की अङ्ग संज्ञा है । 'भू अ ति' इस अवस्था में इगन्त अङ्ग 'भू' के अन्त्य वर्ण ऊकार को (अलोऽन्त्यस्य १।१।५२।) ओ गुण (अदेङ्गुणः १।१।२) होता है । (३) आर्धधातुक के विषय में आगे बताया जायगा ।

अवादेश—इति—भो अ ति' इस अवस्था में ओ को 'अव्' हो जाता है । इस प्रकार—

भवति—भू धातु से कर्तृवाच्य के लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'भू+ति' इस दशा में 'ति' की सार्वधातुक संज्ञा (तिङ् शित् सार्वधातुकम्) होने से धातु से शप् (कर्तरि शप्) हो जाता है । शप् में शकार और पकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और 'अ' शेष रहता है । भू+अ+ति इस दशा में सार्वधातुकार्धधातुकयोः से धातु के ऊ को (अलोऽन्त्यस्य) ओकार गुण (अदेङ्गुणः) होता है । 'भो+अ+ति' यहाँ 'ओ' को 'अव्' (एचोऽयवायावः) आदेश होकर भव्+अ+ति→भवति रूप होता है ।

भवतः—भू कर्तृवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष द्विवचन में 'भू तस्' इस अवस्था में भवति के समान सब कार्य होकर 'भव्+अ+तस्' ऐसा हो जाने पर सकार को रुत्व (ससजुषो रुः) तथा 'र्' को विसर्ग (खरवसानयोर्विसर्जनीयः) होकर 'भवतः' रूप होता है ।

६२४. झोऽन्त इति—प्रत्यय के अवयव 'झ्' (झकार) को 'अन्त्' आदेश होता है ।

अतो गुण इति—अतो गुणे सूत्र से भू+अ+अन्ति इस दशा में शप् के अकार को अन्ति' का अकार परे रहते पररूप (अ+अ=अ) हो जाता है । [सूत्र का अर्थ है—अपदान्त के अकार से परे गुण (अ ए ओ) होने पर पररूप एकादेश होता है] ।

भवन्ति—कर्तृवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में भू झि इस दशा में शप्, गुण तथा अव् आदेश होने पर झि के 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होकर 'भव्+अ+

भवसि, भवथः, भवथ ।

६२५। अतो दीर्घो यञि ।७।३।१०१॥

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके ।

भवामि, भवावः, भवामः ।

स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति ।

त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ ।

अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः ।

६२६। परोक्षे लिट् ।३।२।११५॥

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिवादयः ।

अन्त् इ' इस दशा में अतो गुणे से पररूप (अ+अन्ति=अन्ति) हो जाता है और भवन्ति रूप बनता है ।

भवसि—भवसि इत्यादि क्रमशः मध्यम पुरुष के तीनों वचनों के रूप हैं । भू +अ+सि = भवसि, भू+अ+थस् (स् को रुत्व तथा विसर्ग) = भवथः और भू+ अ थ=भवथ रूप होते हैं ।

६२५. अतो इति—अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है यञादि (यञ् प्रत्याहार के वर्ण हैं आदि में जिसके) सार्वधातुक परे होने पर । [य्, व्, र्, ल्, वर्गों के पञ्चम वर्ण तथा झ्, भ—इनकी ञ् संज्ञा है] ।

भवामि—कर्तृवाच्य लट्लकार उत्तम पुरुष एकवचन में भू मि यहाँ शप्, गुण अवादेश होकर भव् । अ+मि, इस अवस्था में यञादि 'मि' परे होने पर अदन्त अङ्ग 'भव' के अकार को दीर्घ (आ) हो जाता है और 'भवामि' रूप होता है । इसी प्रकार उत्तम पुरुष के द्विवचन में भू+अ+वस् (स् को रुत्व, विसर्ग) भवावः और बहुवचन में भू+अ+मस्=भवामः रूप होते हैं ।

स भवति इति—'स भवति' (वह होता है) इत्यादि के द्वारा यह दिखलाया गया है कि 'भवति' आदि तिङन्त पदों का प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष (के एकवचन द्विवचन तथा बहुवचन) के सर्वनामों के साथ किस प्रकार प्रयोग होता है । ध्यान रखने योग्य है कि केवल 'युष्मद्' मध्यम पुरुष का सर्वनाम है 'अस्मद्' उत्तम पुरुष का । कर्तृवाच्य में इनके साथ क्रमशः मध्यम और उत्तम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग होता है । शेष सभी सर्वनाम तथा संज्ञाओं के साथ प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है । फलत संस्कृत में 'भवान्' (आप) शब्द के साथ भी प्रथम पुरुष की क्रिया होती है, जैसे 'भवान् पठति' इत्यादि ।

६२६. परोक्ष इति—भूत-अनद्यतन-परोक्ष अर्थ में होने वाली धातु से लिट् लकार होता है । ल (लिट्) को तिप् आदि (आदेश) होते है ।

६२७। परस्मैपदानां णलतुसुस् थलथुस-णल्वमाः ।३।४।८२॥

लिटस्तिवादीनां नवानां णलादयः स्युः ।

'भू अ' इति स्थिते—

६२८। भुवो वुग् लुङ्लिटोः ।६।४।८८॥

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि ।

६२९। लिटि धातोरनभ्यासस्य ।६।१।८॥

लिटि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः । आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य ।

'भूव भूव् अ' इति स्थिते—

६३०। पूर्वोऽभ्यासः ।६।१।४॥

अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् ।

[लिट् में इकार और टकार की इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है और लकार (ल्) ही शेष रहता है] ।

६२७ परस्मै इति—लिट् के स्थान में होने वाले परस्मैपद के नौ तिप् आदि को (क्रमशः) णल् आदि (नौ) हो जाते हैं [जैसे—तिप्=णल्, तस्=अतुस्, झि=उस्, सिप्=थल्, थस्=अथुस्, थ=अ, मिप्=णल्, वस्=व, मस्=म] ।

भू अ इति—लिट् के स्थान में तिप् और उस तिप् के स्थान में णल् हो जाता है। णल् के णकार और लकार की इत् संज्ञा और लोप होकर 'भू अ' इस अवस्था में—

६२८. भुव इति—भू धातु को 'वुक्' का आगम होता है लुङ् और लिट् सम्बन्धी अच् परे होने पर। [वुक् में उकार और ककार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। कित् (क् है इत्संज्ञक जिसका) होने से वुक् भू धातु के अन्त में आता है (आद्यन्तौ टकितौ) और इसके कित् होने से धातु को गुण नहीं होता] ।

६२९ लिटि इति—लिट् परे होने पर अभ्यास रहित धातु के अवयव प्रथम एकाच् (एक अच् वाले) को द्वित्व होता है। किन्तु आदि में होने वाले अच् (अजादि धातु) से आगे वाले द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

[यहाँ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१॥' और 'अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२॥' दोनों सूत्रों का अधिकार है] ।

भूव् इति—भू से अ (णल्) परे होने पर वुक् (व्) का आगम होकर तथा प्रथम एकाच् (भूव्) को द्वित्व होकर 'भूव् भूव् अ' यह अवस्था हो जाती है।

६३०. पूर्व इति—यहाँ जो दो होने का विधान किया गया है इनमें पूर्व की अभ्यास संज्ञा होती है। [इससे पहिले 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होती है] ।

६३१। हलादिः शेषः ।७।४।६०॥

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपे।

६३२। ह्रस्वः ।७।४।५९॥

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात्।

६३३। भवतेरः ।७।४।७३॥

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अः स्याल्लिटि।

६३४। अभ्यासे चर्च ।८।४।५४॥

अभ्यासे झलां चरः स्युः जशश्च। झशां जशः खयां चर इति विवेकः।

---

६३१. हलादिरिति—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं।

इति वलोपे—यहाँ 'हलादि शेषः' सूत्र के अनुसार ऊकार सहित भकार (=भू) शेष रहता है और वकार का लोप हो जाता है।

६३२. ह्रस्व इति—अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है। [भू+भूव्+अ, इस अवस्था में अभ्यास जो 'भू' है उसके ऊकार को ह्रस्व उकार होता है]।

६३३. भवतेरिति—भवतेः+अः, यह पदच्छेद है, भवतेः=भू धातोः। भू धातु के अभ्यास के उकार को अकार (अ) होता है लिट् (लकार) परे होने पर। [भु+भूव्+अ, यहाँ अभ्यास के उकार को अकार होकर भ+भूव्+अ, यह दशा हो जाती है]।

६३४. अभ्यास इति—अभ्यास में झलों (झल् प्रत्याहार के वर्णों) को चर् (चर् प्रत्याहार के वर्ण) हो जाते हैं और जश् (जश् प्रत्याहार के वर्ण) भी।

झशाम् इति—यहाँ झशों (झश् प्रत्याहार के वर्णों) को जश् और खयों (खय् प्रत्याहार के वर्णों) को चर् होते हैं, यह निर्णय है। भाव यह है—अक्षरसमाम्नाय में 'झभञ्' के झ से लेकर 'हल्' के 'ल्' तक झल् प्रत्याहार है। इसमें वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और श् ष् स् ह् वर्ण आते हैं। इनमें से वर्गों के चतुर्थ तथा तृतीय वर्ण 'झश्' कहलाते हैं और केवल तृतीय 'जश्'। अतः वर्गों के चतुर्थ और तृतीय वर्ण को अभ्यास में तृतीय होता है। इसी प्रकार वर्गों के द्वितीय तथा प्रथम वर्ण खय् कहलाते हैं और प्रथम वर्ण तथा श् ष् स् ह् चर्। किन्तु यहाँ 'चर्' शब्द द्वारा केवल वर्गों के प्रथम वर्णों को ही लिया जाता है अतः वर्गों के द्वितीय तथा प्रथम

बभूव, बभूवतु, बभूवु ।

६३५ । लिट् च ।३।४।११५॥

लिडादेशस्तिङ आर्धधातुकसंज्ञ स्यात् ।

६३६ । आर्धधातुकस्येड्वलादे ।७।२।३५।।

वलादेरार्धधातुकस्य 'इट आगम स्यात् ।

वर्णों को प्रथम वर्ण हो जाते है । व्याकरण का नियम है कि पर्जन्यवत् लक्षणं प्रवर्तते' इसी हेतु यहाँ कहा गया है कि अभ्यास म तृतीय वर्ण को तृतीय और प्रथम को प्रथम भी होता है ।

यहाँ इस सूत्र से अभ्यास के भकार (झश्) को बकार (जश्) हो जाता है ।

बभूव—भू धातु से भूत-अनद्यन परोक्ष मे लिट् होता है । उसने प्रथम पुरुष एकवचन म 'भू + तिप् इस अवस्था मे 'परस्मैपदानाम्' इत्यादि सूत्र से 'ति' के स्थान पर णल् होकर 'भू + अ' इस स्थिति मे भुवो वुग् लुङ्लिटोः' से वुक् का आगम और 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' मे प्रथम एकाच् (भूव्) को द्वित्व हो जाता है । 'भूव् भूव् + अ' इस स्थिति म 'पूर्वोभ्यास' से प्रथम 'भूव् की अभ्यास संज्ञा होकर 'हलादि शेषः' से 'भु' मात्र शेष रहता है । उसके ऊकार को 'ह्रस्व' सूत्र से ह्रस्व उकार (अभ्यास कार्य) होकर भवतेर' से उकार के स्थान मे अकार हो जाता है । 'भ भू व् + अ' इस अवस्था म 'अभ्यासे चर्च' से भकार के स्थान मे बकार हो जाता है और 'बभूव' रूप होता है ।

बभूवतु—भू लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन मे 'तस्' के स्थान मे 'अतुस्' होकर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होता है 'ब भूव् अतुस्' यहाँ सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'बभूवतु' । इसी प्रकार लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन मे 'भू + उस्'—बभूवुः ।

६३५ लिडिति—लिट् के स्थान मे होने वाले तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है । [तिङ्शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३ से जो तिङ् की सार्वधातुक संज्ञा कही गई है, वह लिट् के आदेश तिङ् की नहीं होती, यह भाव है] ।

६३६ आर्धधातुकस्येति—वलादि (जिसके आदि मे 'वल्' होता है) आर्धधातुक को इट् का आगम होता है । ['भू थ' यहाँ 'थ' लिट् के स्थान मे होने वाला तिङ् है, यह वलादि है और आर्धधातुक भी अत इसे 'इट्' का आगम हो जाता है । इट् मे ट् (टकार) की इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है, यह 'टित्' है इसी से 'थ' के आदि मे होता है (आद्यन्तौ टकितौ) ।

वभूविथ, वभूवथुः, वभूव।
वभूव, वभूविव, वभूविम।

६३७। अनद्यतने लुट् ।३।३।१५॥
भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट्।

६३८। स्यतासी लृलुटोः ।३।१।३३॥
धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तः लृलुटोः परतः। शवाद्यपवादः। 'लृ' इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्।

वभूविथ—भू धातु से लिट् मध्यम पुरुष एकवचन में 'भू थ' इस अवस्था में 'थ' वलादि आर्धधातुक है, अतः 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् आगम होता है। 'भू इ थ' इस दशा में 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' से 'वुक्' का आगम, उकार और ककार की इत्संज्ञा तथा लोप हो जाने पर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'भूव्' को द्वित्व होकर 'भूव् भूव् इ थ' यहाँ अभ्यास कार्य (हलादि शेषः, ह्रस्वः) होकर 'भवतेरः' से उकार के स्थान में अकार होकर 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भकार को वकार हो जाता है तथा 'वभूविथ' रूप वनता है। इसी प्रकार—

लिट् मध्यम पुरुष द्विवचन में 'भू अथुस्'=वभूवथुः। वहुवचन में 'भू अ'= वभूव। उत्तम पुरुष एकवचन में 'भू अ'=वभूव। द्विवचन तथा वहुवचन में वलादि आर्धधातुक परे होने से 'इट्' का आगम होकर 'भू इ व'=वभूविव, 'भू इ म'= वभूविम रूप वनते हैं।

६३७. अनद्यतन इति—अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में धातु से लुट् लकार होता है। [अद्यतन का अर्थ है आज का, जो आज का न हो वह अनद्यतन। ऐसे भविष्यत् अर्थ में धातु से लुट् लकार होता है। इस लकार को 'श्वस्तन' और इससे वोधित क्रिया को 'श्वस्तनी' भी कहते हैं]।

६३८. स्यतासीति—धातु से स्य और तास् प्रत्यय होते हैं लृ लुट् परे होने पर। [यहाँ स्य, तासि दो हैं और लृ, लु भी दो ही हैं अतः क्रमशः लृ (लृट्, लृङ्) परे होने पर 'स्य' और लुट् परे होने पर 'तासि' प्रत्यय होता है। 'तासि' में इकार उच्चारण के लिये है। तास् शेष रहता है।

शवाद्यपवाद इति=यह (स्य तासि) विधि शप् आदि का अपवाद है। 'कर्तरि शप्' आदि से भिन्न-भिन्न गणों की धातुओं से परे जो शप् (श, श्नु...) आदि का विधान किया गया है, 'स्यतासी लृलुटोः' विधि द्वारा उन सभी का अपने क्षेत्र में वाध हो जाता है। अन्य कुछ स्थलों पर भी शप् आदि का वाध हो जाता है। अतः शप् आदि विकरण लट् लोट्, लङ् और विधिलिङ् तथा शित् प्रत्ययों में होते हैं।

६३९। आर्धधातुकं शेषः ।३।४।११४॥

तिङ्शिद्भ्योऽन्यः, धातो' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्। इट्।

६४०। लुटः प्रथमस्य डारौरसः ।२।४।८५॥

लुट प्रथमस्य डा-रौ रस् एते क्रमात् स्यु। डित्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोप। भविता।

लृ इति—सूत्र मे 'ल' शब्द से लृङ् और लृट दोनो लकारो का ग्रहण होता है; क्योकि दोनो मे लृ रूप समान ही है।

६३९. आर्धधातुकम् इति—तिङ् और शित् से भिन्न 'धातो' (=धातु से) इस अधिकार म विहित प्रत्यय आर्धधातुक सज्ञा वाले होते हैं।

टिप्पणी—धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छाया वा ३।१।७ यहां से अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'धातो' का अधिकार है, ये सभी प्रत्यय धातु से होते हैं। इन प्रत्ययो मे जो (तिप् आदि) तिङ् प्रत्यय हैं और शित् (शप् आदि) प्रत्यय हैं उनकी सार्वधातुक सज्ञा होती है किन्तु लिट् के आदेश तिङ् भी आर्धधातुक ही होते हैं, यह ऊपर कहा गया है। 'धातो' इस अधिकार मे विहित शेष सभी प्रत्यय आर्धधातुक कहलाते हैं। फलत स्य, तासि दोनो आर्धधातुक है।

इत्—तास् को इट् का आगम (आर्धधातुकस्येड्वलादे) होता है।

६४०. लुट इति—लुट् के प्रथम पुरुष (तिप् तस् झि) को क्रमशः डा, रौ और रस् हो जाते हैं।

डित्वसामर्थ्याद् इति—डित् करने के कारण भ सज्ञा न होने पर भी टि का लोप हो जाता है।

भवितास्—डा, यहां डा मे ड् (डकार) की इत् सज्ञा (चुटू) होकर लोप हो जाता है। डा प्रत्यय डित् है। इसके पर होने पर पूर्व की भ सज्ञा नही होती। क्योकि 'यचि भम् १।४।१८। से जो भ सज्ञा होती है वह स्वादि कप् पर्यन्त प्रत्यय परे होने पर ही होती है, डा तो उन प्रत्ययो मे नही आता। और भ सज्ञा के बिना 'टे: ६।४।१४३। सूत्र से टिलोप नही होता। तथापि डा को डित् किया गया है इसलिये 'भ' सज्ञा न होने पर भी यहां टिलोप हो जाता है, अन्यथा डित् करना ही व्यर्थ हो जायेगा।

१. भविता—भू लुट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे 'भू ति' इस दशा मे 'स्यतासी लृलुटो' इस सूत्र से 'तास्' प्रत्यय होता है। 'तास्' आर्धधातुक है और वलादि भी। अत इसे इट् का आगम होकर 'भू इ तास् ति' ऊकार को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयो) तथा ओ को अव् आदेश होकर 'भवितास् ति' यहां 'ति' को डा आदेश होता है।

६४१। तासस्त्योर्लोपः।७।४।५०॥

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे।

६४२। रि च।७।४।५१॥

रादौ प्रत्यये तथा।

—भवितारौ, भवितारः।

भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ।

भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।

६४३। लृट् शेषे च।३।३।१३॥

भविष्यदर्थाद् धातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्यां च।

डकार की इत्संज्ञा (चुटू) और लोप होने पर उपर्युक्त प्रकार से तास् में टि (आस्) का लोप हो जाता है तथा भविता रूप होता है।

६४१. तासस्त्योरिति—तास् (प्रत्यय) और अस् (धातु) का लोप होता है सकारादि प्रत्यय परे होने पर [अलोऽन्त्यस्य परिभाषा से यह लोप अन्तिम अल् (स्) का होता है]।

६४२. रि चेति—रादि (जिसके आदि में र् हो) प्रत्यय परे होने पर भी वैसा ही अर्थात् तास् और अस् का लोप होता है। इस प्रकार—

भवितारौ—भू धातु से लुट् प्रथम पुरुष द्विवचन में 'भू तस्' यहाँ 'भविता' के समान कार्य होकर 'भवितास्+तस्' इस अवस्था में तास् को रौ आदेश होता है और 'रि च' से तास् के स् (सकार) का लोप होकर 'भवितारौ' रूप होता है।

इसी प्रकार प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'भू झि' यहाँ भविता के समान कार्य होकर 'भवितास् झि' इस अवस्था में 'झि' को 'रस्' आदेश तथा 'रि च' से 'तास्' के सकार का लोप होकर रस् के सकार को रुत्व विसर्ग होते हैं।

भवितासि—भू धातु मध्यम पुरुष एकवचन में 'भू सि' यहाँ पूर्ववत् 'भवितास्+सि' हो जाता है और 'तासस्त्योर्लोपः' से 'तास्' के सकार का लोप होता है। द्विवचन में 'भवितास्+थः'=भवितास्थः; बहुवचन में 'भवितास्+थ'=भवितास्थ (यहाँ तास् के सकार का लोप नहीं होता)।

भवितास्मि—भू धातु लुट् उत्तम पुरुष एकवचन में 'भू मि' यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'भवितास्+मि' रूप होता है। द्विवचन में 'भवितास्+वस्'=भवितास्वः, बहुवचन में 'भवितास्+मस्'=भवितास्मः।

६४३. लृडिति—भविष्यत् अर्थ वाली धातु से लृट् लकार होता है, क्रियार्थक अन्य क्रिया होने पर और न होने पर भी।

यहाँ "भविष्यति गम्यादयः ३।३।३। से भविष्यति (=भविष्यत् में) शब्द की अनुवृत्ति आती है। क्रियार्था क्रिया उस क्रिया को कहते हैं जो दूसरी क्रिया के लिये की जाती है जैसे 'पठितुम् आगच्छति' (पढ़ने के लिये आता है), यहाँ आगमन क्रिया

इट्। भविष्यति, भविष्यत , भविष्यन्ति ।
भविष्यसि, भविष्यथ , भविष्यथ ।
भविष्यामि, भविष्याव , भविष्याम ।

६४४। लोट् च ।३।३।१६२॥
विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट स्यात् ।

६४५। आशिषि लिङ्लोटौ ।३।३।१७३।
आशिष्यपि लिङ्लोटौ स्त·। आशीः अप्राप्तेष्टप्राप्तीच्छा।

६४६। एरु ।३।४।८६॥
लोट इकारस्य उ.। भवतु।

पठन क्रिया के लिये है अत यह क्रियार्था क्रिया है तुमुन्ण्वुलौ क्रियाया क्रियार्थायाम् ३।३।१० यहाँ 'क्रियार्थाया क्रियायाम्' इस प्रकार कहा था। उससे भिन्न शेप' शब्द से क्रियायक क्रिया न होने पर (क्रियार्थाया क्रियायाम् असत्याम्) यह अर्थ निकलता है और चकार (च= और) से क्रियार्थक क्रिया होने पर (क्रियार्थाया क्रियाया सत्याम्) यह अर्थ निकलता है।

इट्—आर्धधातुकस्येड्वलादे से स्य' को इट का आगम होता है।

भविष्यति—भू धातु लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे भू + ति' यहाँ 'स्यतासी लृलुटो' से 'स्य' होता है। 'स्य' वलादि आर्धधातुक है अत 'आर्धधातुकस्येड्वलादे' से इट् का आगम होकर 'भू इ स्य ति' इस अवस्था म 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' से ऊकार को गुण (ओ), उसे 'अव्' आदेश होकर 'भव् इ स्य ति यह अवस्था होती है। 'आदेशप्रत्यययो' से सकार को षकार होकर 'भविष्यति' रूप होता है।

इसी प्रकार 'भविष्यत' आदि बनते हैं। 'भविष्यामि' इत्यादि उत्तम पुरुष के रूपो मे 'अतो दीर्घो यञि' से 'स्य' के अकार को दीर्घ हो जाता है।

६४४ लोट् चेति—विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् लकार होता है। [विधि आदि पूर्व सूत्र 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ।३।३।१६१। में कहे गये हैं। इनकी आगे व्याख्या की जायेगी।

६४५. आशिषति—'आशी' अर्थ मे भी धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं। अप्राप्त इष्ट वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को 'आशी' कहते हैं।

६४६ एरुरिति—लोट् (के आदेश 'ति' आदि) के इकार को उकार होता है। [सूत्र का पदच्छेद है—एः+उ, ए का अर्थ है इकार का (इकारस्य)।

भवतु—भू धातु से लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे लट् के समान 'भवति' रूप होता है। 'एरु' सूत्र से इकार के स्थान म उकार होकर 'भवतु' बनता है।

६४७। तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम् ।७।१।३५॥

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात् सर्वादेशः । भवतात् ।

६४८। लोटो लङ्वत् ।३।४।८५॥

लोटस्तामादयः सलोपश्च ।

६४९। तस्-थस्-थ, मिपां तां-तं-तामः ।३।४।१०१॥

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात् स्युः ।

भवताम् । भवन्तु ।

---

६४७. **तुह्योरिति**—आशीः अर्थ में (लोट् के) तु और हि को विकल्प से तातङ् हो जाता है ।

परत्वादिति—पर होने से 'सम्पूर्ण (तु तथा 'हि') को यह (तातङ्) आदेश होता है ।

भाव यह है—अष्टाध्यायी में सूत्रक्रम है—अलोऽन्त्यस्य ङिच्च, आदेः परस्य अनेकाल्शित् सर्वस्य १।१।५१–५४ । यहाँ 'ङिच्च' यह 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' का अपवाद है । फलतः जो आदेश ङित् हो और अनेकाल् (अनेक अल् वाला) भी हो वह 'ङिच्च' के अनुसार अन्त्य अल् को होना चाहिये, सम्पूर्ण के स्थान में नहीं । 'तातङ्' अनेकाल् तो है किन्तु ङित् है अतः अन्त्य अल् को ही होना चाहिये था । फिर भी सम्पूर्ण तु और हि के स्थान में होता है । क्यों ? तातङ् को गुण-वृद्धिनिषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये ङित् कर दिया गया है । इसका ङित् होना अन्य प्रयोजन के लिये चरितार्थ है । वस्तुतः यह 'अनेकाल्' आदेश है अतः 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण तु और हि के स्थान में तातङ् होता है ।

भवतात्—आशीः अर्थ में 'भव+तु' के सम्पूर्ण 'तु' के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश होता है । 'तातङ्' में ङकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, अकार उच्चारण के लिये है । अतः 'भवतात्' रूप होता है, पक्ष में 'भवतु' ।

६४८. **लोट इति**—लोट् को लङ् लकार के समान कार्य होते हैं । अतः ताम् आदि आदेश और सकार लोप होता है ।

६४९. **तस्थस् इति**—ङित् (ङकार है इत् जिनका ऐसे लङ् आदि) लकारों के तस्-थस्-थ और मिप्-इन चारों के स्थान मे क्रम से ताम्-तम्-त और अम् हो जाते हैं ।

[भू+तस्, यहाँ तस् को ताम् आदेश हो जाता है]

भवताम्—भू धातु से लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में (भू शप् तस्) भव+तस् इस अवस्था मे लङ्वत् कार्य होने से तस् के स्थान में 'ताम्' हो जाता है और भवताम् रूप होता है ।

६५० । सेर्ह्यपिच्च ।३।४।८७।।

लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च ।

६५१ । अतो हे ।६।४।१०५।।

अत परस्य हेर्लुक् ।

भव, भवतात् । भवतम् । भवत ।

६५२ । मेर्निः ।३।४।८९।।

लोटो मेर्निः स्यात् ।

६५३ । आडुत्तमस्य पिच्च ।३।४।९२।।

भवन्तु—लोट् बहुवचन मे 'झि' के 'झ' को 'अन्त' आदेश होकर शप्, गुण, अवादेश, पररूप होता है इस प्रकार भव+अन्ति यहाँ 'एरु' से इकार को उकार होकर 'भवन्तु' रूप होता है ।

६५० सेरिति—लोट् लकार के 'सि' के स्थान मे हि होता है और वह (हि) अपित् होता है । [अपित् होने से हि 'सार्वधातुकमपित् १।२।४' से ङित् के समान (ङिद्वत्) हो जाता है और इसे ङित् के समान ही कार्य होते हैं] ।

६५१. अतो हे—अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक् (लोप) होता है ।

टिप्पणी—भव+हि, यहाँ हि अदन्त अङ्ग से परे है अतः इसका लोप हो जाता है इस प्रकार भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि चारो गणो की धातुओं से परे हि का लोप होता है, किन्तु जहाँ 'हि' अदन्त अङ्ग से परे नही होता वहाँ इस सूत्र से लोप नही होता, जैसे देहि, स्तुहि आदि ।

भव—भू धातु से लोट् मध्यम पुरुष एकवचन मे 'भू+सिप्' यहाँ सि के स्थान मे हि' होकर शप, गुण, अवादेश होने पर भव+हि इस अवस्था मे 'अतो हेः' से हि का लोप् होता है और 'भव' रूप बनता है । पक्ष में हि के स्थान म तातङ् होकर 'भवतात्' रूप होता है ।

मध्यम पुरुष के द्विवचन मे भू थस् यहाँ थस् को 'तम्' आदेश होता है तथा शप् आदि होकर भवतम् । बहुवचन मे भवत ।

६५२. मेर्निरिति—लोट् के मि (मिप्) के स्थान मे नि होता है ।

६५२. आडिति—लोट् के उत्तमपुरुष (के प्रत्ययो) को आट् आगम होता है और वह पित् होता है ।

['आट्' मे 'आ' शेष रहता है । इसके पित् होने से 'स्तवाव' इत्यादि मे प्रत्यय को 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वद्भाव नही होता] ।

लोडुत्तमस्याट् स्यात्, पिच्च । भवानि ।

हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।

६५४ । नित्यं ङितः ३।४।९९॥

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः । अलोन्त्यस्येति सलोपः । भवाव, भवाम ।

६५५ । अनद्यतने लङ् ।३।२।१११॥

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् ।

लुङ्लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१॥

एष्वङ्गस्याट् ।

हिन्योरिति—हि और नि (के इकार) को 'एरुः' से 'उत्व' (उकार भाव) नहीं होता, क्योंकि हि और नि में इकार का उच्चारण किया गया है। यदि यहाँ इकार को उकार करना ही अभीष्ट होता तो हि, नि के स्थान में उकार वाला (हु आदि) ही उच्चारण करते । अतः रूप होता है—

भवानि—भू धातु से लोट् उत्तम पुरुष एकवचन में मिप् होने पर 'मि' को 'नि' आदेश होता है और उसे 'आट्' का आगम होता है । शप्, गुण, अवादेश होकर भव + आ नि → सवर्णदीर्घ होकर भवानि ।

६५४ नित्यमिति—ङित् लकारों के उत्तम पुरुष के सकारान्त (प्रत्यय) का नित्य लोप होता है । [यह सूत्र लङ् आदि में लगता है किन्तु 'लोट्' के लङ्वत् हो जाने से लोट् में भी लग जाता है ।]

अलोन्त्यस्य इति—अलोऽन्त्यस्य परिभाषा के अनुसार अन्त के सकार का लोप होता है । फलत —

भवाव—लोट् उत्तम पुरुष द्विवचन में भू + शप् + आट् + वस् → भवावस् इस दशा में 'लोटो लङ्वत्' हो जाने से सकार का लोप होकर भवाव रूप होता है। इसी प्रकार वहुवचन में 'भवाम' ।

७५५. अनद्यतने इति—अनद्यतन भूत अर्थ में होने वाली धातु से लङ् लकार होता है ।

[यहाँ भूते ३।२।८४ से भूते का अधिकार है । अनद्यतन का अर्थ है जो आज का न हो । अतः यदि क्रिया का प्रयोग आज के पहिले के भूतकाल के लिये करना हो तो लङ् लकार होता है । आज के भूत में लङ् लकार नहीं होता, यह अभिप्राय है] ।

६५६. लुङ् इति—इन (लुङ् लङ् और लृङ्) के परे होने पर अङ्ग को अट् का आगम होता है।

[अट् में टकार की इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है । टित् होने से यह अङ्ग के आदि में आता है ।]

६५७ इतश्च । ३।४।१००॥

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्, तदन्तस्य लोपः।

अभवत्, अभवताम् अभवन्।

अभवः, अभवतम्, अभवत।

अभवम्, अभवाव, अभवाम।

६५८। विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ।३।३।१६१॥

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

टिप्पणी—लङ् आदि में अट् (आट्) का आगम कब होता है ? इस विषय में भाष्य में दो मत मिलते हैं—(१) तिप् शप् गुण, अवादेश आदि करने पर अट् का आगम होता है। (२) लावस्था में ही अट् हो जाता है।

६५७ इतश्चेति—ङित् (लङ आदि) लकार का आदेश जो परस्मैपद इकारान्त (तिप् आदि) है, उसके अन्त का लोप हो जाता है।

अभवत्—भू धातु के लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में भू + लङ् अट् होकर अ भू लङ्। लङ् के स्थान में तिप् तथा शप् गुण, अवादेश होकर 'अभव + ति' इस अवस्था में 'ति' के इकार का 'इतश्च' से लोप हो जाता है और 'अभवत्' रूप बनता है।

अभवताम्—प्रथम पुरुष द्विवचन में 'अ भू शप् (तस्) ताम्' यहाँ गुण तथा अव् आदेश होता है।

अभवन्—भू धातु के लङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में अट् होता है तथा 'भवन्ति' के समान अन्य कार्य होकर अ भव अन्ति इस दशा में 'इतश्च' से इकार का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होकर अभवन् रूप होता है।

अभवः इत्यादि—लङ् मध्यम पुरुष एकवचन में अ भू शप् सिप्→अ भव सि होकर इकार लोप तथा स् को रुत्व विसर्ग हो जाते हैं। द्विवचन में अ भू थस् इस दशा में थस् को तम् आदेश, शप्, गुण और अव् आदेश होकर अभवतम्। बहुवचन में अ भू थ→को त आदेश शप्, गुण और अव् आदेश होकर अभवत।

अभवम् इत्यादि—लङ् उत्तम पुरुष एकवचन में अ भू मिप्→मिप् को अम् आदेश होकर शप्, गुण और अव् आदेश होने पर अ भव अम् इस दशा में 'अतो गुणे' से पररूप (अ + अ = अ) होकर अभवम्। द्विवचन में अभव वस् यहाँ 'अतो दीर्घो यञि' से वकार के पूर्ववर्ती अकार को दीर्घ होता है तथा अन्त के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में अभव मस् = अभवाम।

६५८ विधीति—इन विधि आदि अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।

विधि का अर्थ है प्रेरणा, आज्ञा अपने से छोटे भृत्य आदि को किसी कार्य में

६५६। यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ।३।४।१०३॥
लिङः परस्मैपदानां यासुड्-आगमः, उदात्तो ङिच्च ।

६६०। लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ।७।२।७९॥
सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते—

६६१। अतो येयः ।७।२।८०॥
अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय् । गुणः ।

६६२। लोपो व्योर्वलि ।६।१।६६॥
वलि वकारयकारयोर्लोपः। भवेत्, भवेताम्,

करने के लिये प्रवृत्त करना । निमन्त्रण का अर्थ है आवश्यक श्राद्धभोजन आदि में दौहित्र (बेवते) आदि को बुलाना । इसमें आज्ञा का भाव नही होता किन्तु उसके अनुसार कार्य करना होता है । आमन्त्रण का अर्थ है प्रेरणा देकर यथेच्छ कार्य करने की अनुमति देना। अधीष्ट का अर्थ है किसी को आदरपूर्वक किसी कार्य में लगाना जैसे किसी अध्यापक से निवेदन करना कि आप इस बालक को पढ़ा दें । यह करना है या नही, इस प्रकार निश्चय करने के लिये प्रश्न करना संप्रश्न है, जैसे क्या मैं व्याकरण पढ़ूँ? प्रार्थना कहते हैं याचना को; जैसे आप मुझे यह पुस्तक दे दें । इन सभी में प्रवर्तना का भाव है अतः भट्टोजि दीक्षित का कथन है—प्रवर्तनायां लिङ् इत्येव सुवचम्
(सि० कौ० सूत्र १६६३)

६५६. यासुड् इति—लिङ् के परस्मैपद (प्रत्ययों) को यासुट् का आगम होता है, वह उदात्त एव ङित् होता है ।

[यासुट् में टकार की इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है, उकार उच्चारण के लिये है। टित् होने से यह तिप् आदि के आदि में होता है और इसे ङित् कहने से इसके परे होने पर गुण-वृद्धि आदि नही होते ।]

६६०. लिङ इति—सार्वधातुक लिङ (लकार) के अन्त में न होने वाले (अनन्त्य) सकार का लोप होता है। इस सूत्र से 'भव यास् त्' इस अवस्था में 'यास्' के सकार का लोप प्राप्त होता है । किन्तु—

६६१ लिङ इति—अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक के अवयव 'यास्' को इय् होता है। इससे यास् के स्थान मे इय् हो जाता है ।

गुण इति—भव इय् 'त्' यहाँ अ + इ = ए, (आद्गुणः) गुण हो जाता है। भवेय् त् इस दशा में—

६६२. लोप इति—वल् परे होने पर वकार तथा यकार का लोप होता है। इससे य् लोप होकर—

६६३। झेर्जुस ।३।४।१०८॥

लिङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयुः।

भवेः, भवेतम्, भवेत।

भवेयम् भवेव, भवेम।

६६४। लिङ् आशिषि ।३।४।११६॥

आशिषि लिङस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

६६५। किद् आशिषि ।३।४।१०४॥

भवेत—भू धातु के लिङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में भू + ति यहाँ इतश्च से इकार लोप होता है, शप् गुण अवादेश होकर 'भव त्' लिङ् के आदेश तिप् (त्) को यासुट् का आगम होकर लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य को बाधकर 'अतो येयः' से याम् को इय् हो जाता है। 'भव इय् त्' इस अवस्था में 'आद्गुणः' से गुण, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार लोप होकर भवेत् रूप बनता है।

इसी प्रकार प्रथम पुरुष द्विवचन में 'भू तस्' → भू शप् 'यास् ताम्' → भव इय् ताम् → भवेताम्।

६६३. झेर्जुस् इति—लिङ् के झि को 'जुस्' होता है। (जुस् में ज् इत्संज्ञक है)।

भवेयुः—भू धातु लिङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में भू + झि', यहाँ झेर्जुस् से झि के स्थान में जुस् (उस्) होकर, शप्, गुण, अवादेश होकर 'भव उस्' यासुट् होकर 'भव यास् उस्' इस अवस्था में 'यास' अथवा या के स्थान में 'इय्' आदेश होकर गुण होकर अन्तिम सकार को रुत्व विसर्ग होते हैं।

भवेः—भू धातु के लिङ् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में 'भू शप् यासुट् सिप् → भवेत् के समान कार्य होकर स् को रुत्व विसर्ग होते हैं। द्विवचन में भव इय् तम् — भवेतम्, बहुवचन में भव इय् त — भवेत।

भवेयम्—लिङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में 'भू शप् यासुट् मिप्', मिप् को अम् (तस्थस्थमिपाम् ताम्तन्ताम) होकर भव इय् अम् — भवेयम्। द्विवचन में भव इय् वस् → भवेव, बहुवचन में भव इय् मस् → भवेम।

६६४. लिङिति—आशीर्लिङ् के स्थान में होने वाले तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

[यह सार्वधातुक संज्ञा का अपवाद है अतः आशिषि लिङ् में सार्वधातुक के साथ शप् आदि नहीं हुआ करते।]

६६५. किदिति—आशीर्लिङ् को होने वाला यासुट् कित् होता है।

आशिषि लिङो यासुट् कित् ।

'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः ।

६६६ । क्क्ङिति च ।१।१।५।।

गित्-कित्-ङित् निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः ।

भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः ।

भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त ।

भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ।

स्कोरिति—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' सूत्र से भू यास् त् इस अवस्था में सकार का लोप हो जाता है ।

६६६. क्क्ङिति चेति—गित्, किम् और ङित् प्रत्यय के निमित्त से होने वाले इग्लक्षण गुण और वृद्धि नहीं होते ।

टिप्पणी—(१) इस सूत्र में 'इको गुण वृद्धि १।१।३।। का सम्बन्ध होता है, उस सूत्र का अर्थ है—गुण, वृद्धि शब्दों से जहाँ गुण-वृद्धि का विधान किया जाता है वहाँ वे इक् के स्थान में होते हैं ।

'न धातुलोप आर्धधातुके १।१।४।। से न की अनुवृत्ति होती है । (२) सूत्र में ग्, क् और ङ् का समाहार द्वन्द्व है । क् से पूर्व गकार है जिसे चर्त्व होकर क् हो गया है ।

भूयात्—भू धातु से आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन में तिप् होकर 'इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होता है । यहाँ तिङ् के आर्धधातुक होने से शप् नहीं होता । यासुट् होकर भू यास् त् इस अवस्था में 'सुट् तिथोः से सुट् होता है जिसमें 'स्' शेष रहता है 'भू यास् स् त्' यहाँ सार्वधातुक न होने से सलोप तथा इय् आदेश नहीं होता । यासुट् के 'कित्' हो जाने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः से प्राप्त होने वाले गुण का 'क्क्ङिति च' से निषेध हो जाता है । 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से दोनों सकारों का लोप होकर 'भूयात, रूप होता है ।

इसी प्रकार द्विवचन में भू यास् ताम् (तस्) भूयास्ताम् और बहुवचन में भू यास् उस् (=झि) भूयासुः रूप होते हैं ।

भूयाः—भू धातु के आशिषि लिङ् मध्यम पुरुष एकवचन में 'भू यास् स् (सिप्)' स् लोप होकर अन्तिम स् को रुत्व विसर्ग हो जाते हैं । द्विवचन में भू यास् तम् (=थस्)→भूयास्तम्ः । 'बहुवचन में 'भूयास् त...(थ)→भूयास्त ।

भूयासम्—भू धातु आशिषि लिङ् उत्तम पुरुष एकवचन में 'भू यास् अम् (=मिप्)→भूयासम् । द्विवचन में 'भू यास् वस्' 'नित्यं ङितः' से वस् के सकार का लोप होकर भूयास्व । इसी प्रकार बहुवचन में भूयास्म ।

६६७। लुङ् ।३।२।११०॥

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्।

६६८। माङि लुङ् ।३।३।१७५॥

सर्वलकारापवादः।

६६९। स्मोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६॥

स्मोत्तरे माङि लङ् स्यात् चात् लुङ्।

६७०। च्लि लुङि ।३।१।४३॥

शबाद्यपवादः।

६७१। च्लेः सिच् ।३।१।४४॥

इचावितौ।

६७२। गातिस्था घु पा भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७॥

एभ्यः सिचो लुक् स्यात्। 'गा-पौ' इह इणादेशपिबती गृह्येते।

---

६५७ लुङ् इति—भूत अर्थ में धातु से लुङ् होता है (लुङ् सामान्यभूत में होता है)।

६६८. माङीति—माङ् (मा) के प्रयोग में धातु से लुङ् होता है। यह लुङ् सब लकारों का बाधक है। भाव यह है कि माङ (मा) के प्रयोग में सभी लकारों को बाधकर लुङ् हुआ करता है (टीका ग्रन्थों में इस कथन की विस्तृत व्याख्या की गई है)।

६६९. स्मोत्तर इति—माङ् से स्म (अव्यय) परे हो तो माङ् के प्रयोग में लङ् होता है और लुङ् भी (विशेष द्रष्टव्य टीका ग्रन्थ)।

६७०. च्लि इति—लुङ् परे होने पर धातु से च्लि प्रत्यय होता है।

शबादीति—च्लि शप् आदि का बाधक है। [आदि शब्द से श्यन् श आदि विकरणों का ग्रहण होता है]।

६७१ च्लेरिति—च्लि को सिच् हो जाता है। सिच् में इकार और चकार की इत्संज्ञा है [इन का लोप होकर 'स्' शेष रहता है]।

६७२. गातिस्थेति—गा (गाति), स्था, घु संज्ञक (दा, धा रूप), पा और भू धातुओं से परे 'सिच्' का लुक् होता है परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर। इस सूत्र में (इह) 'गा' से इण् के स्थान में होने वाली 'गा' और 'पा' से पा पाने (पिब) का ग्रहण होता है।

६७३। भूसुवोस्तिङि ।७।३।८८॥

'भू, सू' एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न।

अभूत्, अभूताम्, अभूवन्।

अभूः, अभूतम्, अभूत।

अभूवम्, अभूव, अभूम।

६७४। न माङ्योगे ।६।४।७४॥

अडाटौ न स्तः। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत्। मा स्म भूत्।

---

६७३. भूसुवोरिति—भू तथा सू इन धातुओं को सार्वधातुक तिङ् परे होने पर गुण नही होता। [इस सूत्र में 'मिदेर्गुणः ७।३।८२' से 'गुण' शब्द की और नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति होती है। अ भू त् इस अवस्था में सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से जो गुण प्राप्त होता है, उसका इस सूत्र से निषेध हो जाता है]।

1) अभूत्—भू धातु से लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'भू + लुङ्' यहाँ 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अट् होता है और लुङ् के स्थान में तिप्। 'भू + ति इस अवस्था में 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ भूत्' यहाँ 'च्लि लुङि' 'च्लेः सिच्' हो जाता है। 'अभू स् त्' इस अवस्था में 'गातिस्था घुपाभूभ्यः' सूत्र से सिच् के सकार का लोप होकर 'सार्वधातुक०' इत्यादि सूत्र से प्राप्त गुण का 'न भूसुवोस्तिङि' से निषेध हो जाता है तथा अभूत् रूप बनता है।

2. प्रथमपुरुष के द्विवचन में अभूस् ताम् → सिच् लोप अभूताम्। बहुवचन में अ भू अन्ति (झि) यहाँ च्लि, सिच्, सिच् लुक् तथा इकार लोप (इतश्च) और तकार का संयोगान्त लोप हो जाता है। 'अ भू अन्' यहाँ 'भुवो वुग् लुङ्लिटो.' से वुक् का आगम होकर 'अभूवन्' रूप होता है।

अभूः—लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन में 'अ भू सिप्' अभूत् के समान कार्य होकर 'अ भू स्' इस अवस्था में सकार को रुत्व विसर्ग होते हैं। मध्यमपुरुष द्विवचन में 'अ भू ताम् (थस्) = अभूताम्। और बहुवचन में 'अ भू त (थ)' = अभूत। (6)

(7) अभूवम्—लुङ् उत्तमपुरुष एकवचन में 'अ भू मिप्' मि के स्थान में अम् होकर च्लि, सिच्, सिच्-लुक् हो जाने पर 'अ भू अम्' यहाँ 'भूवो वुग् लुङ्लिटोः' से 'वुक्' का आगम होकर 'अभूवम्' रूप होता है। द्विवचन में 'अ भू वस्' = अभूव (8) पहिले के समान कार्य होकर स् का लोप (नित्यं ङितः) होता है। इसी प्रकार बहुवचन में अभूम। (9)

६७४. न माङ्योग इति—माङ् (मा) के योग में अट् और आट् नहीं होते। मा भवान् भूत्—यहाँ 'माङि लुङ् से लुङ् लकार होता है। किन्तु लुङ् के

६७५। लिङ्‌निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ।३।३।१३९॥

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्‌निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् ।

(सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत्, तदा सुभिक्षम् अभविष्यत् इत्यादि) ।

अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन् ।

अभविष्य:, अभविष्यतम्, अभविष्यत ।

अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम ।

गद व्यक्तायां वाचि ॥२॥ गदति ।

रूपों में अट् का आगम नहीं होता, अतः 'मा भूत्' यह रूप होता है। इसी प्रकार 'मा स्म भवत्' इत्यादि में लङ् लकार में अट् नहीं होता।

६७५. **लिङ्‌निमित्त इति**—लिङ् का निमित्त (=हेतुहेतुमद् भाव आदि) होने पर भविष्यत् अर्थ में धातु से लृङ् लकार होता है, यदि क्रिया की असिद्धि (अनिष्पत्ति) प्रतीत होती हो। जैसे—

सुवृष्टिश्चेद् इति—यदि (भविष्य में) अच्छी वर्षा हो जाती तो सुकाल (सुभिक्ष) हो जाता। यहाँ यदि केवल 'हेतुहेतुमद्भाव' प्रकट करना होता तो इस प्रकार का प्रयोग किया जाता 'सुवृष्टिश्चेद् भवेत्, तदा सुभिक्षं भवेत्'। इसमें 'सुवृष्टि' हेतु है और 'सुभिक्ष' उससे होने वाला कार्य (=हेतुमत्) है। अतः यहाँ हेतुहेतुमद्भाव है और 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' ३।३।१५६। से लिङ् लकार होता है। किन्तु जब ज्योतिष विद्या या ऋतुविज्ञान आदि के द्वारा पहिले से ही यह ज्ञात हो गया है कि भविष्य में अच्छी वर्षा (सुवृष्टि) नहीं होगी, तब क्रिया की असिद्धि (क्रियातिपत्ति) होगी तथा लिङ् का निमित्त (=हेतुहेतुमद्भाव) होने पर लृङ् लकार हो जाता है। लृङ् लकार का रूप है -अभविष्यत्।

अभविष्यत्—भू धातु के लृङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अट् होता है तथा लृङ् के स्थान में तिप् होकर उसके इकार का इतश्च से लोप हो जाता है। अन्य कार्य 'भविष्यति' के समान होते हैं अ भू इ स्य त् गुण, अवादेश, षत्व → अभविष्यत्। द्विवचन में अट् तस् को ताम् होकर 'अ भू ताम्' स्य, इट् गुण, अवादेश, षत्व होकर **अभविष्यताम्**। बहुवचन में अट्, झि को अन्ति, इकारलोप संयोगान्त लोप 'अभू अन्' स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व होकर **अभविष्यन्**।

अभविष्य:—लृङ् मध्यम पुरुष एकवचन में अट् सिप् इकार लोप, अ भू स्' यहाँ स्य, इट्, गुण अवादेश, षत्व तथा अन्तिम सकार को रुत्व और विसर्ग होकर अभविष्य:। द्विवचन में अ भू इ स्य थस् (=तम्)=अभविष्यतम्। बहुवचन में अ भू इ स्य थ (=त)=अभविष्यत।

६७६। नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ।८।४।१७॥

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य नेर्णो गदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

६७७। कुहोश्चुः ।७।४।६२॥

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः ।

६७८। अत उपधायाः ।७।२।११६॥

उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे।

जगाद, जगदतुः, जगदुः।

जगदिथ, जगदथुः, जगद।

अभविष्यम् – लृङ् उत्तम पुरुष एकवचन में अ भू मिप् (=अम्)→अ भू इ स्य अम् इस अवस्था में पूर्ववत् अन्य कार्य होकर 'स्य+अम्' यहाँ 'अतो गुणे' से पररूप होता है। द्विवचन अभविष्याव तथा बहुवचन अभविष्याम में वस्, मस् के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप होता है तथा स्य के अकार को 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होता है। शेष प्रक्रिया पहिले रूपों के समान है।

गदति—गद धातु स्पष्टवाणी अर्थात् मनुष्यों की बोली के अर्थ में है। गद् धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में तिप् शप् होकर गद्+अ+ति→गदति। शेष रूप भी इसी प्रकार होंगे।

६७६. **नेर्गद-इति**—उपसर्ग में स्थित निमित्त (र् ष) से परे 'नि' (उपसर्ग) के नकार को णकार होता है गद् आदि धातु परे होने पर। जैसे—

प्राणिगदति—प्र+नि+गदति, यहाँ प्र उपसर्ग में रेफ (र) है जो णत्व का निमित्त है उससे परे जो 'नि' उपसर्ग है उसके नकार को णकार हो जाता है।

६७७. **कुहोरिति**—अभ्यास के क वर्ग और हकार को च वर्ग हो जाता है। [यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७।४।५८' से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति होती है। क वर्ग के प्रथम वर्ण को च वर्ग का प्रथम, द्वितीय को द्वितीय इत्यादि क्रम से होते हैं तथा हकार को झकार होता है।]

६७८. **अत इति**—उपधा के अत् (अकार) को वृद्धि होती है ञित् तथा णित् प्रत्यय परे होने पर।

जगाद—गद् धातु के लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में गद्+तिप्→तिप् के स्थान में णल्। णल् में णकार और लकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। गद्+अ इस अवस्था में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व, पूर्वोऽभ्यासः, हलादि शेषः होकर ग+गद्+अ इस अवस्था में कुहोश्चुः से अभ्यास के गकार को जकार (कवर्ग के तृतीय वर्ण को चवर्ग का तृतीय) होता है तथा णित् प्रत्यय (णल्) परे होने से गद् की उपधा के अकार को वृद्धि (आकार) 'जगाद' रूप होता है।

६७९। णल उत्तमो वा ।७।१।९१॥

उत्तमो णल् वा णित् स्यात् ।

जगाद-जगद । जगदिव । जगदिम ।

गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गद्यात् ।

६८०। अतो हलादेर्लघो ।७।२।७॥

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि ।

अगादीत्-अगदीत् । अगदिष्यत् ।

इसी प्रकार प्रथम पुरुष द्विवचन में जगद्+अतुस्=जगदतु । बहुवचन मे जगद्+उस=जगदु । मध्यम पुरुष के एकवचन मे 'आर्धधातुकस्येड्वलादे' से इट् का आगम होकर जगद्+इ थ=जगदिथ । म० पु० द्विवचन मे जगद्+अथुस्=जगदथु और बहुवचन मे जगद्+अ=जगद । थ का आदेश 'अ' णित् नही है अत इसके परे होने पर उपधा को वृद्धि नही होती ।

६७९ णल् इति—उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है। [गोतो णित् ७।१।९०। से णित् की अनुवृत्ति होती है, जब यह णित् होता है तो वृद्धि हो जाती है, पक्ष में वृद्धि नही होती] जैसे—

जगाद-जगद—गद् धातु के लिट् उत्तम पुरुष एकवचन मे पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर जगद्+अ (णल्) इस अवस्था मे जब प्रत्यय को णित् माना जाता है तब 'अत उपधायाः' से अकार को वृद्धि 'आ' होती है अन्यथा वृद्धि नही होती । उत्तम पुरुष द्विवचन मे जगद्+इ (इट्) व=जगदिव और बहुवचन मे जगद्+इ+म=जगदिम ।

शेष लकारों के रूप पहिले के समान है जैसे लुट् मे गद्+इ (इट्)+तास् डा=गदिता आदि । लृट् मे गद्+इ+स्य ति=गदिष्यति आदि । लोट् मे गद्+अ (शप्) तु=गदतु आदि । लङ् मे अ (अट्) गद्+अ (शप्) त्=अगदत् आदि । विधि-लिङ् मे गद्+अ (शप्)+इय् (यासुट्) त्=गदेत् आदि । आशिषि लिङ् मे गद्+यास्+त्=गद्यात् आदि ।

६८०. अत इति— हलादि (अङ्ग) के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि होती है इडादि परस्मैपदपरक सिच् परे होने पर। [यहाँ 'ऊर्णोतेर्विभाषा' ७।२।६। से विभाषा (=वा) की अनुवृत्ति होती है] ।

अगादीत्-अगदीत्—गद् धातु से लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन मे अट् तिप् इकार लोप होकर 'अ गद् त्' यहाँ च्लि, च्लि को सिच्, सिच् को 'आर्धधातुकस्येड्वलादे' से इट् होकर 'अ गद् इ स् त्' इस अवस्था मे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६। से सिच् से परे वाले अपृक्त (त्) को 'ईट्' का आगम होता है और अ गद् इ स् ई त् इस दशा मे

व्रज गतौ ॥३॥

व्रजति । वव्राज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु ।

अव्रजत् । व्रजेत् । व्रज्यात् ।

६८१ । **वदव्रजहलन्तस्याचः ॥७।२।३॥**

एषामचो वृद्धि. सिचि परस्मैपदेषु ।

अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् ।

इडादि परस्मैपद सिच् परे होने पर 'अतो हलादेर्लघोः' से गद् के अकार को विकल्प से वृद्धि (आ) होकर अ गाद् इ स् ई त्→'इट ईटि' से सिच् का लोप होकर अगादीत् । पक्ष में (वृद्धि न होने पर) अगदीत् ।

अगदिष्यत्—गद् धातु लृङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अ गद् इ स्य त्= अगदिष्यत् । इसी प्रकार अन्य रूप भी होंगे ।

व्रज इति—व्रज् धातु गमन (जाना) अर्थ में है । इसके रूप हैं—

व्रजति—व्रज् धातु से लट् प्रथम पुरुष एकवचन में व्रज्+अ (शप्)+ति→ व्रजति । लिट् प्र० पु० एक० में व्रज्+णल्→व व्रज् अ 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर, वव्राज । लुट् प्र० पु० एक० में व्रज् इ (इट्) ता (तास्+डा)→व्रजिता । लृट् प्र० पु० एक० में व्रज् इ (इट्) स्य ति=व्रजिष्यति । लोट् प्र० पु० एक० में व्रज् अ (शप्) तु =व्रजतु । लङ् प्र० पु० एक० में अ (अट्) व्रज् अ (शप्) त्=अव्रजत् । विधि लिङ् प्र० पु० एक० में व्रज् अ (शप्) इय् (यासुट्) त्=व्रजेत् । आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० में व्रज् या (यासुट्) त्=व्रज्यात् ।

६८१. **वदव्रजेति**—वद, व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि होती है परस्मैपदपरक सिच् परे होने पर ।

टिप्पणी—यहाँ 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' ७।२।१। की अनुवृत्ति होती है । यद्यपि हलन्त होने से 'वद व्रज' को भी वृद्धि हो सकती है तथापि 'अतो हलादेर्लघोः' ७।२।७। इस विकल्प के वाध के लिये इनका ग्रहण किया गया है ।

अव्राजीत्—व्रज् धातु से लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अट्, तिप्—इकार लोप होकर 'अ व्रज् त्' इस अवस्था में च्लि-सिच्, इट् (आर्धधातुकस्येड्वलादेः) और ईट् (अस्तिसिचोऽपृक्ते) होकर 'अ व्रज् इ स् ई त्'→'इट इटि' से सिच् का लोप होता है और 'वद व्रज०' आदि सूत्र से व्रज् के अकार को वृद्धि 'आ' होकर 'अव्राजीत्' रूप बनता है । इसी प्रकार अन्य रूप भी होंगे ।

अव्रजिष्यत्—लृङ् प्र० पु० एकवचन में अ व्रज् इ स्य त् ।

गुपू रक्षणे ॥४॥

६८२। गुपू धूप-विच्छि पणि पनिभ्य आय. ।३।१।२८॥

एभ्यः 'आय' प्रत्यय. स्यात् स्वार्थे ।

६८३। सनाद्यन्ता धातवः ।३।१।३२॥

सनादय कमेर्णिङन्ता प्रत्यया अन्ते येषा ते धातुसञ्ज्ञका. ।

धातुत्वाल्लडादय । गोपायति ।

६८४। आयादय आर्धधातुके वा ।३।१।३१॥

आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्यु ।

(वा) कास्यनेकाज्च 'आम्' ववतव्य. ।

गुपू—गुप् धातु रक्षा करना अर्थ मे है । यहाँ अन्त के ऊकार की इत्सज्ञा होकर लोप हो जाता है । अत यह ऊदित् है ।

६८२. गुपू इति—इन (गुपू, धूप्, विच्छ, पण्, पन्) धातुओ से 'आय' प्रत्यय होता है, स्वार्थ मे (अर्थात् आय प्रत्यय के लगने से इन धातुओ के अर्थ मे परिवर्तन नही होता केवल रूप मे ही होता है) ।

६८३ सनाद्यन्तेति—सन् आदि कमेर्णिङ् पर्यन्त प्रत्यय जिनके अन्त मे होते है उनकी धातु सज्ञा होती है ।

टिप्पणी—गुप्तिज्किद्भ्य सन् ३।१।५। सूत्र से सन् प्रत्यय का विधान किया गया है । यहाँ से आगे कहे गये प्रत्यय सनादि (सन् है आदि मे जिनके) हैं । इसी प्रकरण मे 'कमेर्णिङ्' ३।१।३०। सूत्र से 'णिङ्' प्रत्यय का विधान किया गया है । इस सूत्र तक के सभी प्रत्यय सनादि प्रत्यय हैं । ये जिनके अन्त मे हों उनकी (प्रत्ययसहित) धातु सज्ञा होती है ।

धातुत्वादिति—धातु सज्ञा होने से 'लट्' लकार आदि हो जाते है ।

गोपायति—गुप् धातु से स्वार्थ मे आय प्रत्यय होकर 'गुप् आय' (आय प्रत्यय अदन्त है) इस अवस्था मे आय प्रत्यय के आर्धधातुक होने से गुप् के उकार को 'पुगन्त-लघूपधस्य च' से गुण (ओ) होता है । गोपाय की 'सनाद्यन्ता धातव ' से धातु सज्ञा हो जाने से लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे तिप् शप् होकर 'गोपाय अ ति' इस दशा मे यकार से परवर्ती अकार का आगे वाले अकार से मिलकर 'अतो गुणे' से पररूप हो जाता है और 'गोपायति' रूप होता है ।

६८४. आयादय इति—आर्धधातुक (प्रत्यय) की विवक्षा मे धातु से आय आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।

कास्यनेकाच इति—कास् धातु और अनेकाच् धातुओ से आम् प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये ।

आस्कासोराम्विधानात् मस्य नेत्वम् ।

६८५ । अतो लोपः ।६।४।४८॥

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोप आर्धधातुके ।

६८६ । आमः ।२।४।८१॥

आमः परस्य लुक् ।

६८७ । कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि ।३।१।४०॥

आमन्तात् लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि ।

६८८ । उरत् ।७।४।६६॥

अभ्यास ऋवर्णस्यात् स्यात् । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार ।

भाव यह है : पाणिनि का सूत्र है—'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५। इस सूत्र के द्वारा लिट् में आम् प्रत्यय का विधान किया गया है वार्तिककार का कहना है कि सूत्र के 'प्रत्यय' शब्द के स्थान में 'अनेकाच्' शब्द रखना चाहिये ।

आस्कासोरिति—आस् और कास धातु को आम् प्रत्यय का विधान करने से 'आम्' के मकार (म्) की इत्संज्ञा नहीं होती ।

[यदि 'आम्' में म् की इत्संज्ञा होती तो यह 'मित्' होता और आस्, कास् धातु में 'आ' के परे आता (मिदचोऽन्त्यात्परः) तब सवर्णदीर्घ करने पर 'आस्' 'कास्' ज्यों के त्यों रहते 'आम्' का विधान ही व्यर्थ होता । इससे ज्ञात होता है कि आम् के म् की इत्संज्ञा नहीं होती है] ।

६८५. अतो लोप इति—आर्धधातुक के उपदेश के समय जो अदन्त (अकारान्त अङ्ग) है, उसके अकार का लोप होता है, आर्धधातुक परे होने पर ।

[गोपाय + आम्, यहाँ यकार से परे वाले अकार का लोप हो जाता है] ।

६८६. आम इति—आम् से पर वाले (लिट्) का लुक् (लोप) हो जाना है ।

कृञिति—आमन्त (जिसके अन्त में आम् हो) से लिट् परक (जिनके परे लिट् हो ऐसी) कृ, भू तथा अस् का अनुप्रयोग होता है । उन (अनुप्रयुक्त) कृ आदि को 'द्वित्व' आदि होते हैं ।

टिप्पणी—सूत्र में कृञ् प्रत्याहार है जिससे कृ, भू, अस्, तीन धातुओं का ग्रहण होता है ।

६८८. उरद् इति—अभ्यास के ऋवर्ण (ऋकार) को अत् (अकार) हो जाता है ।

वृद्धिरिति—गोपायाम् कृ कृ अ (णल्) इस अवस्था में पहिले कृ के ऋकार को अत् होता है, रपर होकर कृ को कर् हो जाता है 'पूर्वोभ्यासः' हलादिशेषः से 'क' शेष रहता है जिसे कुहोश्चुः से च हो जाता है। दूसरे 'कृ' को वृद्धि (अचोञ्णिति ७।२।११५) होकर 'कार्' रूप हो जाता है । इस प्रकार

द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते—

६८६। द्विर्वचनेऽचि।१।१।५९॥

द्वित्वनिमित्तेऽपि अच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये। गोपायाञ्चक्रतु । गोपायाञ्चक्रुः ।

गोपायाञ्चकार—लिट् (आर्धधातुक) की विवक्षा मे 'गुप्' धातु से आय प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'गोपाय' धातु हो जाती है। इससे लिट् लकार होने पर 'गोपाय लिट्' अनेकाच् धातु होने से 'आम्' प्रत्यय होता है 'गोपाय आम् लिट्' 'आम्' की 'आर्धधातुक शेष' से आर्धधातुक संज्ञा है अतः इसके परे होने पर यकार से परवर्ती अकार का लोप (अतो लोप) हो जाता है और 'आम' सूत्र से लिट् का लुक् (लोप) होकर गोपाय्+आम्- गोपायाम् यह अवस्था हो जाती है। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट् परक कृ का अनुप्रयोग तथा कृ को द्वित्व, होकर गोपायाम् कृ कृ अ (णल्) इस दशा मे 'उरत्' से अभ्यास के ऋकार को 'उरण्रपरः' के सहकार से रपर अकार (अर्) होकर 'हलादि शेष' मे 'क' शेष रहता है। उत्तर खण्ड के कृ के ऋकार को वृद्धि (आर्) होकर अभ्यास के ककार को 'कुहोश्चु' मे चकार होता है और 'गोपायाम् चकार' इस अवस्था मे मकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, उस अनुस्वार को 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण (ञ्) होकर 'गोपायाञ्चकार' रूप होता है।

द्वित्वाद् इति—द्वित्व की अपेक्षा पर होने से यण् प्राप्त होने पर। लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन (तथा बहुवचन) मे 'गोपायाम् कृ अतुस्' इस अवस्था मे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८।' से द्वित्व प्राप्त होता है और 'इको यणचि ६।१।७४।' से यण् प्राप्त होता है। यण् विधायक सूत्र पर है, अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से यण् होना चाहिये यह प्राप्त होता है। इस पर—

६८६. द्विर्वचनेऽचीति—द्वित्व का निमित्त जो अच् उसके परे होने पर अच् को आदेश नहीं होता यदि द्वित्व करना हो। इसलिये यहाँ द्वित्व से पहिले यण् नहीं होता।

गोपायाञ्चक्रतु—सनाद्यन्त धातु गोपाय से लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन में 'गोपाय् आम् कृ अतुस्' इस अवस्था मे 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट के कित् हो जाने के कारण गुण नहीं होता। तब द्वित्व तथा यण् दोनो प्राप्त होते हैं। 'द्विर्वचनेऽचि' से यण् पहिले नहीं होता, द्वित्व होकर 'गोपाय् आम् कृ कृ अतुस्' अभ्यास मे उरत्, रपर, हलादि शेष, ककार को चकार होकर उत्तरखण्ड मे कृ को यण् होता है 'गोपायाम् चक्रतुस्'→यहाँ सकार को रुत्व विसर्ग होकर पूर्ववत् 'गोपायाञ्चक्रतु'। इसी प्रकार बहुवचन में 'गोपायाञ्चक्रुः'।

६९०। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ।७।२।७०॥

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येण् न।
ऊद्-ऋदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः॥
अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम्।
गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र।
गोपायाञ्चकार–गोपायाञ्चकर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम।
गोपायाम्बभूव। गोपायामास (इत्यादि)।
जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः।

---

६९०. एकाच इति—उपदेश मे जो धातु एकाच और अनुदात है उससे परे आर्धधातुक को इट् नही होता।

कौन धातु उपदेश में एकाच् तथा अनुदात्त है? यह निम्न पंक्तियों में संग्रह किया गया है—

ऊदिति—ऊकारान्त, ऋकारान्त तथा यु, रु, क्ष्णु, शी, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्, वृञ् (१८) धातुओं को छोड़कर अन्य अजन्त धातुएँ अनुदात्त (=निहताः) कही गई हैं।

अनुदात्ता इति—हलन्त धातुओं में १०३ धातुएँ अनुदात्त हैं।

[शक्लृ से लेकर वह् तक १०३ धातुएँ लघुकौमुदी में गिनाई गई है]।

कृ धातु भी एकाच् तथा अनुदात्त है, अतः इससे परे 'थल्' को इट् नहीं होता; जैसे—

गोपायाञ्चकर्थ—गोपाय धातु के मध्यम पुरुष एकवचन में पूर्ववत् गोपायाम् च कृ थ' इस अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से जो इट् प्राप्त होता है उसका 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध होता है और 'गोपायाञ्चकर्थ' रूप होता है। द्विवचन में गोपायाम् च कृ अथुस् = **गोपायाञ्चक्रथुः**। बहुवचन में गोपायाम् च कृ अ=यण् होकर **गोपायाञ्चक्र**।

गोपायाञ्चकार–गोपायाञ्चकर—गोपाय धातु के उत्तम पुरुष एकवचन में 'गोपायाम् च कृ अ (णल्) 'णलुत्तमो वा' के अनुसार णल् विकल्प से णित् होता है तब ऋ को वृद्धि होकर गोपायाञ्चकार, पक्ष में गोपायाञ्चकर। द्विवचन में 'गोपायाम् च कृ व' बहुवचन में गोपायाम् च कृ म।

गोपायाम्बभूव—गोपाय धातु से प्र० पु० एक० में भू का अनुप्रयोग होने पर गोपायाम्बभूव और अस् का अनुप्रयोग होने पर गोपायाम् अ अस् अ (णल्) वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ होकर **गोपायामास**।

जुगोप—गुप् धातु से लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'गुप् लिट्'। लिट् आर्धधातुक है, अतः 'आयादय आर्धधातुके वा' से आय प्रत्यय विकल्प से होता है।

६६१। स्वरति-सूति-सूयति धूञूदितो वा ।७।२।४४॥

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा।

जुगोपिथ, जुगोप्थ।

गोपायिता, गोपिता, गोप्ता। गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति। गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत्। गोपाय्यात्, गुप्यात्। अगोपायीत्।

आय के अभाव मे गुप् अ (णल्) इस दशा मे द्वित्व अभ्यासकार्य 'पुगन्तलघूपधस्य च' से उकार को गुण (ओकार) होकर जुगोप। द्विवचन मे जुगुप् अतुस्=जुगुपतु। बहुवचन मे जुगुप् उस्= जुगुपु। (यहाँ लिट् के कित् होने से गुण नही होता)।

६६१. स्वरतीति—स्वृ, षूङ, धूञ तथा ऊदित् (ऊत् अर्थात् दीर्घ ऊकार है इत्सञ्ज्ञक जिनका) धातुओ मे परे वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है।

जुगोपिथ जुगोप्थ—गुप् धातु से लिट् मध्यम पुरुष एकवचन म आय के अभाव मे 'जुगुप् थ' इस अवस्था म 'स्वरति०' इत्यादि सूत्र से विकल्प से इट् होता है, क्योकि 'गुपू' धातु ऊदित् है। इट् पक्ष मे गुण होकर जुगोपिथ, इट् न होने पर गुण होकर जुगोप्थ।

गोपायिता-गोपिता गोप्ता—गुप् धातु से लुट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे आय होने पर 'गोपाय इट् तास्' डा→गोपाय इ ता='अतोलोप' मे अकार लोप होकर गोपायिता। आय न होने पर इट् पक्ष मे गुप् इ ता, लघूपध गुण गोपिता। इट् न होने पर गोप्ता रूप होता है।

गोपायिष्यति-गोपिष्यति-गोप्स्यति—गुप् धातु से लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे आय होने पर इट् होकर गोपायिष्यति, आय के अभाव मे इट् होकर गोपिष्यति और इट् न होने पर गोप्स्यति।

गोपायतु—गुप धातु से लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे गुप् आय शप् तु—गोपायति के समान। लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् सार्वधातुक लकारो म आय नित्य ही होता है, अत आय वाला रूप ही हुआ करता है, अन्य नही। फलत लङ् मे अगोपायत्, विधिलिङ् मे गोपायेत्।

गोपाय्यात् गुप्यात्—'गुप्' आशिषि लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन मे विकल्प से आय होकर 'गुप् आय यास् (यासुट्) त्'→आय के अकार का लोप (अतो लोप) होने पर गोपाय्यात्। पक्ष मे 'गुप् यास् त्' यासुट् के किदाशिषि से कित् होने से गुण नही होता स् का लोप होकर गुप्यात्।

अगोपायीत्—गुप् धातु के लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे आय होने पर 'अ गोपाय इट् सिच् ईट् त्' इस स्थिति मे अकार-लोप तथा सिच्-लोप होकर अगोपायीत्। आय न होने पर—

६६२। नेटि ।७।२।४॥

इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न। अगोपीत्। अगौप्सीत्।

६६३। झलो झलि ।८।१।२६॥

झलः परस्य सस्य लोपो झलि।

—अगौप्ताम् अगौप्सुः।

अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त।

अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म।

अगोपायिष्यत्—अगोपिष्यत्—अगोप्स्यत्।

पा पाने ॥५॥

---

६६२. नेटि—इडादि (इट् है आदि में जिसके) सिच् परे होने पर हलन्त (धातु के अच्) को वृद्धि नहीं होती। [इस सूत्र से 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का निषेध होता है]।

अगोपीत्–अगौप्सीत्—लुङ् में आय न होने पर 'अ गुप् स् त्' ऊदित होने से इट् विकल्प से होता है। इट् पक्ष में 'नेटि' से हलन्तलक्षणा वृद्धि का निषेध हो जाने पर पुगन्तलघूपधस्य च से गुण होता है। अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट् होकर 'इट् ईटि' से सिच् लोप होकर 'अगोपीत्' रूप बनता है। इट् के अभाव में 'अ गुप् स् ईट् त्' 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि (उकार को औकार) होकर अगौप्सीत् रूप होता है।

६६३. झल इति—झल से परे स् का लोप होता है झल् परे होने पर।

अगौप्ताम्—गुप् धातु के लुङ् प्रथम पुरुप द्विवचन में 'आय' के अभाव में इट् न होने पर 'अ गुप् स् (सिच्) ताम्' वृद्धि होकर झलो झलि से सकार का लोप होने पर अगौप्ताम्। इसी प्रकार वहुवचन में अ गौप् स् झि सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९। से 'झि' को जुस् (उस्) होकर 'अगौप्सुः' रूप होता है।

अगौप्सीः—लुङ् मध्यम पुरुप एकवचन में 'अ गौप् स् ई (ईट्) स्=अगौप्सीः। द्विवचन में 'अ गौप् स् तम्' सिच् लोप अगौप्तम्। वहुवचन में 'अ गौप् स् त'= अगौप्त।

अगौप्सम्—गुप् लुङ् उत्तम पुरुप एकवचन में आय तथा इट् के अभाव में मि=अम् होकर वृद्धि होकर 'अ गौप् स् अम्'=अगौप्सम्। द्विवचन में 'अ गौप् स् व'=अगौप्स्व। वहुवचन में 'अ गौप् स् म'= अगौप्स्म।

अगोपायिष्यत्–अगोपिष्यत्–अगोप्स्यत्—गुप् लृङ् प्रथम पुरुप एकवचन में 'स्य' (आर्धधातुक) होता है अतः 'आय' प्रत्यय विकल्प से होकर अ गोपाय इट् स्यत्। आय के अभाव में इट् होने पर लघूपध गुण होकर अगोपिष्यत्। आय तथा इट् के अभाव में गुण होकर अगोप् स्यत्= अगोप्स्यत्।

पा—धातु पीना (पान) अर्थ में है।

६६४। पा घ्रा-ध्मा स्था-म्ना दाण दृश्यर्ति-सर्ति--शद--सदां पिब--जिघ्र--धम तिष्ठ-मन यच्छ-पश्य-ऋच्छ-धौ शीय सीदा ।७।३।७८॥

पादीनां पिबादयः स्युः, इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे।

पिबादेशो अदन्तः, तेन न गुणः। पिबति।

६६५। आत औ णलः ।७।१।३४॥

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ।

६६६। आतो लोप इटि च। ६।४।६४॥

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः।

पपतुः। पपुः। पपिथ पपाथ पपथुः, पप। पपौ पपिव, पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत। पिबेत्।

---

६६४ पाघ्रेति—पा आदि धातुओं के स्थान पर 'पिब' आदि हो जाते है, इत्संज्ञक शकारादि (श है आदि मे जिसके) प्रत्यय परे होने पर।

पिबादेश इति— पिब आदेश अकारान्त (अद् अन्ते यस्य) है। इसलिये गुण नही होता।

[पिब + अ (शप्) ति' यहां बकार से परे भी अकार (ब् + अ = ब) है अतः उपधा मे इकार नही मिलता और लघूपध गुण नही होता]।

पिबति—पा (पाने) धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे 'पा तिप्' शप् होने पर पाघ्राध्मा॰ इत्यादि सूत्र से पा को 'पिब' आदेश होकर 'पिब अ ति' पिब के अकारान्त होने से गुण नही होता तथा बकार से परे वाले अकार को शप् के अकार के साथ 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'पिबति' रूप होता है।

६६५ आत इति—अकारान्त धातु से परे णल् के स्थान मे 'औ' आदेश हो जाता है।

पपौ—पा (पाने) धातु से लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन मे 'पा + णल्' यहाँ 'आत औ णल' से णल् को 'औ' होकर द्वित्व, अभ्यास ह्रस्व होने पर प + पा + औ इस अवस्था मे वृद्धिरेचि से आ + औ = औ होकर पपौ रूप होता है।

६६६ आतो लोप इति—अजादि (अच् है आदि मे जिनके) कित्, ङित् आर्धधातुक प्रत्यय तथा इट् (आगम) परे होने पर (धातु के) आकार का लोप होता है।

पपतु—पा लिट् प्रथम पु॰ द्विवचन मे 'प पा अतुस्' यहां अतुस् प्रत्यय लिट् का आदेश होने से आर्धधातुक है और 'असंयोगाल्लिट्' कित् भी है, यह अजादि है अतः 'आतो लोप इटि च' से पा के आकार का लोप होकर पप् अतुस् = पपतुः। इसी प्रकार बहुवचन मे प पा उस् पपुः।

पपिथ पपाथ—लिट् मध्यम पुरुष एकवचन मे थल् परे होने पर भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् होकर ऊपर के सूत्र से आकार का लोप होकर पपिथ। इट्

६६७ । एर्लिङि । ६।४।६७॥

घुसंज्ञकानां मा-स्थादीनां च एत्वं स्यात्, आर्धधातुके किति लिङि। पेयात् ।

गातिस्था' इति सिचो लुक्, अपात्, अपाताम् ।

६६८ । आतः ३।४।११०॥

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् ।

६६९ । उस्यपदान्तात् । ६।१।९३॥

अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः । अपुः । अपास्यत् ।

न होने पर पपाथ । द्विवचन में प पा अथुस् = पपथु । बहुवचन नें 'पपा अ' आकार लोप पप । पपौ—उत्तम पुरुष एकवचन में पपा णल् (औ) = पपौ । द्विवचन में 'पपा इव = पपिव । बहुवचन मे प पा इम = पपिम । (यहाँ इट् परे होने पर आकारलोप होता है) ।

पाता—लुट् प्रथम पुरुष एकवचन में पा तास् डा = पाता । लृट् में पास्यति लोट् में 'पा शप् तु' पा को पिव होकर पिवतु । लङ् में 'अ पा शप् त्' पिव आदेश होकर अपिवत् । विधि लिङ् में 'पा अ (शप्) यास् त्' पा को पिव यास् को इय्, गुण, य लोप होकर पिवेत् ।

६६७. एर्लिङीति—घुसंज्ञक धातुओं को तथा मा स्था आदि (गा, पा, हा सा) को एत्व (अन्त को एकार) होता है आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर ।

पेयात्—पा धातु के आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन में पा यास् स् (सुट्) त्' यहाँ यासुट् 'किदाशिषि' से कित् है यह लिङ् का आगम है और अशिषि लिङ् आर्धधातुक भी है अतः 'एर्लिङि' से पा के आ को एकार हो जाता है । दोनों सकारों का लोप (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च) होकर पेयात् । इसी प्रकार पेयास्ताम्, पेयासुः इत्यादि रूप होते हैं ।

अपात्—पा धातु के लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन में 'अ पा सिच् त्' इस अवस्था में 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' से सिच् का लुक् (लोप) हो जाता है । द्विवचन में 'अ पा सिच्–ताम्' = अपाताम् । बहुवचन में 'अ पा सिच् झि', यहाँ सिच्–लुक् होने पर—

६६८. आत इति—सिच् का लुक् (लोप) होने पर आकारान्त से परे ही 'झि' को जुस् होता है (अन्य को नहीं) ।

६६९. उस्यपदान्ताद् इति—अपदान्त के अवर्ण से परे उस् होने पर पररूप एकादेश होता है । [यहाँ 'आद् गुणः' ६।१।८७ से आद् = अवर्णात् की और 'एङि पररूपम् ६।१।९४' से पररूप की अनुवृत्ति हो रही है]

श्रु श्रवणे ॥६॥

७०० । श्रुवः शृ च । ३।१।७४॥

श्रुव 'शृ' इत्यादेश, श्नु प्रत्ययश्च । शृणोति ।

७०१ । सार्वधातुकमपित् । १।२।४॥

अपित् सार्वधातुक ङिद्वत् । शृणुत ।

७०२ । हुश्नुवो. सार्वधातुके । ६।४।८७॥

अपु —लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन म 'अ पा सिच् झि' इस दशा म सिच् लुक् होकर झि को उस् (जुस्) होकर 'अ पा उस्' इस अवस्था म 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होता है।

अपास्यत्—लृङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन म अ पा स्य त् ।

'श्रु' इति—'श्रु' धातु 'सुनना' अर्थ म है।

७०० श्रुव इति—श्रु धातु को (कर्तरि सार्वधातुक परे होने पर) 'शृ' आदेश होता है और श्नु प्रत्यय भी।

[यह श्नु प्रत्यय शप् का अपवाद है अत कर्तरि सार्वधातुक मे होता है। फलत लट्, लोट, लङ् और विधिलिङ् म ही यह होता है और इसके साथ ही श्रु को शृ हुआ करता है।]

शृणोति—श्रु धातु से लट् प्रथम पुरुष एकवचन मे श्रु को शृ आदेश और श्नु प्रत्यय (विकरण) होकर 'शृ नु ति' इस अवस्था मे तिप् के निमित्त से 'नु' के उकार को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयो) हो जाता है। श्नु ङिद्वत् है अत इसके निमित्त से 'शृ' को गुण नही होता। 'शृ नो ति' यहाँ नकार को णकार (ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम्, वा०) होकर शृणोति रूप होता है।

७०१ सार्वधातुकमिति—अपित् (जिसका पकार इत् सज्ञक न हो) सार्वधातुक ङित् के समान होता है। ङित् परे होने पर जो कार्य होते हैं वे ही इसमे भी हो जाते हैं]।

शृणुत—श्रु लट् प्रथम पुरुष द्विवचन मे शृ आदेश तथा श्नु होकर शृ नु तस्' यहाँ 'तस्' अपित् सार्वधातुक है अत 'ङिद्वत्' हो जाता है और इसके निमित्त से 'शृ' के उकार को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयो) नही होता। पूर्ववत् णत्व होकर रूप बनता है।

७०२. हुश्नुवोरिति—हु धातु और अनेक अच् वाले श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग के असयोगपूर्व (जिससे पूर्व सयोग नही होता) उवर्ण को यण् होता है अजादि सार्वधातुक परे होने पर।

[यहाँ इणो यण् ६।४।८१ से यण् की 'अचि श्नु०' ६।४।७७। से 'अचि' की 'एरनेकाच: ६।४।८२। मे 'अनेकाच—असयोगपूर्वस्य' की और 'ओ सुपि ६।४।८३। से 'ओ' की अनुवृत्ति होती है]

हुश्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके। शृण्वन्ति। शृणोपि, शृणुथः, शृणुथ। शृणोमि।

७०३। लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः।६।४।१०७॥

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा म्वोः परयोः। शृण्वः—शृणुवः, शृण्मः—शृणुमः।

शुश्राव, शश्रुवतु, शुश्रुवुः। शुश्रोथ, शुश्रुवथुः, शुश्रुव। शुश्राव—शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम।

श्रोता। श्रोप्यति। शृणोतु—शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु।

शृण्वन्ति—श्रु लट् प्रथम पुरुप वहुवचन ने शृ आदेश तथा श्नु होकर 'शृ नु अन्ति (झि) इस अवस्था मे सार्वधातुकार्धधातुकयोः से जो गुण प्राप्त होता है उसका अन्ति के ङिद्वत् हो जाने से निपेध हो जाता है। और 'अचि श्नु०' आदि सूत्र से जो उवङ् प्राप्त होता है उसे बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् (उ=व्) हो जाता है। इस प्रकार शृण्वन्ति रूप होता है।

शृणोपि—श्रु मध्यमपुरुप एकवचन में शृ नु सि→गुण, णत्व, पत्व। द्विवचन में 'शृ नु थस्'→थस् के ङिद्वत् होने से गुण नहीं होता, णत्व तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर शृणुथः। वहुवचन में शृ नु थ=शृणुथ।

शृणोपि—उत्तम पुरुप एकवचन में 'शृ नु मि' गुण, णत्व=शृणोमि।

७०३. लोपश्चेति—जिससे पहले संयोग न हो ऐसे प्रत्यय के उकार का लोप होता है विकल्प से म, व परे होने पर।

शृण्व.—शृणुवः—श्रु धातु उत्तम पुरुप द्विवचन में शृ नु वस् इस अवस्था में वस् के ङिद्वत् होने से 'नु' को गुण रहीं होता 'लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः' से विकल्प से उकार का लोप होकर, णत्व होकर शृण्वः', पक्ष में शृणुवः। इसी प्रकार वहुवचन में '**शृण्मः—शृणुमः**'।

शुश्राव—श्रु लिट् प्रथम पु. एक० में 'श्रु णल्' द्वित्व, 'हलादिः शेपः' 'शु श्रु अ' इस दशा में 'अचोऽञ्णिति' वृद्धि (उकार को औकार) आवादेश होकर शुश्राव। द्विवचन में शु श्रु अतुस्, वहुवचन में शु श्रु उस्→उवङ् होकर शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः।

शुश्रोथ—म० पु० ए० में शु श्रु थ' इट् नहीं होता, सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होकर शुश्रोथ। द्विवचन में शुश्रु अथुस्=शुश्रुवथुः। वहुवचन में शुश्रु अ= शुश्रुव।

शुश्राव—शुश्रव—उ० पु० एक० में णल् के णित् होने पर वृद्धि, आव् होता है अन्यथा गुण और अव्। द्विवचन में शुश्रुव, वहुवचन में शुश्रुम।

श्रोता—लुट् प्र० पु० एक० में 'श्रु तास् डा'→गुण टि लोप होकर श्रोता।

श्रोप्यति—लृट् प्र० पु० एक० में 'श्रु स्य ति' गुण, पत्व होकर श्रोप्यति।

शृणोतु—शृणुतात्—लोट् प्र० पु० एक० में श्नु प्रत्यय और 'शृ' आदेश

७०४। उतश्च प्रत्ययाद् असंयोगपूर्वात् ।६।४।१०६॥

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययाद् उतो हेर्लुक् । शृणु–शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । गुणावादेशौ–शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम ।

अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन् । अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत । अशृणवम्, अशृण्व अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः । शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात । शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम ।

श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ।

आदि 'शृणोति' के समान कार्य होते हैं एवं 'स' इकार को उकार होता है । तातङ् के ङित् होने से नु को गुण नहीं होता । द्विवचन में शृ नु ताम्=शृणुताम्, बहुवचन में शृ नु अन्तु शृण्वन्तु ।

७०४. उतश्चेति—जिससे पूर्व संयोग न हो ऐसे प्रत्यय के उकार से परे 'हि' को लुक् (लोप) हो जाता है ।

टिप्पणी—सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार वृत्ति है—असंयोगपूर्वो यो प्रत्ययोकारः, तदन्ताद् अङ्गात् परस्य हेर्लुक् स्यात् ।

शृणु-शृणुतात्—लोट् म० पु० एक० में 'शृ नु हि' इस अवस्था में 'हि' का लुक् होकर णत्व होकर 'शृणु' । तु को तातङ् होने पर शृनु तात्=शृणुतात् । द्विवचन में शृ नु तम्=शृणुतम्, बहुवचन में शृणुत ।

शृणवानि—लोट् उ० पु० एक० में 'शृ नु नि (मिनि), यहाँ 'आडुत्तमस्य पिच्च' से पित् आट् का आगम होता है, गुण, अव् आदेश, णत्व होकर शृणवानि । द्विवचन में 'शृ नु आट् व'=शृणवाव, बहुवचन में 'शृ नु आट् म=शृणवाम ।

अशृणोत्—लङ् प्र० पु० एक० में 'अ शृ नु' इकार लोप, गुण, णत्व आदि कार्य होते हैं । अशृणुम तक लङ् के अन्य रूप हैं जिनमें लट् के रूपों के समान कुछ कार्य होते हैं ।

शृणुयात्—विधि लिङ् प्र० पु० एक० में 'शृ नु यासुट् त्'=शृणुयात् इत्यादि शृणुयाम पर्यन्त विधि लिङ् के रूप हैं ।

श्रूयात्—आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० में श्रु यासुट् (सुट्) त्–'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५। से धातु के उकार को दीर्घ होकर श्रूयात् ।

अश्रौषीत्—लुङ् प्र० पु० एक० में अ (अट्) श्रु स् (सिच्) ईट् ;'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से धातु के उकार को वृद्धि (औ) होकर षत्व होकर अश्रौषीत् ।

गम्लृ गतौ ॥७॥

७०५। इषुगमियमां छः ।७।३।७७॥

एषां छः स्यात् शिति। गच्छति।

जगाम।

७०६। गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि ।६।४।९८॥

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति, न त्वङि। जग्मतुः, जग्मुः। जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म। जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम। गन्ता।

७०७। गमेरिट् परस्मैपदेषु ।७।२।५८॥

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

अश्रोष्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० में 'अ श्रु स्य त्'=गुण, षत्व अश्रोष्यत्।

गम्लृ इति—गम् धातु गति (जाना) अर्थ में है। [यहाँ 'लृकार' की इत् संज्ञा होकर लोप होता है अतः यह लृदित है।]

७०५. इषुगमि इति—इष्, गम् और यम् इन धातुओं (के अन्त) को छकार होता है शित् प्रत्यय परे होने पर।

गच्छति—गम् धातु के लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में गम् शप् तिप्→ गम् अ ति इस अवस्था में शित् प्रत्यय (शप्) पर है अतः गम् के मकार को छकार होता है। 'गछ् अ ति' यहाँ 'छे च' से 'तुक्' होकर तकार को श्चुत्व (च) होकर गच्छति। इसी प्रकार गच्छतः, गच्छन्ति आदि।

जगाम—लिट् प्रथम पुरुष एकवचन में द्वित्व अभ्यास कार्य 'ज गम् अ' 'अत उपधायाः' से अकार को वृद्धि (आकार) होकर जगाम।

७०६. गमहनेति—गम्, हन्, जन्, खन् और घस् इन धातुओं की उपधा का लोप होता है अजादि (अच् है आदि में जिसके ऐसा) कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर, किन्तु अङ् प्रत्यय परे होने पर लोप नहीं होता है।

जग्मतुः—गम् लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन में 'ज गम् अतुस्' यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' से अतुस् कित् है अतः गम् की उपधा के अकार का लोप होकर जग्मतुः। इसी प्रकार जगम् उस्=जग्मुः।

जगमिथ-जगन्थ—मध्यम पुरुष एकवचन में 'ज गम् थल्' यहाँ भारद्वाज नियम से इट् विकल्प से होता है—जगमिथ। पक्ष में मकार को अनुस्वार (नश्चापदान्तस्य झलि) और परसवर्ण (अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः) होकर जगन्थ'-द्विवचन में ज गम् अथुस्→उपधा लोप, जग्मथुः। बहुवचन में 'ज गम् अ'—उपधा लोप, जग्म।

जगाम-जगम—उत्तम पुरुष एकवचन का णल् विकल्प से णित् है। णित् होने पर वृद्धि जगाम। पक्ष में जगम। द्विवचन में जगम् इट् तथा उपधालोप होकर जग्मिव। इसी प्रकार जग्मिम। इन दोनों में क्रादि नियम से नित्य इट् होता है।

७०८। पुषादि-द्युतादि-लृदितः परस्मैपदेषु।३।१।५५॥

श्यन्विकरणपुषादेः, द्युतादेः, लृदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्।

इति (भ्वादिगणे) परस्मैपदिनः।

टिप्पणी—संक्षेप में (१) भारद्वाज नियम है—जो धातु अजन्त है या अकार वाली है और तास् में नित्य अनिट् है उससे थल (लिट् मध्यम पुरुष एकवचन) में विकल्प से इट् होता है। इस प्रकार की ऋकारान्त धातु थल् में सदा अनिट् होती है। (२) क्रादि नियम है कृ आदि (कृ सृ भृ वृ आदि) धातु से अन्य अनिट् धातु को भी लिट् (व, म) में इट् होता है। इस विषय में कारिका है—

> अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेड् अयम्।
> ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्, क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥

गन्ता—गम् लुट् प्रथम पुरुष एकवचन में गम्+तास् डा→टि लोप मकार को अनुस्वार, परसवर्ण होकर गन्ता।

७०८ गमेरिड् इति—गम् धातु से परे सकारादि (सकार है आदि में जिसके ऐसे) आर्धधातुक को इट् का आगम होता है परस्मैपद में।

गमिष्यति—गम् लृट् प्रथम पुरुष एकवचन में गम् स्य ति इस अवस्था में गम् धातु के अनिट् होने से इट् प्राप्त नहीं था। गमेरिट्० सूत्र से इट् होता है 'गम् इ स्य ति' सकार को षकार (षत्व) होता है।

गच्छतु—लोट् प्रथम पुरुष एकवचन में गच्छति के समान कार्य होकर इकार को उकार होता है।

अगच्छत्—लङ् प्रथम पुरुष एकवचन में अट्, शप्, छत्व।

गच्छेत्—विधि लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन में गम् शप् यासुट्, त्, छत्व।

गम्यात्—आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन में गम् यासुट् (सुट्) त्।

पुषादीति—पुष् आदि (दिवादि गण की जिन से श्यन् विकरण हुआ करता है), द्युत् आदि तथा लृदित् (जिनका लृकार इत्संज्ञक होता है) धातुओं से परे 'च्लि' प्रत्यय को अङ् होता है परस्मैपद में। [गम्लृ धातु लृदित् है, अङ् में 'अ' शेष रहता है।]

अगमत्—गम् धातु से लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अ गम् च्लि त् इस अवस्था में 'च्लि' को सिच् आदेश प्राप्त होता है उसे बाधकर 'पुषादि०' सूत्र से अङ् हो जाता है→अ गम् अ त्=अगमत्।

अगमिष्यत्—लृङ् प्रथम पुरुष एकवचन में अ गम् इट् स्य त्=अगमिष्यत्।

इस प्रकार भ्वादिगण की परस्मैपदी धातुएँ समाप्त होती हैं।

अथ आत्मनेपदिनो धातवः

एध वृद्धौ ।

७०९ । टित आत्मनेपदानां टेरे ।३।४।७९।।

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।

७१० । आतो ङितः ।७।२।८१।।

अतःपरस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात् । एधेते । एधन्ते ।

७११ । थासः से ।३।४।८०।।

टितो लस्य थासः से स्यात् ।

आत्मनेपदिनो धातव इति—अब भ्वादिगण की आत्मनेपदी धातुएँ आरम्भ होती हैं ।

जैसा कि दिखलाया जा चुका है, जिस धातु का अनुदात्त अच् इत्संज्ञक होता है (अनुदात्तेत्) अथवा जिसका ङकार इत् संज्ञक होता है, वह धातु आत्मनेपदी होती है, उससे परे लकार को त आताम् झ आदि आदेश हुआ करते है (अनुदात्तङित आत्मनेपदम्) ।

एध्, इति—एध धातु वृद्धि अर्थ में है । इसका धकार से परे वाला अकार अनुदात्त है और उसकी इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है । अतः यह आत्मनेपदी है ।

७९९. टित इति—टित् (जिसका टकार इत्संज्ञक है) लकार के आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' को ए हो जाता है । [अचोऽन्त्यादि टि से टि संज्ञा की गई है ।]

एधते—एध् धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में लट् के स्थान में 'त' आदेश होकर 'एध् त' कर्तरि शप् से शप् 'एध् अ त' यहाँ टित् लकार (लट्) का आत्मनेपद का प्रत्यय जो 'त' है उसकी टि (अकार) को 'ए' होकर एध् अ ते = एधते ।

आत इति—अकार से परे ङित् (जिनका ङकार इत् संज्ञक है) प्रत्ययों के आकार को 'इय्' आदेश होता है ।

एधेते—एध् लट् प्रथम पुरुष द्विवचन में 'एध् अ (शप्) आताम्' इस अवस्था में 'आताम्' के आदि के आकार को 'आतो ङित' सूत्र से 'इय्' हो जाता है ('आताम् प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वत् माना गया है) । 'एध् अ इय् ताम्' यहाँ गुण (अ+इ=ए), 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप तथा प्रत्यय की टि (आम्) को ए होकर एधेते । इसी प्रकार बहुवचन में एध् अ अन्त (झ), यहाँ टि को एकार तथा अ+अन्ते यहाँ पररूप होकर एधन्ते ।

थास इति—टित् (जिसका टकार इत्संज्ञक है) लकार के 'थास्' को 'से' हो जाता है ।

एधसे, एधेथे, एधध्वे।

अतो गुणे—एधे, एधावहे एधामहे।

७१२। इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६॥

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यः तत आम् स्याल्लिटि।

७१३। आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ।१।३।६३॥

आम्प्रत्ययो यस्मात् इति, अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम्।

एधसे—एध् म० पु० एक० 'एध् थास् शप्, थास् के स्थान में 'से' आदेश→एध्+अ से=एधसे। द्विवचन में 'एध् अ आथाम्' ङित् होने से प्रथम 'आ' को इय्, गुण (ए) य् लोप तथा टि को एत्व होकर एधेथाम्। बहुवचन में 'एध् अ ध्वम्' टि को एत्व→एधध्वे।

एधे—उ० पु० एक० में इट् प्रत्यय और शप् होकर 'एध् अ इ' टि को एत्व, अतो गुणे से पररूप होकर एधे। द्विवचन में एध् अ वहि→अतो दीर्घो यञि' से अ को दीर्घ (आ) तथा वहि के इकार को एकार (टि को एत्व) होकर एधावहे। इसी प्रकार एधामहे।

७१२. इजादेश्चेति—जिस धातु के आदि में इच् (इकार से औकार तक के स्वर) है और जिसमें गुरु वर्ण है ऐसी 'ऋच्छ्' से भिन्न धातु से 'आम्' प्रत्यय होता है लिट् पर होने पर।

७१३. आम्प्रत्ययवद् इति—जिसका अनुप्रयोग किया जाता है उस कृञ् धातु से भी आम् की प्रकृति के समान आत्मनेपद होता है।

भाव यह है आम् प्रत्यय के पश्चात् कृ, भू, अस् के लिट् लकार के रूपों का प्रयोग (अनुप्रयोग) किया जाता है—कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि। किन्तु इनमें कृञ् धातु ञित् होने से उभयपदी है अतः एध् आदि से पर कृ के आत्मनेपद परस्मैपद दोनों रूपों का अनुप्रयोग प्राप्त होता है वहाँ परस्मैपद रूप का अनुप्रयोग न हो, यह इस सूत्र से कहा गया है। व्याख्याकारों ने यह भी बतलाया है कि आम्प्रकृति के समान ही आत्मनेपद होता है उसके विपरीत नहीं। फलतः आम् की प्रकृति यदि आत्मनेपदी है तो अनुप्रयुक्त कृञ् में आत्मनेपद होगा, अन्यथा नहीं।

आम्प्रत्यय इति—'आम्प्रत्यय' शब्द का विग्रह है आम् प्रत्यय होता है जिससे अर्थात् आम् की प्रकृति (जिससे कोई प्रत्यय किया जाता है उसे प्रकृति कहते हैं)। इसमें बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि दो प्रकार का होता है—एक, तद्गुणसंविज्ञान और दूसरा, अतद्गुणसंविज्ञान। जिसमें अन्य पदार्थ के विशेषणों (गुणों) का अन्वय होता है वह तद्गुणसंविज्ञान है (तस्य=अन्यपदार्थस्य, गुणानाम्=विशेषणानाम्,

७१४। लिटस्तझयोरेशिरेच् ।३।४।८१॥

लिडादेशयोस्तझयोः 'एश्' इरेच्' एतौ स्तः।

एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे।

एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे—

संविज्ञानम् क्रियान्वयितया ज्ञानं यत्र) जैसे 'पीताम्बरमानय' (पीताम्बर को लाओ) यहाँ 'पीताम्बर' (= पीले हैं वस्त्र जिसके) बहुव्रीहि है। यहाँ 'आनय' (लाना) क्रिया से पीले वस्त्रों का भी अन्वय होता है वे वस्त्र भी साथ लाये जाते हैं। तद्गुणसंविज्ञान से अन्य बहुव्रीहि 'अतद्गुणसंविज्ञान' होगा, उसमें अन्य पदार्थ के विशेषणों का अन्वय नहीं होता, जैसे 'चित्रगुगानय' (चितकबरी गायों वाले को लाओ), यहाँ केवल अन्य-पदार्थ जो चित्र गायों वाला पुरुष है उसको ही लाया जाता है, चित्र गायों को नहीं। यहाँ भी यही बात है यहाँ 'आम्प्रत्यय' शब्द से जिससे आम् प्रत्यय होता है (=आम् प्रत्यय की प्रकृति) उस एध् आदि धातु का ही ग्रहण किया जाता है, आम् प्रत्यय सहित धातु का नहीं।

७१४. लिट इति—लिट् के आदेश जो 'त' और 'झ' हैं उन्हें क्रम से 'एश्' और 'इरेच्' हो जाते हैं

एधाञ्चक्रे—एध् धातु से लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ.' से 'आम्' प्रत्यय होता है। उससे परे 'आमः' सूत्र से लिट् का लुक् होकर लिट्परक कृञ् धातु का अनुप्रयोग होकर 'एध् आम् कृ लिट्' इस अवस्था में 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' के अनुसार कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है क्योंकि एध् धातु (आम् की प्रकृति) आत्मनेपदी है। इस प्रकार लिट् के स्थान में त आदेश होता है। एधाम् कृ त' इस अवस्था में 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' सूत्र से 'त' के स्थान में 'एश्' होता है जो शित् होने से सम्पूर्ण 'त' के स्थान में आता है (अनेकाल्शित् सर्वस्य)। एधाम् कृ ए यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'एधाम् चकृ ए' इस दशा में ऋकार को यण् (र्) तथा मकार को अनुस्वार परसर्ण होकर एधाञ्चक्रे।

इसी प्रकार द्विवचन में 'एधाम् च कृ आताम्' यहाँ अन्तिम 'आम्', (टि) को 'ए' होकर एधाञ्चक्राते। बहुवचन में 'एधाम् च कृ झ' यहाँ झ को इरेच् आदेश होता है। इरेच् में च् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। यह अनेकाल् होने से सम्पूर्ण झ के स्थान में आता है—**एधाञ्चक्रिरे**।

एधाञ्चकृषे—एध् लिट् म० पु० एक० में एधाम् च कृ से (थास्), सकार को षत्व होकर एधाञ्चकृषे। द्विवचन में 'एधाम् च कृ आथाम्=एधाञ्चक्राथे। बहुवचन में च कृ ध्वे, इस दशा में—

७१५ । इणः षीध्वं लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् ।८।३।७८॥

इणन्ताद् अङ्गाद् परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य ढः स्यात् । एधाञ्चकृढ्वे ।

एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास ।

एधिता, एधितारौ, एधितारः । एधितासे, एधितासाथे—

---

७१५ इण इति—इणन्त (जिसके अन्त में इण् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) अङ्ग से परे षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् के धकार को ढकार हो जाता है ।

एधाञ्चकृढ्वे—एध धातु से लिट् मध्यम पुरुष बहुवचन में पूर्ववत् 'एधाम् चकृ ध्वम्' इस अवस्था में 'टित् आत्मने पदानां टेरे' से ध्वम् के अम् (टि) को 'ए' होता है यहाँ लिट् का धकार है अतः 'इण षीध्वम्' इत्यादि उपर्युक्त सूत्र से धकार को ढकार होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' रूप होता है ।

एधाञ्चक्रे—लिट् उ० पु० एक० में एधाम् च कृ इ (इट्)' यहाँ इ को ए होकर यण् (ऋ=र्) होता है । द्विवचन में 'एधाम् च कृ वहि'=एधाञ्चकृवहे, बहुवचन में 'एधाम् च कृ महि=एधाञ्चकृमहे ।

टिप्पणी—एधाञ्चकृषे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे आदि में वलादि आर्धधातुक होने से इट् प्राप्त है किन्तु 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७·२·७० से निषेध हो जाता है । यहाँ क्रादिनियम नहीं लगता ।

एधाम्बभूव—आम् होने पर भू धातु के लिट्परक रूप का अनुप्रयोग होने पर एधाम्बभूव आदि रूप होते हैं । इसी प्रकार 'अस्' का अनुप्रयोग होने पर एधामास आदि । यहाँ एधाम् अस् अ (णल्) इस स्थिति में द्वित्व, हलादि शेष 'एधाम् अ अस् अ' इस अवस्था में 'अतो गुणे' से पररूप प्राप्त होता है किन्तु 'अत आदेः' से उसका बाध होकर अभ्यास के 'अ' को दीर्घ होकर फिर सवर्ण दीर्घ होता है ।

एधिता—एध् लुट् प्र० पु० एक० में तास् प्रत्यय, इट् का आगम, लुट् के स्थान में तिप् तथा तिप् को 'डा' होकर 'एध् इ तास् आ' इस अवस्था में तास् के आस् (टि) का लोप होकर एधिता द्विवचन में एध् इ तास् रौ=एधितारौ, बहुवचन में एध् इ तास् रस्=एधितारः ।

एधितासे—म० पु० एक० में एध् इ तास् से (थास्)=तासस्त्योर्लोपः से सकार का लोप होकर एधितासे । द्विवचन में एध् इ तास् आथाम्=आम् को ए होकर एधितासाथे ।

७१६. धि च ।८।२।२५॥

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः । एधिताध्वे ।

७१७. ह एति ।७।४।५२॥

तासस्त्योः सस्य हः स्याद् एति परे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते । एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे । एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे ।

७१८. आमेतः ।३।४।९०॥

लोट एकारस्य आम् स्यात् । एधताम्, एधेताम् एधन्ताम् ।

७१९। सवाभ्यां वाऽमौ । ३।४।९१॥

---

७१६. धि चेति—धादि (जिसके आदि में धकार हो) प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप होता है ।

एधिताध्वे— लुट् म० पु० बहुवचन में एध् इ तास् ध्वे (ध्वम्) इस अवस्था में 'धि च' से सकार का लोप होता है ।

७१७. ह एतीति—तास् और अस् के सकार को हकार हो जाता है 'ए' (एकार) परे होने पर ।

एधिताहे—उ० पु० एक० में एध् इ तास् इ→एध् इ+तास् ए, तास् के सकार को हकार होकर एधिताहे । द्विवचन में एध् इ तास् वहि=**एधितास्वहे**, बहुवचन में **एधितास्महे** ।

एधिष्यते—एध् लृट् प्र० पु० एक० में स्य, इट् लृट् के स्थान में 'त' और उसकी टि को एकार आदेश होता है ।अन्य रूपों में भी इसी प्रकार लट् के समान कार्य होते हैं शप् के स्थान में 'स्य' और 'इट्' विशेष होता है ।

७१८. इति—लोट् लकार के एकार के स्थान में 'आम्' होता है ।

एधताम्—एध् लोट् प्र० पु० एक० त, शप्, एत्व होकर एधते इस दशा में प्रत्यय के एकार को आम् होकर एधताम् । द्विवचन में एध् अ आताम्=**एधेताम्**, बहुवचन में एध् अ अन्त (झ)=**एधन्ताम्** (इन दोनों स्थलों पर भी एकार के स्थान में आम् होता है) ।

७१९. **सवाभ्यामिति**—सकार और वकार से परे लोट् के एकार के स्थान में क्रमशः 'व' तथा 'अम्' होते हैं ।

सवाभ्या परस्य लोडितः क्रमाद् वा ऽमौ स्त ।

एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् ।

७२० । एत ऐ । ३।४।९३॥

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । एधै, एधावहै, एधामहै । आटश्च—ऐधत ऐधेताम्, ऐधन्त । ऐधथा , ऐधेथाम्, ऐधध्वम् । ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि ।

७२१ । लिङ सीयुट । ३।४।१०२॥

[यहां लोटो लड्वत् से लोट् की और आमेत से 'ए' की अनुवृत्ति होती है ।]

एधस्व—एध् लोट् म० पु० एक० म थास् को से होकर, शप् होकर एध अ से इस अवस्था मे सकार से पर एकार को 'व' होता है । द्विवचन म एध् अ आथाम् टि को एत्व, आतो ङित मे आथाम् के आदि के आकार को इय् गुण यलोप तथा 'आमेत' से अन्तिम एकार को आम् होकर एधेथाम् । बहुवचन म 'एध् अ ध्वम् टि को एत्व करके 'सवाभ्या वामौ' से एकार को अम् होकर एधध्वम् ।

एत इति—लोट् लकार के उत्तम पुरुष के एकार के स्थान मे ऐ होता है ।

एधै—एध् अ इ (इट्), यहां इकार को एत्व और एत ऐ से ऐत्व होता है । आडुत्तमस्य पिच्च से आट् का आगम तथा आटश्च से वृद्धि होकर एध् अ ऐ वृद्धि-रेचि से वृद्धि=एधै । द्विवचन मे एध् आ वहि इस दशा म टि को एत्व उसे एत ऐ, से ऐत्व तथा अ+आ=आ (सवर्णदीर्घ) होकर एधावहै । बहुवचन मे एध् अ आ महि =एधामहै ।

आटश्चेति—आटश्च ६।१।८७ (आट् से अच् परे होने पर वृद्धि एकादेश होता है) यह वृद्धि करने वाला सूत्र है । तदनुसार—

ऐधत—एध् लङ् प्र० पु० एक० मे 'आडजादीनाम्' से आट् का आगम, लङ् के स्थान मे 'त' आदेश शप् होकर आ एध् अ त, यहां आटश्च से आ+ए=ऐ (वृद्धि) । द्विवचन मे आ एध् अ आताम् =ऐधेताम् । बहुवचन मे आ एध् अ अन्त (झ)=ऐधन्त । म० पु० एक० म आ एध् अ थास् =ऐधथा, द्विवचन मे ऐधेथाम्, बहुवचन मे ऐधध्वम् । उ० पु० एक० मे आ एध् अ इ आद्गुण से अ+इ=ए→ ऐधे । द्विवचन मे ऐधावहि, बहुवचन मे ऐधामहि इन दोनो रूपो मे शप् के अकार को अतो दीर्घो यञि से दीर्घ होता है ।

७२१. लिङ इति—लिङ् के आदेश आत्मनेपद के प्रत्यय को सीयुट् का आगम होता है ।

लिङात्मनेपदस्य सीयुडागमः स्यात् । सलोपः—एधेत, एधेयाताम् ।

७२२ । झस्य रन् । ३।४।१०५॥

लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम् ।

७२३ । इटोऽत् । ३।४।१०६॥

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात् । एधेय, एधेवहि, एधेमहि ।

७२४ । सुट् तिथोः । ३।४।१०७॥

लिङस्तथोः सुट् । यलोपः । आर्धधातुकत्वात् सलोपो न ।

सलोपः—सीयुट् में टकार की इत्संज्ञा (लोप), उकार उच्चारण के लिये है तथा सकार का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से लोप हो जाता है ।

एधेत—एध् विधिलिङ् प्र० पु० एक० लिङ् को त आदेश, शप् सीयुट होकर 'एध् अ सीय् त' लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य से सकारलोप, लोपोव्योर्वलि से यकारलोप होकर 'एध् अ ई त' इस अवस्था में आद्गुणः से अ + ई = ए (गुण) होता है । द्विवचन में एध् अ सीय् आताम् = एधेयाताम् । बहुवचन में—

७५१. झस्येति—लिङ् के आदेश झ को 'रन्' होता है ।

एधेरन्—एध् अ सीय् झ → झ के स्थान में रन् आदेश, सलोप, गुण, यलोप होता है ।

एधेथाः—म० पु० एक० में एध् अ सीय् थास् । द्विवचन में एध् अ सीय् आथाम् = एधेयाथाम्, बहुवचन में एध् अ सीय् ध्वम् = एधेध्वम् ।

७२३. इट इति—लिङ् के आदेश इट् को 'अत्' (आदेश) होता है [यहाँ लिङ् सीयुट् से लिङ् की अनुवृत्ति होती है, अत् में तकार उच्चारण के लिये है ।]

एधेय—विधिलिङ उत्तम पुरुष एकवचन में एध् अ सीय् इ (इट्) के स्थान में अकार, सलोप, गुण, यलोप होकर एधेय । द्विवचन में एध् अ सीय् वहि = एधेवहि, बहुवचन में एधेमहि ।

७२४ सुडिति—लिङ् के तकार और थकार को सुट् (आगम) होता है । [सुट् में टकार की इत्संज्ञा (लोप), उकार उच्चारणार्थ है ।]

यलोप इति—आशिषि लिङ् में एध् इ (इट्) सीय् स् त' इस अवस्था में लोपो व्योर्वलि से यकार का लोप होता है । 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक होने के कारण आशिषि लिङ् में लिङः सलोपः, इत्यादि सूत्र से सकार का लोप नहीं होता क्योंकि उस सूत्र में सार्वधातुक' शब्द की अनुवृत्ति होती है ।

एधिषीष्ट—एध् धातु आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० में लिङ् के स्थान में त आदेश, आर्धधातुक होने से शप् नहीं होता, सीयुट् सुट् तथा सीयुट् के सकार से पूर्व

एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्—

७२५। आत्मनेपदेष्वनतः। ७।१।५॥

अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि।

इट् का आगम होकर एध् इ सीय् स् त, यह अवस्था होती है, यलोप 'आदेश प्रत्यययो' मे दोनो सकारो को षकार तथा तकार को ष्टुत्व से टकार होकर एधिषीष्ट। द्विवचन मे एध् इ सीय आताम्, यहाँ आकार से पर तकार से पूर्व सुट् होकर एधिषीयास्ताम्। बहुवचन मे 'झ' को रन् यलोप एधिषीरन्।

एधिषीष्ठा—म० पु० एक० म एध् इ सीय् स् थास्=एधिषीष्ठा। द्विवचन मे एध् इ सीय् आथाम्→थकार को सुट्=एधिषीयास्थाम्। बहुवचन म एध् इ सीय्, ध्वम्, यलोप, षत्व होकर एधिषीध्वम् [यहाँ एध इ षीध्वम्' इस दशा म 'षीध्वम्' इण् से परे तो है किन्तु इणन्त अङ्ग से परे नही क्योकि इट् (इ) प्रत्यय का भाग है, अङ्ग का नहीं; अत 'इण षीध्वम्' इत्यादि सूत्र (८।३।७८), से धकार को ढकार नही होता।]

एधिषीय—उ० पु० एक० इट् प्रत्यय को अत् (इटोऽत्), सीयुट, इट् का आगम, षत्व होता है। उ० पु० द्विवचन मे एधिषीवहि बहुवचन मे एधिषीमहि।

ऐधिष्ट—एध् लुङ् प्र० पु० एक० मे धातु को आट् लुङ् को त आदेश, च्लि सिच्, इट् होकर आ एध् इ स् त, यहाँ वृद्धि (आटश्च), षत्व और ष्टुत्व होता है। द्विवचन म आ एध् इ स् (सिच्) आताम्=एधिषाताम्। बहुवचन मे आ एध् इ स् झ—

७२५ आत्मनेपदेष्विति—अकारभिन्न वर्ण से परे आत्मनेपद मे (झ प्रत्यय के अवयव) झ् को 'अत्' आदेश होता है [इस 'सूत्र मे 'झोन्त' से 'झ' की और 'अदभ्यस्तात्' से 'अत् की अनुवृत्ति होती है]।

ऐधिषत—झ् के स्थान मे अत् होकर आ एध् इ स् अत् अइस अवस्था मे वृद्धि षत्व होकर ऐधिषत।

ऐधिष्ठा—लुङ् म० पु० एक० में धातु को आट्, लुङ् को थास्, च्लि, सिच्, इट् होकर आ एध् इ स् थास् इस दशा मे, वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व, रुत्व-विसर्ग होते हैं। द्विवचन मे आ एध इ स् आथाम्=ऐधिषाथाम्। बहुवचन मे आ एध् इ स् (सिच् ध्वम् इस दशा में वृद्धि, सलोप (धि च) तथा 'इण. षीध्व लुङ्लिटा धोऽङ्गात्' से धकार को ढत्व होकर ऐधिढ्वम्।

ऐधिषि—लुङ् उ० पु० एक० में आट् लुङ् को इट् आदेश, च्लि, सिच्, इट्

ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि ।

वृतु वर्तने ॥२॥

वर्तते । ववृते । वर्तिता ।

७२६ । वृद्भ्यः स्यसनोः ।१।३।९२॥

वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च ।

७२७ । न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ।७।२।५९॥

वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे । वर्त्स्यति, वर्तिष्यते ।

का आगम होकर आ एध् इ स् इ→ऐधिषि । द्विवचन में आ एध् इ स् वहि= ऐधिष्वहि । बहु० में आ एध् इ स् महि=ऐधिष्महि ।

ऐधिष्यत—एध् लृङ् प्र० पु० एक० में 'आडजादीनाम्' से आट् लृङ् के स्थान में त आदेश, स्य, इट् होकर 'आ एध् इ स्य त' इस दशा में आटश्च से वृद्धि आदेशप्रत्यययोः से षत्व होता है । अन्य रूप भी इसी प्रकार होते है ।

वृतु इति—वृतु धातु 'होना' 'व्यवहार करना' अर्थ में है । [इसके उकार की इत्संज्ञा होती है, यह उदित् है, सेट् है, आत्मनेपदी है] ।

वर्तते—वृत् धातु लट् प्र० पु० एक० में लट् के स्थान में त (आत्मनेपद), शप् होकर वृत् अ त इस अवस्था में टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से त की टि (अ) को एकार होकर वृत् के ऋकार को लघूपध गुण रपर (अर्) होता है । अन्य रूप भी इसी प्रकार एध् धातु के समान होते हैं ।

ववृते—वृत् लिट् प्र० पु० एक० में लिट् के स्थान में 'त' और त के स्थान में 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'ए' (एश्) होकर 'वृत् ए' यहाँ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से वृत् को द्वित्व, अभ्यास के ऋकार को अर् (उरत्, उरण् रपरः), हलादि शेष होकर व वृत् ए यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित् से लिट् के कित् हो जाने से गुण नहीं होता । ववृते रूप होता है । इसी प्रकार ववृताते, ववृतिरे इत्यादि ।

वर्तिता—वृत् लुट् प्र० पु० एक० में वृत् इ तास् डा यहाँ गुण, आस् (टि) का लोप होकर वर्तिता ।

७२६. वृद्भ्य इति—वृत् आदि पाँच (वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द, कृप्) धातुओं से विकल्प से परस्मैपद होता है स्य और सन् के विषय में ।

७२७. न वृद्भ्य इति—वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द् इन धातुओं से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता तङ् और आन (शानच् कानच्) के अभाव में । (फलतः परस्मैपद में इट् नहीं होता) ।

वर्तताम् । अवर्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट । अवर्तिष्ट । अवर्त्स्यत्–अवर्तिष्यत ।

त्रपूष् लज्जायाम् ॥३॥ त्रपते ।

७२८ । तॄफलभजत्रपश्च ।६।४।१२२॥

वर्त्स्यति-वर्तिष्यते—वृत् धातु से लृट् प्र० पु० एक० में 'स्यतासी लृलुटोः' से स्य, 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से परस्मैपद का विकल्प होकर लृट् के स्थान में तिप् होता है 'वृत् स्य ति' यहाँ 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से प्राप्त होने वाले इट् का 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से निषेध हो जाता है। ऋकार को गुण, रपर होकर वर्त्स्यति। पक्ष में आत्मनेपद होता है 'वृत् स्य ते' यहाँ इट् गुण, षत्व होकर वर्तिष्यते।

वर्तताम्—वृत् लोट् प्र० पु० एक० (आत्मनेपद) में वृत् अ (शप्) ताम् गुण रपर होकर वर्तताम्।

अवर्तत—वृत् लङ् प्र० पु० एक० (आत्मनेपद) में अ वृत् अ (शप्) त→यहाँ गुण रपर होकर अवर्तत।

वर्तेत—वृत् विधि लिङ् प्र० पु० एक० (आत्मनेपद) में वृत् अ (शप्) सीय् स् (सुट्) त→एधेत के समान कार्य होते हैं।

वर्तिषीष्ट—वृत् आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में सीयुट् सुट् इट् होकर वृत् इ सीय् त इस दशा में गुण रपरत्व यलोप, षत्व, ष्टुत्व होता है।

अवर्तिष्ट—वृत् लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में च्लि, सिच्, गुण रपरत्व, षत्व, ष्टुत्व होता है। पक्ष में 'द्युद्भ्यो लुङि' से परस्मैपद होकर पुषादि० सूत्र से अङ् 'अ वृत् अ त'=अवृतत्।

अवर्त्स्यत्-अवर्तिष्यत—वृत् लृङ् प्र० पु० एक० में स्य होकर विकल्प से परस्मैपद होने पर इट् का निषेध, गुण—रपरत्व होता है। पक्ष में आत्मनेपद में इट् गुण रपत्व आदि होकर अवर्तिष्यत।

त्रपूष्—त्रपूष् धातु लज्जा (लज्जित होना) अर्थ में है। [इसके ऊकार और षकार की इत्संज्ञा होकर लोप होता है, यह ऊदित् है और षित् भी]।

त्रपते—त्रप् धातु से लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में त (एत्व) शप् होकर त्रपते।

७२८ तॄफलेति—तॄ, फल्, भज् और त्रप्—इन धातुओं के अकार को एकार और अभ्यास का लोप होता है किन् लिट् तथा सेट् थल् परे होने पर। त्रप् में जो अकार है उसके एक ओर त्+र् संयुक्त व्यञ्जन (हल्) है, अतः एत्एकहल्मध्ये० (६/४/१२०) इत्यादि से यहाँ एत्व तथा अभ्यास लोप प्राप्त नहीं है]।

त्रेपे—त्रप् लिट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में लिट् के स्थान में त तथा ए

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि सेटि थलि च। त्रेपे (त्रेपाते त्रेपिरे)।

त्रपिता-त्रप्ता। त्रपिष्यते-त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिपीष्ट-त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट- अत्रप्त। अत्रपिष्यत-अत्रप्स्यत।

अथ उभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम् ॥१॥

श्रयति-श्रयते। शिश्राय-शिश्रिये। श्रयिता। श्रयिष्यति-श्रयिष्यते।

होकर, द्वित्व, अभ्यासकार्य होकर 'त त्रप् ए' यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट् कित् है, अतः अकार को एत्व और अभ्यास लोप होकर त्रेपे। इसी प्रकार त्रेपाते, त्रेपिरे।

टिप्पणी—त्रप् धातु आत्मनेपदी है, इससे परे सेट् थल् नहीं मिलता, अतः सूत्र में 'सेटि थलि' की अनुवृत्ति 'फल' आदि के लिये की गई है।

त्रपिता-त्रप्ता—लुट् प्र० पु० एक०, त्रपिष्यते, त्रप्स्यते—लृट् प्र० पु० एक०, त्रपिपीष्ट, त्रप्सीष्ट—आशिषि लिङ् प्र० पु० एक०, अत्रपिष्ट, अत्रप्त—लुङ् प्र० पु० एक० तथा अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत—लृङ् प्र० पु० एक० में धातु के ऊदित् होने के कारण 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' सूत्र से विकल्प से इट् होता है।

त्रपताम्—लोट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में त्रप् अ (शप्) ताम् = त्रपताम्। लङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अ त्रप् अ त = अत्रपत। विधि लिङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में त्रप् अ सीय् स् त = त्रपेत।

अथेति—अब (भ्वादि गण की) उभयपदी धातुएँ आरम्भ होती हैं। [ऊपर कहा जा चुका है कि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' सूत्र के अनुसार जो धातु स्वरितेत् है अथवा ञित् है वह परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों में होती है]।

श्रिञ्—यह धातु 'सेवा करना' अर्थ में है। श्रिञ् में ञकार की इत्संज्ञा होकर लोप होता है। ञित् होने से यह उभयपदी है। सेट् है।

श्रयति-श्रयते—लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में श्रि अ ति → गुण, अयादेश होकर श्रयति; आत्मने० में श्रि अ ते = श्रयते।

शिश्राय-शिश्रिये—लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप् को णल्, द्वित्व अभ्यास कार्य होकर शिश्रि अ इस दशा में वृद्धि, आय् आदेश होकर शिश्राय। आत्मने० में 'शि श्रि ए' यहाँ लिट् के कित् (असंयोगाल्लिट् कित्) होने से गुण नहीं होता अपितु इकार को इयङ् होकर 'शिश्रिये' रूप होता है। परस्मै० के 'शिश्रियतुः' आदि रूपों में भी लिट् के कित् होने से इयङ् ही होता है। थल् कित् नहीं है, अतः गुण, अयादेश होकर शिश्रयिथ।

श्रयिता—लुट् प्र० पु० एक० में परस्मै० तथा आत्मने० दोनों में ही श्रयिता रूप होगा। इसी प्रकार द्विवचन में श्रयितारौ, बहुवचन में श्रयितारः। म० पु० और

श्रयतु-श्रयताम् । अश्रयत् अश्रयत । श्रयेत् श्रयेत श्रीयात् श्रयिषीष्ट । चङ् अशिश्रियत्-अशिश्रियत । अश्रयिष्यत् अश्रयिष्यत ।

हृञ् हरणे ॥२।

हरति हरते । जहार, जहर्थ, जह्रिव, जह्रिम, जह्रे, जह्रिषे । हर्ता ।

उ० पु० के परस्मै० म भू के समान तथा आत्मने० मे एध् के समान रूप होते हैं।

श्रयिष्यति श्रयिष्यते—श्रि लृट् प्र० पु० एक० मे (परस्मै०) मे श्रयिष्यति आत्मने० मे श्रयिष्यते । लोट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे श्रयतु आत्मने० मे श्रयताम् । लङ् मे अश्रयत् अश्रयत । विधि लिङ् मे श्रयेत् श्रयेत ।

श्रीयात्—श्रि आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे श्रि यासुट् स् (सुट्) त् यहाँ 'स्को संयोगाद्योरन्ते च' से दोनो सकारो का लोप होकर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से इकार को दीर्घ होता है।

श्रयिषीष्ट—श्रि आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) म श्रि इ (इट्) सीय् स् यहाँ गुण अयादेश, यलोप, षत्व ष्टुत्व होता है।

अशिश्रियत्—श्रि धातु से लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मैपद) म अ श्रि त् इस अवस्था मे च्लि, च्लि के स्थान म 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य कर्तरि चङ्' से चङ् (अ),'चङि' से द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर अशि श्रि अ त्→श्रि के इकार को इयङ् अशिश्रियत् । आत्मने० मे अशिश्रियत ।

अश्रयिष्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे अश्रयिष्यत् आत्मने० मे अश्रयिष्यत ।

हृञ्—हृ धातु ले जाना, हरण करना अर्थ मे है। [हृञ् ञित् है, अत उभयपदी है, यह धातु अनिट् है] ।

हरति हरते—लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे हरति, आत्मने० म हरते । लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) म जहार । म० पु० एक० (परस्मै०) मे द्वित्व आदि होकर ज हृ थ, यहाँ 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' से इट् का निषेध, गुण होकर जहर्थ । जह्रिव, जह्रिम म क्रादि नियम से इट् होकर यण् होता है।

जह्रे—लिट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) म ज हृ ए=जह्रे । म० पु० एक० आत्मने० मे 'ज हृ से (थास्) यहाँ क्रादिनियम से इट् होकर यण् होकर जह्रिषे । इसी प्रकार ध्वे, वहे तथा महे परे होने पर भी इट् होता है।

हर्ता—लुट् प्र० पु० एक० परस्मै० तथा आत्मने० का रूप है, अनिट् होने से इट् नही होता ।

हरिष्यति हरिष्यते—लृट् मे 'ऋद्धनो स्ये' से इट्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' से गुण होता है। हरतु हरताम् लोट् प्र० पु० एक० परस्मै० और आत्मने० के रूप हैं। लङ् मे अहरत् अहरत, विधि लिङ् म हरेत्-हरेत ।

ह्रियात्—हृ धातु से आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) म लिङ् के स्थान मे तिप्, इकार लोप, यासुट् सुट्, सलोप हृ या त् इस अवस्था मे 'अकृत्सार्व-

हरिष्यति-हरिष्यते । हरतु-हरताम् । अहरत्-अहरत । हरेत्-हरेत । ह्रियात् हृषीष्ट, हृषीयास्ताम् । अहार्षीत्-अहृत । अहरिष्यत्-अहरिष्यत ।

इति भ्वादयः ।

२. अथ अदादिगणः

अद भक्षणे ॥

७२९ । अदिप्रभृतिभ्यः शपः ।२।४।७२ ।

लुक् स्यात् । अत्ति, अत्तः, अदन्ति । अत्सि, अत्थः, अत्थ । अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

धातुकयोः से प्राप्त होने वाले दीर्घ को बाधकर 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से (यदि आर्धधातुक लिङ् परे होने पर) ऋकार के स्थान में 'रिङ्' (=रि) होता है ह्रियात् ।

हृषीष्ट—हृ आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में लिङ् के स्थान में 'त' सीयट् सुट् होकर 'हृ सीय् स् त' इस अवस्था में (धातु अनिट् है अतः इट् नहीं होता) झलादि लिङ् परे है अतः वह 'उश्च' से कित् हो जाता है तथा गुण नहीं होता । य लोप, षत्व, ष्टुत्व होकर हृषीष्ट । द्विवचन में हृ सीय् आ स् (सुट्) ताम्= हृषीयास्ताम् ।

अहार्षीत्—हृ लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अ हृ स् (सिच्) त् 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' से ईट् होकर 'अ हृ स् ई त्' यहाँ 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से ऋ को वृद्धि आर् होकर षत्व होकर अहार्षीत् ।

अहृत—हृ लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अ हृ स् त इस अवस्था में 'उश्च' से सिच् कित् होता है अतः गुण नहीं होता । 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् के स् का लोप होकर अहृत । [अहृषाताम् आदि में सलोप नहीं होता क्योंकि यह लोप झल् परे होने पर होता है] । अहरिष्यत्-अहरिष्यत—लृङ् प्र० पु० एक० परस्मै० तथा आत्मने० के रूप हैं ।

इति भ्वादयः

अथेति—यहाँ से अदादिगण का आरम्भ होता है । अद् धातु है आदि में जिसके वह धातुसमुदाय अदादिगण कहलाता है ।

अद्—धातु 'खाना' अर्थ में है । [यह परस्मैपदी है और अनिट्]

७२९. अदिप्रभृतिभ्य इति—अद् आदि धातुओं से परे शप् का लुक् (लोप) हो जाता है ।

७३० । लिट्यन्यतरस्याम् ।२।४।४०।।

अदो घस्लृ वा स्यात् लिटि । जघास ।

उपधालोप—

७३१ । शासिवसिघसीनां च ।८।३।६०।।

इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य ष स्यात् । घस्य चर्त्वम् जक्षतुः, जक्षुः । जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष । जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम । आद, आदतुः, आदुः ।

अत्ति—अद् धातु से लट् प्र० पु० एक० में तिप्, शप् होकर शप् का 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से लोप होता है अद् ति, इस दशा में दकार को चर्त्व (खरि च) होकर अत्ति । द्विवचन में अद् तस्=अत्तः बहुवचन में अद् अन्ति (झि)=अदन्ति । म० पु० एक० में अद् सि=अत्सि, द्विवचन में अद् थस्=अत्थः, बहुवचन में अद् थ=अत्थ । उ० पु० में अद् मि=अद्मि अद् वस्=अद्वः अद् मस्=अद्मः ।

७३० लिटीति—अद् धातु को घस्लृ आदेश होता है विकल्प से लिट् लकार में । [यहाँ 'अदो जग्धि' से अद् की और 'लुङ्सनोर्घस्लृ' से घस्लृ की अनुवृत्ति होती है । घस्लृ में 'लृ' की इत्संज्ञा होती है । घस् आदेश भी अनिट् है ।]

जघास—अद् धातु से लिट् प्र० पु० एक० में तिप्, तिप् को णल् अद् को घस् होकर 'घस् अ' यहाँ द्वित्व हलादिशेष होकर घ घस् अ, इस अवस्था में अभ्यास के घकार को 'कुहोश्चुः' से झकार, उसे 'अभ्यासे चर्च' से जकार, और घस् के अकार को 'अत उपधायाः' से वृद्धि (आ) होकर जघास रूप होता है ।

उपधेति—द्विवचन में ज घस् अतुस् इस अवस्था में अतुस् कित् (असंयोगाल्लिट् कित्) है, अतः 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' से उपधा (घस् के अकार) का लोप होता है । ज घ् स् अतुस् इस अवस्था में—

शासीति—इण् (प्रत्याहार के वर्ण) और कवर्ग से परे शास्, वस् और घस् धातुओं के सकार को षकार होता है । घकार को चर्त्व (ककार) होता है ।

जक्षतुः—अद् लिट् प्र० पु० द्विवचन में उपर्युक्त प्रकार से ज घ स् अतुस् यहाँ उपधालोप षत्व, चर्त्व होकर ज क् ष् अतुस् इस स्थिति में क्+ष्=क्ष् और अन्तिम सकार को विसर्ग होकर जक्षतुः । इसी प्रकार बहुवचन में ज घ ष् उ स्=जक्षुः ।

जघसिथ—अद् धातु से लिट् म० पु० एक० में ज घ स् थ यहाँ क्रादि नियम से नित्य इट् होता है [यहाँ भारद्वाज नियम नहीं लगता, वह नियम उस धातु को लगता है जो तास् में नित्य अनिट् होती है, यह घस् धातु तो तास् में है ही नहीं क्योंकि घस् आदेश लिट् में ही होता है । द्विवचन में ज घ स् अ थु स्=जक्षथुः (जक्षतुः के समान) । बहुवचन में ज घ स् अ=जक्ष ।

जघास-जघस—अद् लिट् उ० पु० एक० में ज घस् अ (णल्), यहाँ 'णलुत्तमो

७३२ । इड् अत्यर्तिव्ययतीनाम् ।७।२।६६॥

अद्, ऋ, व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात् । आदिथ ।

अत्ता । अत्स्यति । अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु ।

७३३ । हुझल्भ्यो हेर्धिः ।६।४।१०१॥

होः झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त । अदानि अदाव, अदाम ।

७३४ । अदः सर्वेषाम् ।७।३।१००॥

वा' से णल् विकल्प से णित् है, णित् होने पर 'अत उपधायाः' से वृद्धि होती है, अन्यथा नही । द्विवचन में ज घस् इ (इट्) व = जक्षिव, बहुवचन में जक्षिम । इन दोनों रूपों में क्रादि नियम से नित्य इट् होता है ।

आद—जब लिट् में अद् को घस् आदेश नही होता तो अद् अ इस दशा में 'अद्' को द्वित्व, हलादि शेष होकर अ अद् अ, यहाँ 'अत आदेः' से अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होकर आ अद् अ→सवर्ण दीर्घ आद । द्विवचन में आदतुः, बहुवचन में आदुः ।

७३२. इडिति—अद्, ऋ, व्येञ् इन धातुओं से परे थल् को नित्य इट् होता है ।

आदिथ—अद् लिट् म० पु० एक० में आ अद् थ इस दशा में भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् प्राप्त था, 'इड् अत्यर्तिव्ययतीनाम्' से नित्य इट् हो जाता है । उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में आदिव, आदिम रूप होते है वहाँ क्रादिनियम से नित्य इट् होता है ।

अत्ता—लुट् प्र० पु० एक० अद् तास् डा । अत्स्यति = अद् स्य ति, दकार को तकार ।

अत्तु—से अदन्तु तक लोट् प्र० पु० के रूप हैं । इनमें भी शप् का लुक् होता है ।

७३३. हुझल्भ्य इति—हु धातु तथा झलन्त धातुओं से परे हि को धि होता है (अद् धातु झलन्त है) ।

अद्धि—अद् लोट् म० पु० एक० में अद् हि (सि), शप्-लुक्, ऊपर के सूत्र से हि के स्थान में धि होकर अद्धि । आशिषि अर्थ में हि के स्थान में विकल्प से तातङ् होकर अत्तात् । द्विवचन में अद् तम् = अत्तम्, बहुवचन में अद् त = अत्त ।

अदानि—लोट् उ० पु० एक० में अद् मि, शप् लुक्, 'मेर्निः' से मि के स्थान में नि आदेश तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' सूत्र से आट् (आ) का आगम होकर अद् आ नि = अदानि । द्विवचन में अद् आ व = अदाव, बहुवचन में अद् आ म = अदाम ।

७३४. अद इति—अद् से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम होता है सभी के मत में ।

अदः परस्याऽपृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात्, सर्वमतेन। आदत्, आत्ताम्, आदन्। आदः, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आद्म।
अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः। अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः।

७३५। लुङ्सनोर्घस्लृ।२।४।३७॥
अदो घस्लृ स्यात् लुङि सनि च। लृदित्वादङ्—अघसत्। आत्स्यत्।

आदत्—अद् धातु से लङ् प्र० पु० एक० में धातु को 'आडजादीनाम्' से आट्, 'इतश्च' से ति के इकार का लोप, शप् लुक् होकर 'आ अद् त्' इस अवस्था में 'त्' अपृक्त सार्वधातुक है अतः इसे अट् (अ) का आगम होता है आ अद् अ त्= आदत्। द्विवचन में आ अद् ताम्= आत्ताम् बहुवचन में आ अद् अन् (अन्ति – झि) = आदन्।

आदः—म० पु० एक० में आ अद् स (सिप्) यहाँ स् को ऊपर के सूत्र में अट् का आगम होकर, सकार को रुत्व विसर्ग होने हैं आ अद् अ स्=आदः। द्विवचन में आत्तम्, बहुवचन में आत्त।

आदम्—लङ् उ० पु० एक० में आ अद् अम् (मिप्)=आदम्। द्विवचन में आ अद् व= आद्व, बहुवचन में आद्म।

अद्यात्—विधिलिङ् प्र० पु० एक० में शप् लुक्, यासुट् सुट् होकर अद् यास्, स् त्, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सकार—द्वय का लोप होकर (यहाँ अकार से परे 'या' नहीं है अतः 'अतो येयः' से इय् नहीं होता) अद्यात्। द्विवचन में अद् या ताम्= अद्याताम्। बहुवचन में अद् या झि, 'झेर्जुस्' से झि को जुस् (उस्) 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होकर अद् या उस्=अद्युः।

अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः—आशिषि लिङ् के रूप हैं। अद्यात् में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से सकारद्वय का लोप होता है (यह आर्धधातुक है अतः शप्, शप्लुक् नहीं होता)। द्विवचन में अद् यास् ताम्=अद्यास्ताम् बहुवचन में अद् यास् उस्=अद्यासुः।

७३५. लुङ्सनोरिति—अद् धातु को 'घस्लृ' आदेश होता है लुङ् और सन् परे होने पर।

अघसत्—अद् धातु के लुङ् प्र० पु० एक० में धातु को अट्, अद् को घस्लृ आदेश लुङ् के स्थान में तिप् तथा इकार लोप होकर 'अ घस् त्' इस अवस्था में च्लि, च्लि के स्थान में 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' से अङ् होकर अ घस् अ त्= अघसत्। इसी प्रकार अघसताम्, अघसन् इत्यादि।

आत्स्यत्—अद् लृङ् प्र० पु० एक० में आ (आट्) अद् स्य त्=आत्स्यत्।

हन् हिंसागत्योः ॥२॥ हन्ति ।

७३६ । अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिक-लोपो झलि क्ङिति ।६।४।३७॥

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्यात्, झलादौ किति ङिति परे ।

यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः ।

तनु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-वनु-मनु, तनोत्यादयः । हतः, घ्नन्ति । हंसि, हथः, हथ । हन्मि, हन्वः, हन्मः ।

जघान जघ्नतुः, जघ्नुः ।

हन् इति—हन् धातु हिंसा और गति अर्थ में है। यह परस्मैपदी तथा अनिट् है ।

हन्ति—लट् प्र० पु० एक० में तिप्, शप्लुक्, अनुस्वार परसवर्ण होकर रूप बनता है ।

७३६. अनुदात्तोपदेशेति—(सूत्र के अनुनासिक' शब्द में षष्ठी विभक्ति लुप्त है, और यह वनति' को छोड़कर अन्यों का विशेषण है) अनुनासिकान्त जो उपदेश में अनुदात्त धातु तथा तनोति आदि धातु हैं उनके और वन् धातु के अन्त का लोप होता है झलादि कित् ङित् परे होने पर ।

यमि-इति—यमि आदि धातुएँ अनुदात्तोपदेश हैं और तनु आदि तनोत्यादि हैं ।

हतः—हन् लट् प्र० पु० द्विवचन में शप्, शप्-लुक् होकर 'हन् तस्', यहाँ तस् प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वत् है अतः 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादि से नकार लोप, सकार को रुत्व विसर्ग होकर हतः ।

घ्नन्ति—हन् लट् प्र० पु० बहुवचन मे हन् अन्ति (झि), यहाँ झि प्रत्यय ङिद्वत् है अतः अजादि ङित् प्रत्यय परे होने पर गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' से हन् की उपधा (अकार) का लोप होकर ह् न् अन्ति, इस दशा में नकार परे होने पर 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से हकार को कुत्व (क वर्ग का चतुर्थ) होकर घकार होता है ।

हंसि—म० पु० एक० में हन् सि, नश्चापदान्तस्य झलि से नकार को अनुस्वार । द्विवचन में हन् थस् →नलोप हथः, बहु० में हथ । उ० पु० एक० में हन् मि = हन्मि, द्विवचन में हन्वः; बहुवचन में हन्मः ।

जघान—लिट् प्र० पु० एक० में द्वित्व हलादि शेष होकर ह हन् अ (णल्) इस दशा में 'कुहोश्चुः' से अभ्यास के हकार को झकार; अभ्यासे चर्च से जकार, उपधा के अकार को 'अत उपधायाः' से वृद्धि (आ) होकर 'ज हान् अ' यहाँ णित् प्रत्यय (णल्) परे होने से 'होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से हकार को कुत्व (घकार) होकर जघान रूप होता है ।

७३७। अभ्यासाच्च ।७।३।५५॥

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान जघन, जघ्निव, जघ्निम।

हन्ता। हनिष्यति। हन्तु हतात्, हताम्, घ्नन्तु।

७३८। हन्तेर्जः ।६।४।३६॥

हौ परे।

जघ्नतुः—लिट् प्र० पु० द्विवचन में पूर्ववत् ज हन् अतुस्' इस दशा में 'गमहन०' इत्यादि से उपधालोप ज ह् न् अतुस् हकार को घकार, सकार को रुत्व विसर्ग होते हैं। इसी प्रकार बहुवचन में ज हन् उस्=जघ्नुः।

७३७ अभ्यासादिति—अभ्यास से पर हन् धातु के हकार को कुत्व (ह् =घ्) होता है।

जघनिथ जघन्थ—हन् धातु लिट् म० पु० एक० में लिट् के स्थान में थल् (थ) भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्, द्वित्व अभ्यास कार्य होकर ज हन् इ थ इस दशा में 'अभ्यासाच्च' से हकार को घकार (कुत्व) होकर जघनिथ। इट् न होने पर जघन्थ (यहाँ नकार को अनुस्वार और परसवर्ण भी होता है)।

टिप्पणी—जघनिथ आदि में न तो ञित् णित् प्रत्यय परे है और न ही नकार परे है अतः 'हो हन्ते' इत्यादि सूत्र से कुत्व नहीं हो सकता। इसीलिये 'अभ्यासाच्च' से कुत्व का विधान किया गया है।

जघ्नथुः—म० पु० द्विवचन में जघ्नतुः के समान म० पु० बहुवचन में ज हन् अ→उपधा लोप, कुत्व जघ्न।

जघान जघन—उ० पु० एक० में 'णलुत्तमो वा' से णल् विकल्प से णित् होता है और 'अत उपधायाः से वृद्धि (आ) हो जाती है। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रादि नियम से नित्य इट्, उपधा लोप तथा 'हो हन्ते'० से कुत्व होकर जघ्निव, जघ्निम।

हन्ता—लुट् प्र० पु० एक० में हन् तास् डा 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इट् निषेध, नकार को अनुस्वार परसवर्ण होता है।

हनिष्यति—लृट् प्र० पु० एक० में 'स्य' होने पर हन् स्य ति इस दशा में 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् का आगम होता है।

हन्तु—लोट् प्र० पु० एक० में शप् लुक्, हन् तु, अनुस्वार, परसवर्ण।

हतात्—आशी अर्थ में तु के स्थान में तातङ् होकर हन् तात्, यहाँ 'अनुदात्तो-पदेश०' इत्यादि से नकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार प्र० पु० द्विवचन में हन् ताम्=हताम्। बहुवचन में हन् अन्तु→उपधालोप कुत्व=घ्नन्तु।

७३८ हन्तेर्ज इति—हन् धातु को ज (आदेश) हो जाता है हि परे होने पर।

७३६ । असिद्धवदत्राभात् ।६।४।२२॥

इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम् । समानाश्रये तस्मिन् कर्तव्ये तद् असिद्धम् । इति जस्यासिद्धत्वात्, न हेर्लुक्--जहि--हतात्, हतम्, हत । हनानि, हनाव, हनाम ।

अहन्, अहताम्, अघ्नन् । अहन्, अहतम्, अहत ।

---

७३६. असिद्धवदिति—इस सूत्र (६/४/२२) से परे षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद की समाप्ति तक 'आभीय' कार्य कहलाते हैं । समान निमित्त (आश्रय) से वह (आभीय) कार्य करना हो तो दूसरा आभीय कार्य (तद्) असिद्ध (न हुए के समान) हो जाता है । इससे 'ज' आदेश के असिद्ध हो जाने के कारण 'हि' का लुक् नहीं होता ।

टिप्पणी—'असिद्धवदत्राभात्' ६।४।२२ सूत्र है । 'आभात्' का अर्थ है—भ तक । 'भस्य' ६।४।१२९ इस अधिकार पर्यन्त, इसे व्यापकर । 'भ' का अधिकार पाद-समाप्ति तक है । अतः ६।४।२२ से इस पाद की समाप्ति तक के कार्य आभीय हैं । 'हन्तेर्जः' ६।४।३६ तथा 'अतो हेः' ६।४।१०५ दोनों आभीय कार्य हैं । यहाँ 'ज' आदेश के होने पर (इस निमित्त से) ही 'अतो हेः' लग सकता है किन्तु जादेश असिद्ध है ।

जहि—हन् धातु के लोट् म० पु० एक० में सिप्, 'सेर्ह्यपिच्च' से हि आदेश, शप्-लुक् होकर 'हन् हि' इस दशा में हन् के स्थान में 'हन्तेर्जः' से ज आदेश होकर 'ज हि'—जहाँ 'अतो हेः' से हि का लोप प्राप्त होता है किन्तु 'असिद्धवदत्राभात्' से 'ज' आदेश के असिद्ध हो जाने पर 'अतो हेः' को हन् रूप दिखलाई देता है अतः हि लोप नहीं होता ।

हतात्—आशिषि लिङ् म० पु० एक० में हन् तात् (हि)=हतात् । लोट् म० पु० द्विवचन में हन् तम्=हतम्, बहु० में हन् त=हत—इनमें न लोप होता है ।

हनानि—लोट् उ० पु० एक० में 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् होकर हन् आ नि (मि)=हनानि । इसी प्रकार द्विवचन में हनाव, बहुवचन में हनाम ।

अहन्—हन् लङ् प्र० पु० एक० में धातु को अट्, शप्-लुक् तिप् के इकार का लोप होकर 'अ हन् त्' इस अवस्था में हल् (न्) से परे अपृक्त हल् 'त्' है अतः 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से 'त्' का लोप होता है । द्विवचन में अ हन् ताम्→न लोप अहताम् । बहुवचन में अ हन् अन्ति (झि) अन्ति का इकार लोप, तकार लोप होकर अहन् अन्, इस दशा में 'गमहन०' इत्यादि से हन् धातु के अकार (उपधा) का लोप तथा हो हन्तेः० इत्यादि से हकार को कुत्व (घकार) होकर अघ्नन् ।

अहनम् अहन्व, अहन्म ।

हन्यात् ।

७४० । आर्धधातुके ।२।४।३५॥

इत्यधिकृत्य ।

७४१ । हनो वध लिङि ।२।४।४२॥

७४२ । लुङि च ।२।४।४३॥

वधादेशोऽदन्त । आर्धधातुके, इति विषयसप्तमी तेनार्धधातुकोपदेशेऽदन्तत्वाद् अतो लोप—वध्यात्, वध्यास्ताम् ।

अहन्—म० पु० एक० मे अ हन् स् (सिप्) हल्ङ्यादि लोप होकर अहन् । द्विवचन म अ हन् तम्→न लोप अहतम् । बहुवचन म अ हन् त→न लोप अहत ।

अहनम्—उ० पु० एक० मे अ हन् अम् (मिप्)=अहनम् । द्विवचन मे अ हन् व =अहन्व, बहुवचन म अ हन् म=अहन्म ।

हन्यात्—हन् धातु से विधि लिङ् प्र० पु० एक० में शप् लुक्, यासुट्-सुट्, स लोप होकर हन् या त्=हन्यात् । इसी प्रकार हन्याताम्, हन्यु आदि रूप होंगे ।

७४० आर्धधातुक इति—इस सूत्र से अधिकार करके अर्थात् इससे आगे जिन कार्यों का विधान किया गया है, वे आर्धधातुक के विषय मे होते हैं, यह बतलाकर ।

७४१ हन इति—हन् के स्थान मे 'वध' आदेश होता है आर्धधातुक लिङ् के विषय में । (आशीर्लिङ् आर्धधातुक लिङ् है) ।

७४२ लुङि चेति—लुङ् मे भी हन् को वध आदेश होता है ।

वधादेश इति—वध आदेश अकारान्त है और सूत्र मे आर्धधातुके' यह विषय-सप्तमी है जिसका भाव है कि आर्धधातुक के विषय म अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय करने की इच्छा मात्र (विवक्षा) होने पर हन् को वध हो जाता है । इस प्रकार आर्धधातुक के उपदेश (विधान) के समय ही धातु अकारान्त होती है अत. 'अतो लोप' से अकार लोप हो जाता है ।

वध्यात्—हन् धातु से आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० की विवक्षा मे हन् को वध आदेश होकर वध यास्-स् त्' इस दशा में स लोप, 'अतो लोप.' से वध के अन्तिम अकार का लोप होकर वध्यात् । द्विवचन में वध यास् ताम्=अकार लोप वध्यास्ताम् । बहु० में वध्यासु ।

अवधीत् । अहनिष्यत् ।

अस् भुवि ॥३॥

अस्ति ।

७४३ । श्नसोरल्लोपः ।६।४।१११॥

श्नस्य अस्तेश्च अतो लोपः सार्वधातुके किति ङिति । स्तः, सन्ति । असि, स्थः, स्थ । अस्मि, स्वः, स्मः ।

७४४ । उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ।८।३।८७॥

अवधीत्—हन् धातु लुङ् प्र० पु० एक० में अट्, हन् को वध आदेश च्लि-सिच्, आदेश रूप उपदेश में अनेकाच् होने से 'एकाच उपदेशे०' आदि इट् निषेध नहीं लगता अतः सिच् इट् होकर अ वध इ स् त्, यहाँ 'अतो लोपः' से धातु के अन्तिम अकार का लोप होता है उसका स्थानिवद्भाव होने से 'अतो हलादेर्लघोः' से वकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि (आ) नही होती । 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट्, सलोप होकर अवधीत् । लृङ् प्र० पु० एक० मे अहनिष्यत् ।

अस्—धातु होना अर्थ में है । (यह परस्मैपदी धातु है ।)

अस्ति—अस् धातु से लट् प्र० पु० एक० में शप्, शप्-लुक् अस् ति = अस्ति ।

७४३. श्नसोरिति—श्ना प्रत्यय और अस् धातु के अकार का लोप होता है कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर ।

स्तः—लट् प्र० पु० द्विवचन में शप्-लुक् होकर अस् तस् इस दशा में तस् प्रत्यय सार्वधातुक है, यह 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् है अतः अस् के अकार का लोप होकर स्तः । इसी प्रकार बहु० में अस् अन्ति (झि) = सन्ति ।

असि—म० पु० एक० में अस् सि 'तासस्त्योर्लोपः' से सकार लोप असि । द्विवचन में स्थः, बहु० में स्थ । यहाँ अकार-लोप होता है ।

अस्मि—उ० पु० एक० में अस् मि = अस्मि । द्वि० तथा बहु० में अ लोप → स्वः, स्मः । [तिप्, सिप्, मिप्, पित् हैं अतः ङित् नही है । इनके परे होने पर अकार लोप नही होता] ।

७४४. उपसर्गेति—उपसर्ग के इण् और 'प्रादुस्' से परे अस् धातु के सकार को षकार होता है यदि उससे परे यकार या अच् हो ।

उपसर्गेण प्रादुसश्चास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे। निष्यात्। प्रनिषन्ति। प्रादु षन्ति। यच्पर किम् ? अभिस्तः।

७४५। अस्तेर्भूः ।२।४।५२॥

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति।

अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु।

७४६। घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९॥

घोरस्तेश्च एत्वं स्याद् हौ परे, अभ्यासलोपश्च। एत्वस्यासिद्धत्वाद्

निष्यात्—यहाँ उपसर्ग के इण् (इ) से परे अस् का सकार है उससे परे यकार है। प्रनिषन्ति में सकार से परे अ (अच्) है। प्रादु षन्ति में अस् का सकार 'प्रादुस्' से परे है और सकार से परे अकार (अच्) है।

यच्पर किम्—अस् के सकार से परे यकार या अच् हो तभी सकार को षकार होता है। 'अभिस्त' यहाँ सकार से परे तकार है अत षत्व नहीं होता।

७४५. अस्तेरिति— आर्धधातुक के विषय में अस् धातु को 'भू' हो जाता है। इस सूत्र से आर्धधातुक के विषय मे सर्वत्र अस् को भू आदेश होकर भू के समान रूप होते हैं, जैसे लिट् मे बभूव आदि, लुट् मे भविता आदि, लृट् मे भविष्यति आदि। इसी प्रकार आशिषि लिङ् मे भूयात् आदि, लुङ् मे अभूत् आदि।

अस्तु—लोट् प्र० पु० एक० में शप् लुक् होकर अस्तु। तातङ् पक्ष में अस् का अकार-लोप स्तात्। इसी प्रकार स्ताम्, सन्तु मे अकार-लोप।

७४६ घ्वसोरिति—घुसंज्ञक तथा अस् धातु को एत्व हो जाता है हि परे होने पर और अभ्यास का लोप भी।

[यह सूत्र दो कार्य करता है एत्व और अभ्यास लोप, एत्व तो घुसंज्ञक 'दा' आदि धातु तथा अस् धातु दोनो में होता है, किन्तु अभ्यास लोप दा आदि मे ही। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य वर्ण को ही एत्व होता है।]

एत्वस्येति—एत्व के असिद्ध होने से हि को धि हो जाता है। ('असिद्धवदत्रा-भात्' से 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' के प्रति 'घ्वसो०' इत्यादि से होने वाला एत्व असिद्ध है, क्योंकि दोनों कार्य आभीय हैं)। श्नसो ० से अकार लोप होता है। जैसे—

एधि—अस् धातु के लोट् म० पु० एक० मे 'अस् हि' इस दशा मे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' को बाधकर परत्वात् 'घ्वसोरेद्०' इत्यादि से सकार को एकार होकर अ ए हि, यहाँ आभीय होने से एत्व हुझल्भ्यो हेर्धिः के प्रति असिद्ध हो जाता है अत. हि के स्थान मे धि हो जाता है। अ ए धि यहाँ धि (हि) अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है अत 'श्नसोरल्लोपः' से अस् के अकार का लोप होकर एधि रूप होता है।

हेधिः। 'श्नसोः' इत्यल्लोपः। तातङ् पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्। एधि-स्तात्, स्तम्, स्त। असानि, असाव, असाम।

आसीत्, आस्ताम्, आसन्। स्यात्, स्याताम्, स्युः। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्।

शीङ् स्वप्ने ॥४॥

७४७। शीङः सार्वधातुके गुणः ।७।४।२१॥

'क्ङिति च' इत्यस्यापवादः। शेते, शयाते।

तातङ् पक्षे इति—आशिषि लोट् में अस् हि इस दशा में पर होने से एत्व को बाधकर हि को तातङ् हो जाता है। अस् तात्, यहाँ श्नसोरल्लोपः' से अकार लोप होकर 'स्तात्'। द्विवचन में स्तम्, बहुवचन में स्त।

असानि—लोट् उ० पु० एक० में अस् नि (मि) शप्-लुक, आट् अस् आ नि =असानि। द्विवचन मे असाव, बहु० मे ..साम। आट् पित् है अतः ङिद्वद्भाव नहीं होता और अस् के अकार का लोप नही होता।

आसीत्—अस् लङ् प्र० पु० एक० में 'आडजादीनाम्' से आट् तिप्-इकार लोप आ अस् त् इस दशा में 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट् का आगम वृद्धि (आ+अ=आ) होकर आसीत्। द्विवचन में आ अस् ताम्=आस्ताम्। यहाँ श्नसोरल्लोपः से अकार लोप होता है। इसी प्रकार बहु० में आ अस् अन् (झि)=आसन्।

स्यात्—अस् विधि लिङ् प्र० पु० एक० में अस् या त्, अ लोप होकर स्यात्। द्विवचन में अस् या ताम्=स्याताम्। बहुवचन में अस् या उस्=स्युः।

भूयात्—आ० लिङ् प्र० पु० एक०, अभूत्—लुङ् प्र० पु० एक० तथा अभविष्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० में आर्धधातुक का विषय होने से अस् के स्थान में भू आदेश होता है।

शीङ्—धातु 'सोना' अर्थ में है। (यह सेट् है तथा ङित् होने से आत्मनेपदी)।

७४७. शीङ् इति—शीङ् धातु को सार्वधातुक (प्रत्यय) परे होने पर गुण होता है।

क्ङिति चेति—यह गुण क्ङिति च (निषेध) का बाधक है। जैसे—

शेते—शी धातु से लट् प्र० पु० एक० में आत्मनेपद का 'त' प्रत्यय होता है शप्, शप्-लुक् टि को एत्व होकर 'शी ते' यहाँ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ईकार को गुण प्राप्त है; किन्तु 'त' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् है अतः 'क्ङिति च' से गुण होता है। इसी प्रकार द्विवचन में शी आते, गुण अयादेश शयाते। बहुवचन में—

७४८। शीङो रुट् ।७।१।७॥

शीङ परस्य झादेशस्यातो रुडागम स्यात्। शेरते। शेषे, शयाथे, शेध्वे। शये, शेवहे, शेमहे।

शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते।

शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। अशेत, अशयाताम्, अशेरत। शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।

इत्यदादय

---

७४८ शीङो रुट् इति—शीङ् से परे झ के आदेश 'अत्' को रुट का आगम होता है। [रुट् में उकार उच्चारण के लिये है टित् होने से यह 'अत्' के आदि में होता है]।

शेरते—शी लट् प्र० पु० बहु० में शी झ, 'आत्मनेपदेष्वनतः' से झ् के स्थान में 'अत्' टि (अ) के स्थान मे एकार और शी के ईकार को 'शीङ् सार्वधातुके गुण' से गुण होकर 'शे अते' यहाँ पर 'शीङो रुट्' से रुट् होता है। शेर् अते=शेरते।

शेषे—शी लट् म० पु० एक० में गुण होकर शेषे। इसी प्रकार म० पु० तथा उ० पु० के सभी रूपो मे धातु के ईकार को गुण (एकार) होता है।

शिश्ये—शी धातु के लिट् प्र० पु० एक० मे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से त के स्थान मे एश् (=ए), द्वित्व, अभ्यास ह्रस्व होकर 'शि शी ए' यहाँ 'एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य' से ईकार को यण् होकर शिश्ये। इसी प्रकार शिश्याते शिश्यिरे आदि।

शयिता—लुट् प्र० पु० एक० मे शी तास् डा यहाँ इट्, गुण होकर शे इ ता →अयादेश शयिता। यहाँ गुण 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' से होगा)। इसी प्रकार लृट् प्र० पु० एक० मे शयिष्यते।

शेताम्—लोट् प्र० पु० एकवचन मे शप् लुक→शी ताम्, गुण होकर शेताम्। द्विवचन में शयाताम्। बहुवचन मे रुट् होकर शेरताम्।

अशेत—शी लङ् प्र० पु० एकवचन मे अट्, शप्—लुक्, गुण होकर अशेत। द्विवचन मे अ शी आताम्→गुण अयादेश अशयाताम्। बहु० अ शी अत→रुट्, गुण होकर अशेरत।

शयीत—शी विधिलिङ् प्र० पु० एक० मे शप् लुक्, सीयुट् सुट् सलोप, शी ईय् त→यहाँ धातु को गुण, अयादेश यकारलोप होकर शयीत। द्विवचन मे शी ईय् आताम्=शयीयाताम्, बहुवचन मे शी ईय् रन्=शयीरन्।

शयिषीष्ट—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० में सीयुट्, सुट्, इट, गुण, अयादेश होकर शय् इ सी स् त→षत्व ष्टुत्व= शयिषीष्ट।

३. अथ जुहोत्यादिगणः

हु दानाऽदनयोः ॥१॥

७४९। जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ।२।४।७५॥

शपः श्लुः स्यात् ,

७५०। श्लौ ।६।१।१०॥

धातोर्द्वे स्तः। जुहोति, जुहुतः।

७५१। अदभ्यस्तात् ।७।१।४॥

अशयिष्ट—लुङ् प्र० पु० एक० में अट्, च्लि-सिच्, इट्, गुण अयादेश षत्व, ष्टुत्व होकर अ शय् इ स् त=अशयिष्ट।

अशयिष्यत—लुङ् प्र० पु० एक० में भी अट् स्य इट् गुण, अयादेश षत्व होता है।

इत्यदादयः।

जुहोत्यादि—जुहोति अर्थात् हु धातु है आदि में जिसके वह जुहोत्यादि गण है।

हु—यह धातु दान (होम करना, हवन करना) तथा अदन (खाना) अर्थ में है। (किन्हीं के मत में यह आदान=लेना तथा प्रीणन=तृप्त करना अर्थ में भी है—सि० कौ०)। यह परस्मैपदी तथा अनिट् है।

७४९. जुहोत्यादिभ्य इति—जुहोति आदि धातुओं से परे शप् का श्लु (लोप) हो जाता है। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६० के अनुसार प्रत्यय के लोप को 'श्लु' कहा गया है, इसका विशेष फल है]।

७५०. श्लाविति—श्लु होने पर धातु को द्वित्व होता है।

जुहोति—हु धातु के लट् प्र० पु० एक० में शप् का श्लु और 'श्लौ' से धातु को द्वित्व होकर 'हु हु ति' इस अवस्था में प्रथम हु को अभ्यास कार्य ('कुहोश्चुः' से हकार को झकार और अभ्यासे चर्च से झकार को जकार) होकर 'जु हु ति' यहाँ हु के उकार को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण (ओ) होता है। द्विवचन में जुहुतः, यहाँ तस् ङिद्वत् है अतः गुण नहीं होता।

७५१. अदिति—अभ्यस्त (संज्ञक) से परे झ् को 'अत्' होता है। 'झोन्तः' का यह अपवाद है। षष्ठ अध्याय के द्वित्व प्रकरण में जो द्वित्व होता है वे दोनों मिलकर अभ्यस्त कहलाते हैं—'उभे अभ्यस्तम्। ६।१।५॥, यहाँ भी षष्ठ अध्याय के 'श्लौ ६।१।१० सूत्र से द्वित्व हुआ है अतः हु हु की अभ्यस्त संज्ञा होती है]।

जुह्वति—हुधातु से लट् प्र० पु० बहुवचन में शप् श्लु द्वित्व अभ्यास

झस्यात् स्यात् । हुश्नुवो ' इति यण्—जुह्वति ।

७५२ । भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ।३।१।३९॥

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्, आमि श्लाविव कार्यं च । जुहवाञ्चकार-जुहाव ।

होता । होष्यति । जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु, जुहुधि, जुहवानि । अजुहोत्, अजुहुताम् ।

७५३ । जुसि च ।७।३।८३॥

कार्य तथा अदभ्यस्तात् से झ् को 'अत' आदेश होकर 'जुहु अति' इस अवस्था मे 'हु' के उकार को उवड् प्राप्त होता है, उसे बाधकर 'हुश्नुवो सार्वधातुके' से यण् हो जाता है।

७५२ भी ह्री इति—भी, ह्री, भृ और हु—इन धातुओ से लिट् में विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है और आम् परे होने पर श्लु परे होने के समान कार्य होता है।

जुहवाञ्चकार—हु धातु से लिट् प्र० पु० एक० मे आम् प्रत्यय होता है और उसके परे श्लु परे होने के समान ही द्वित्व आदि होता है हु हु आम् लिट् इस अवस्था मे अभ्यास कार्य, गुण अवादेश होकर जुहवाम् लिट्, 'आम.' सूत्र से लिट् का लुक् होकर लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग, मकार को अनुस्वार परसवर्ण होकर जुहवाञ्चकार। इसी प्रकार भू तथा अस् का अनुप्रयोग होने पर जुहवाम्बभूव जुहवामास इत्यादि।

जुहाव—पक्ष मे लिट् मे आम् न होने पर लिटि 'धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व अभ्यास कार्य, वृद्धि, आवादेश होकर जुहाव रूप होता है। थल् मे भारद्वाज नियम से इट् होकर जुहोथ जुहविथ।

होता—लुट् प्र० पु० एक० मे गुण होकर होता। लृट प्र० पु० एक० मे होष्यति। लोट् प्र० पु० एक० मे जुहोतु, आशिषि मे जुहुतात्। द्विवचन मे जुहुताम्, बहु० मे जुह्वतु (लट् बहु० के समान)। लोट् मध्यम पु० एक० मे जु हु सि→जु हु हि→'हुझल्भ्यो हेर्धि' से हि के स्थान मे धि आदेश होकर जुहुधि (हि' अपित् होने से ङित्वत् है अत. यहाँ गुण नही होता)। लोट् उ० पु० एक० मे जु हु नि, यहाँ 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् होता है जो पित् है अत पर होने से हुश्नुवो सार्वधातुके से प्राप्त यण् को बाधकर गुण, अवादेश होकर जुहवानि।

अजुहोत्—लङ् प्र० पु० एक० मे अट्, द्वित्व, अभ्यास कार्य, गुण आदि होते हैं। द्विवचन मे अजुहुताम्।

७५३. जुसीति—इगन्त अङ्ग को गुण होता है अजादि जुस् परे होने पर।

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि । अजुहवुः ।

जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् ।

भी भये ॥२॥ बिभेति ।

७५४ । **भियोऽन्यतरस्याम्** ।६।४।११५॥

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके । बिभितः-बिभीतः, बिभ्यति ।

अजुहवुः—लङ् प्र० पु० वहुवचन में अट्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर अ जु हु झि । इस दशा में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से झि को जुस् (=उस्) होता है । अ जु हु उस्, 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से प्राप्त यण् को बाधकर परत्वात् 'जुसि च' से गुण होता है, अवादेश होकर अजुहवुः ।

जुहुयात्—विधिलिङ् प्र० पु० एक० में जु हु यास् स् त्=जुहुयात् ।

हूयात्—आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० में हु या त्, यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से दीर्घ होकर हूयात् ।

अहौषीत्—लुङ् प्र० पु० एक० में अट्, च्लि-सिच्, अस्तिसिचोऽपृक्ते से ईट् होकर अ हु स् ई त् इस दशा में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि (उकार को औकार), षत्व होता है । लङ् प्र० पु० एक० में अ हु स्य त्=अहोष्यत् ।

भी—इति—भी धातु डरना (भय) अर्थ में है । (यह परस्मैपदी तथा अनिट् है) ।

बिभेति—भी धातु से लट् प्र० पु० एक० में तिप्, शप्-श्लु द्वित्व अभ्यास कार्य ईकार को गुण (ए) होता है ।

७५४. **भिय इति**—भी धातु (के अन्त्य वर्ण) को विकल्प से इकार होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर ।

बिभितः-बिभीतः—लट् प्र० पु० द्विवचन में तस् होकर शप्-श्लु द्वित्व आदि होकर बि भी तस्, यहाँ 'भियो'० इत्यादि से ईकार को विकल्प से इकार होता है । बहुवचन में बि भी झि, अदभ्यस्तात् यण् बिभ्यति । म० पु० में बिभेषि, बिभिथः बिभीथः, बिभिथ-बिभीथ । उ० पु० में बिभेमि, बिभिवः—बिभीवः, बिभिमः—बिभीमः ।

बिभयाञ्चकार—भी लिट् प्र० पु० एक० में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' से विकल्प से आम् होकर रूप सिद्ध होता है । पक्ष में बिभाय ।

भेता—लुट् प्र० पु० एक० में भी तास् डा (अनिट्) गुण होकर भेता । लृ प्र० पु० एक० भेष्यति ।

बिभयाञ्चकार-बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्।

डुदाञ् दाने ॥३॥

ददाति, दत्त, ददति। दत्ते, ददाते, ददते।

ददौ, ददे। दातासि, दातासे। दास्यति, दास्यते। ददातु (दत्ताम्)।

बिभेतु—लोट् प्र० पु० एक० म लट के समान कार्य, तिप् मे इकार को उकार। आशिषि मे विकल्प से तातङ् उसके होने पर विकल्प से ईकार होकर बिभितात्—बिभीतात्।

अबिभेत्—लङ् प्र० पु० एक० मे अट् शप् श्लु द्वित्व अभ्यास कार्य होकर अ बि भी त् यहाँ 'भी' के ईकार को गुण होता है। द्विवचन मे अबिभिताम् अबिभीताम् (ईकार को विकल्प मे इकार)।

बिभियात् बिभीयात्—भी विधि लिङ् प्र० पु० एक० मे शप्, श्लु द्वित्व अभ्यास कार्य, यासुट सलोप आदि होते हैं। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' से यासुट् ङित् है अत इसके परे रहते विकल्प से इकार होता है।

भीयात्—आशिषि लिङ् प्र० पु० एक० मे यासुट् सुट्, स लोप, आर्धधातुक होने से ईकार को इकार आदि नही होते। इसी प्रकार भीयास्ताम्, भीयासु आदि।

अभैषीत्—लुङ् प्र० पु० एकवचन मे अट् सिच् ईट् (अस्तिसिचोऽपृक्ते) होकर अ भी स् ईत् इस दशा मे 'सिचि वृद्धि- परस्मैपदेषु' से वृद्धि (ईकार को ऐ), षत्व होता है।

अभेष्यत्—लृङ् प्र० पु० एकवचन मे अट् स्य, गुण, षत्व आदि होते हैं।

डुदाञ्—दा धातु देना अर्थ म है। [यह ञित् है अत उभयपदी है। डु भी इत्संज्ञक है। धातु अनिट् है।]

ददाति—दा धातु लट् प्र० पु० एक० (परस्मैपद) मे शप् श्लु, द्वित्व अभ्यास को ह्रस्व होता है। द्विवचन मे द दा तस् इस दशा मे 'श्नाभ्यस्तयोरात.' से आकार लोप, दकार को चर्त्व होकर दत्त। बहुवचन मे द दा झि, यहाँ 'अदभ्यस्तात्' मे झ् को अत्, 'श्नाभ्यस्तयोरात' से आकार लोप होकर ददति।

दत्ते—दा लट् प्र० पु० एक० (आत्मनेपद) शप् श्लु, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर द दा ते इस दशा म आकार लोप, चर्त्व होता है। द्विवचन म ददाते। बहुवचन मे द दा झ=ददते यहाँ झ् को अत् आदेश तथा आकारलोप होता है।

ददौ—लिट् प्र० पु० एकवचन (परस्मै०) मे णल् को (आत औ णलः) औकार आदेश, वृद्धि होती है। आत्मनेपद मे दा दा ए=ददे (यहाँ 'आतो लोप इटि च' से आकारलोप होता है।

टिप्पणी—परस्मै० म० पु० एक० थल् मे भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्

७५५। दाधाघ्वदाप् ।१।१।२०॥

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसञ्ज्ञाः स्युः, दाप्दैपौ विना।
घ्वसोः इति एत्वम्—देहि। दत्तम्। अददात्, अदत्त।
दद्यात्, ददीत, देयात्, दासीष्ट। अदात्, अदाताम्, अदुः।

होकर 'आतो लोप इटि च' से आकारलोप होकर ददिथ, पक्ष में ददाथ। आत्मने० के ददिषे, ददिध्वे, ददिवहे, ददिमहे रूपों मे क्रादिनियम में इट् होकर 'आतो लोप०' से आकारालोप होता है।

दातासि—लुट् म० पु० एक० परस्मै० का रूप है, आत्मने० में दातासे रूप होता है।

दास्यति—लृट् प्र० पु० एक० परस्मै० है तथा दास्यते आत्मनेपद। ददातु लोट् प्र० पु० एक० परस्मैपद है। आत्मनेपद में दत्ताम्, ददाताम्, ददताम् रूप होंगे।

७५५. दाधेति–दा रूप और धा रूप धातुएं घुसंज्ञक होती हैं, किन्तु दाप् और दैप् नहीं।

टिप्पणी—इस सूत्र से ६ धातुओं की घुसंज्ञा होती है। 'डुदाञ् दाने' और दाण् दाने' दो तो स्वतः दा रूप हैं और 'दो अवखण्डने' देङ् रक्षणे' इन दो के ओकार तथा एकार को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार होकर दा रूप हो जाता है। इस प्रकार ये चार हैं। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' स्वतः धा रूप है और 'धेट् पाने' के एकार को आकार होता है। ये दो ही हैं।

देहि—लोट् म० पु० एक० (परस्मै०) में शप्, श्लु, द्वित्व अभ्यास ह्रस्व होकर द दा दि (हि) इस दशा में घुसंज्ञा होने के कारण 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' सूत्र से 'दा' के आकार को एकार और अभ्यास का लोप होता है। द्विवचन में द दा तम्→आलोप चर्त्व होकर दत्तम्।

अददात्—लङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट् शप् श्लु, द्वित्व आदि होते हैं। द्विवचन में अदत्ताम्। बहु० में अददुः यहाँ 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से झि के स्थान में जुस् हो जाता है।

अदत्त—लङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अ द दा त→आकार लोप चर्त्व होकर अदत्त।

दद्यात्—विधि लिङ् प्र० पु० एकव० परस्मै० में 'द दा या त्' इस दशा में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार लोप होता है। आत्म० में द दा सीय् स् त इस दशा में सलोप होकर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार लोप होकर द द् ईय् त→यकारलोप ददीत।

७५६ । स्थाघ्वोरिच्च ।१।२।१७॥

अनयो 'इद्' अन्तादेश, सिच्च कित् स्याद् आत्मनेपदे । अदित ।

अदास्यत्, अदास्यत ।

डुधाञ् धारणपोषणयो ॥४॥ दधाति ।

७५७ । दधस्तथोश्च । ८।२।३८॥

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात् तथो. परयोः स्ध्वोश्च परत ।

धत्त, दधाति । दधासि, धत्थ, धत्थ ।

धत्ते दधाते, दधते । धत्से, धद्ध्वे ।

देयात्—दा आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे दा यास् त्→स लोप एलिङि से दा के आकार को एकार होता है । आत्मने० म दा सीय् स् त यहाँ य लोप षत्व होकर दासीष्ट ।

अदात्—लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) म अट् च्लि सिच् होकर अ दा स् त् इस दशा म 'गातिस्थाघुपाभूभ्य सिच परस्मैपदेषु से सिच् का लोप (लुक्) होता है । द्विवचन मे अदाताम् । बहुवचन म अ दा स् झि इस दशा म सिच् लुक् होकर 'आत' से झि के स्थान म जुस् (उस्) तथा उस्यपदान्तात् से पररूप होकर अदु । —

७५६ स्थाघ्वोरिति—स्था और घुसंज्ञक इन दोनो को इकार अन्तादेश होता है और सिच् कित् होता है आत्मनेपद म ।

अदित—दा लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) म अ दा स् त इस स्थिति मे 'स्थाघ्वोरिच्च' स दा के अन्त्य (आकार) को इकार और स् (सिच्) को कित्व होता है । सिच् के कित् होन से इकार को गुण नही होता । 'ह्रस्वादङ्गात्' से सलोप होता है । इसी प्रकार अदिषाताम्, अदिषत आदि ।

अदास्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे अदास्यत्, आत्मने० मे अदास्यत ।

डुधाञ्—धा धातु धारण और पोषण अर्थ म है । [ञित् होने से यह भी उभयपदी है । यह अनिट् है ।]

दधाति—धा धातु के लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) म तिप्, शप् श्लु, द्वित्व अभ्यास कार्य होकर दधाति ।

७५७ दधस्तथोरिति—जिसे द्वित्व किया गया है ऐसी झषन्त धा धातु के बश् (ब, ग, ड, द) को भष् (भ, घ, ढ, ध) हो जाता है यदि तकार, थकार, सकार अथवा ध्व परे हो ।

धत्त—धा लट् प्र० पु० द्विवचन (परस्मै०) मे तस्, शप् श्लु द्वित्व अभ्यास—ह्रस्व होकर ध धा तस् इस दशा मे 'अभ्यासे चर्च' स अभ्यास

घसोरेद्धावभ्यासलोपश्च—धेहि । अद्धात्—अधत्त ।
दध्यात्—दधीत । धेयात्—धासीष्ट । अधात्-अधित ।
अधास्यत्-अधास्यत ।

इति जुहोत्यादयः

के धकार को दकार होता है तथा 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से धा के आकार का लोप हो जाता है। 'द ध् तस्' यहाँ 'दधस्तथोश्च' से अभ्यास के दकार (बश्) को धकार (भष्) और आगे के धकार को चर्त्व (तकार), सकार को विसर्ग होकर धत्तः रूप होता है। वहुवचन में दधति, म० पु० एकव० दधासि, द्विवचन में धत्थः (धत्तः के समान), वहुवचन में धत्थ।

धत्ते—लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में द ध् ते→भष्भाव, चर्त्व होकर धत्ते। द्विवचन में दधातेः, वहु० में दधते। म० पु० एक० में द ध् से=धत्से, वहु० में द ध् ध्वे=धद्ध्वे।

धेहि—धा धातु लोट् म० पु० एक० (परस्मै०) में 'दधाहि 'घ्वसो०' इत्य द से एत्व तथा अभ्यासलोप होकर देहि के समान।

अदधात्—लङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट् शप्-श्लु, द्वित्व अभ्यास कार्य होता है। आत्मने० में अ द धा त, यहाँ आकार लोप भष्भाव चर्त्व हो . . अधत्त।

दध्यात्—विधि लिङ् प्र० प० एक० (परस्मै०) में द धा या त् इस दशा मे आकार-लोप, परनिमित्त न होने से भष्भाव नही होता। आत्मने० मे द धा सीय् त=दधीत (ददीत के समान)।

धेयात्—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में धा यास् स् त्=धेय . (देयात् के समान। आत्मने० में धा सीय् स त=धासीष्ट (दासीष्ट के समान)।

अधात्—लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अ धा स् (सिच्) त्=अधा (अदात् के समान)। आत्मने० में अ धा स् त=अधित (अदित के समान)।

अधास्यत्=लृङ् प्र० पु० एकव० (परस्मै०) में होता है तथा आत्मने० अधास्यत।

इति जुहोत्यादयः।

४. अथ दिवादिगणः

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ॥१॥

७५८ । दिवादिभ्यः श्यन् ।३।१।६९॥

शपोऽपवादः । हलि च' इति दीर्घः दीव्यति ।

दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् ।

दिवादिगण—दिव् धातु जिसके आदि में है वह धातुसमुदाय दिवादिगण कहलाता है ।

दिवु—दिव् धातु क्रीडा आदि अर्थों में है । [यह परस्मैपदी है तथा सेट् है । उदित् होने से क्त्वा में इट् विकल्प से होता है तथा निष्ठा में इट् नहीं होता ।

७५८. दिवादिभ्य इति—दिव् आदि धातु से श्यन् प्रत्यय होता है कर्तृवाच्य सार्वधातुक परे होने पर । [यहाँ 'कर्तरि शप्' से 'कर्तरि' और 'सार्वधातुके यक्' से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति होती है । श्यन् के शकार और नकार की इत् संज्ञा होती है 'य' शेष रहता है, शित् होने से यह सार्वधातुक है ।]

शप इति—श्यन् प्रत्यय शप् का अपवाद है (कर्तरि शप् से प्राप्त शप् को बाध कर दिव् आदि धातु से श्यन् ही होता है ।)

दीव्यति—दिव् धातु के लट् प्र० पु० एक० में तिप्, श्यन् होकर दिव् य ति इस अवस्था में श्यन् के ङिद्वत् (सार्वधातुकमपित्) होने से गुण नहीं होता, 'हलि च' से दीर्घ होकर दीव्यति रूप होता है ।

टिप्पणी—हलि च ८।२।७७ का अर्थ है—रेफान्त तथा वकारान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है हल् परे होने पर । इसी सूत्र से दीव्यतु, अदीव्यत्, दीव्येत्, दीव्यात् आदि में दीर्घ होता है ।

दिदेव—लिट् प्र० पु० एक० में द्वित्व, अभ्यासह्रस्व, लघूपध गुण होकर दि देव् अ (णल्) = दिदेव ।

देविता—लुट् प्र० पु० एक० में (सेट् होने से) 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् होता है । इसी प्रकार लृट् प्र० पु० एक० में देविष्यति । लोट् प्र० पु० एक० में दीव्यतु (दीव्यति के समान) । लोट् म० पु० एक० में दिव् य हि→दीर्घ, 'अतो हेः' से हि लोप होकर दीव्य । लङ् प्र० पु० एक० में अदीव्यत् ।

दीव्येत्—विधि लिङ् प्र० पु० एक० में दिव् य (श्यन्) यास् त्' इस दशा में 'अतो येयः' से इय् आदेश होकर भवेत् के समान रूप होता है । आशीर्लिङ् में दिव् यास् स् त् = दीव्यात् ।

अदेवीत् । अदेविष्यत् ।

इति दिवादयः

५. अथ स्वादिगणः

षुञ् अभिषवे ॥१॥

७५६ । स्वादिभ्यः श्नुः ।३।१।७३॥

शपोऽपवादः । सुनोति, सुनुतः, 'हुश्नुवोः इति यण्-सुन्वन्ति । सुन्वः-सुनुवः ।

अदेवीत्—लुङ् प्र० पु० एकव० में अ दिव् इ (इट्) स् (सिच्) ई (ईट्, अस्ति-सिचोऽपृक्ते) इस दशा में इट ईटि से सकार का लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य' से इकार को गुण (एकार) होकर अदेवीत् ।

अदेविष्यत्—लृङ् प्र० पु० एकव० में अ दिव् इ स्य त्→गुण षत्व होकर अदेविष्यत् ।

इति दिवादयः ।

स्वादिगण—जिस धातु-समुदाय के आदि में सु धातु है वह स्वादिगण कहलाता है ।

षुञ्—सु धातु अभिषव अर्थ में है । [अभिषव का अर्थ है—स्नान कराना, सोम रस निकालना (पीडनम्) स्नान करना और सुरा का उत्पादन (सुरासन्धान), इनमें से 'स्नान करना' अर्थ में अकर्मक है । षुञ् धातु ञित् है अतः उभयपदी है । यह अनिट् और षोपदेश=उपदेश में षकारादि है, 'धात्वादेः षः सः से षकार को सकार हो जाता है ।]

७५६. स्वादिभ्य इति—सु आदि धातुओं से कर्तृवाच्य सार्वधातुक परे होने पर 'श्नु' (विकरण) होता है । यह शप् का अपवाद है । (श्नु में शकार की इत् संज्ञा होती है, शित् होने से यह सार्वधातुक है और सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् होता है ।]

सुनोति—सु धातु से लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप्, श्नु होकर सु नु ति इह दशा में श्नु के ङित् होने से धातु को गुण नहीं होता किन्तु तिप् के निमित्त से नु के उकार को गुण (ओ) होता है । द्विवचन में 'सु नु तस्' यहाँ तस् के भी ङिद्वत् होने (सार्वधातुकमपित्) से श्नु को गुण नहीं होता सु नु तः । बहुवचन में सु नु अन्ति' इस दशा में 'अचि श्नुधातु' से प्राप्त उवङ् को बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से उकार को यण् (वकार) हो जाता है सुन्वन्ति ।

सुन्वः-सुनुवः—लट् उ० पु० द्विवचन में सु नु वस्, इस दशा में 'लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः' सूत्र से विकल्प से उकार-लोप होता है । इसी प्रकार बहुवचन में सुन्मः-सुनुमः ।

सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते । सुन्वहे-सुनुवहे ।

सुषाव, सुषुवे । सोता । सुनु, सुनवानि, सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ।

७६० । स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ।७।२।७२॥

सुनुते—लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) मे त, श्नु, टि को एत्व होकर सु नु ते→त के ङिद्वत् होने से श्नु को गुण नहीं होना । द्विवचन मे सु नु आते इस दशा मे 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' मे यण् होकर सुन्वाते । बहुवचन मे 'सु नु झ' यहां झकार के स्थान मे 'आत्मनपदेष्वनत.' से 'अत्' आदेश तथा टि को एकार होकर 'सु नु अते' इस दशा मे पूर्ववत् यण् होना है सुन्वते ।

म० पु० मे सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे । उ० पु० एक० मे सु नु ए=सुन्वे ।

सुन्वहे सुनुवहे—लट् उ० पु० द्विवचन मे सु नु व हे' इस दशा मे 'लोपश्चान्यतरस्या म्वो' से विकल्प से उकार लोप होता है। इसी प्रकार बहुवचन मे सुन्महे-सुनुमहे ।

सुषाव—सु धातु लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर सु सु अ' इस दशा मे सु धातु के उकार को वृद्धि (औ), आवादेश तथा सकार को षत्व होता है । आत्मने० मे सु सु ए (त=एश्) उवङ् होकर सुषुवे इत्यादि । यह धातु अनिट् है लिट् परस्मै० थल् मे भारद्वाजनियम से विकल्प मे इट् होकर सुषोथ-सुषविथ रूप होने हैं तथा परस्मै० और आत्मने० के अन्य वलादिप्रत्ययो मे क्रादि नियम से नित्य इट् होता है जैसे सुषुविव आदि ।

सोता—लुट् प्र० पु० एक० परस्मै० तथा आत्मने० दोनो का रूप है ।

सुनु सु लोट् म० पु० एक० परस्मै० मे सु नु हि (सि) इस अवस्था मे 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से हि का लोप (लुक्) होता है ।

सुनवानि सु लोट् उ० पु० एक० (परस्मै०) मे मि प्रत्यय उसे 'मेर्नि' से नि और 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् का आगम होकर सु नु आ नि इस अवस्था म सार्वधातुकार्धधातुकयो से 'नु' के उकार को गुण (ओ) तथा 'अव्' होकर सुनवानि ।

सुनवै—सु लोट् उ० पु० एक० (आत्मने०) मे सु नु इ (इट्), यहाँ आट् का आगम इकार को एकार और 'एत ऐ' से ऐकार होकर सु नु आ ऐ इस अवस्था मे पूर्ववत् गुण, अव् आदेश और आ+ऐ=ऐ (वृद्धि) होती है ।

सुनुयात्—सु विधि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे श्नु, यासुट् सुट् सकार-लोप आदि होते हैं ।

सूयात्—सु आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे 'सु या त्' इस दशा मे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ' मे उकार को दीर्घ (ऊ) होता है ।

७६०. स्तुसुधूञ्भ्य इति—स्तु, सु और धू धातु से परे सिच् को इट् होता है परस्मैपद मे ।

एभ्यः सिच् इट् स्यात् परस्मैपदेपु । असावीत्, असोष्ट ।

इति स्वादयः ।

६. अथ तुदादिगणः

तुद व्यथने ॥१॥

७६१ । तुदादिभ्यः शः ।३।१।७७॥

शपोऽपवादः । तुदति । तुतोद, तुतोदिथ ।

असावीत्—सु धातु के लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट्, च्लि-सिच्, इट्, तथा ईट् आदि होकर 'अ सु इ स् ई त्' इस दशा में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से धातु के उकार को वृद्धि (औ), इट ईटि से सिच् के सकार का लोप होकर अ सौ इ ई त्, यहाँ आव् आदेश तथा इ+ई=ई होकर आसीवत् ।

असोष्ट—सु लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अ सु स् त इस अवस्था में धातु के उकार को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण (ओ), सिच् के सकार को षत्व और तकार को ष्टुत्व होता है ।

इति स्वादयः

तुदादि—जि धातु-समुदाय के आदि में तुद धातु है वह तुदादि गण कहलाता है ।

तुद—तुद् धातु 'पीडा देना' अर्थ में है । [इस धातु का अन्तिम अकार स्वरित है और उसकी इत्संज्ञा होती है अतः यह स्वरितेत् है तथा उभयपदी है । यह अनिट् है] ।

७६१. तुदादिभ्य इति—कर्तृवाच्य सार्वधातुक परे होने पर तुद् आदि धातुओं से 'श' (विकरण) होता है ।

शपोऽपवादः—श प्रत्यय शप् का बाधक है । ['श' में शकार की इत् संज्ञा होकर लोप होता है । यह शित् है अतः सार्वधातुक है । किन्तु पित् नहीं है अतः ङिद्वत् होता है (सार्वधातुकमपित्)] ।

तुदति—तुद् धातु से लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप्, श अनुबन्ध लोप होकर तुद् अ ति, इस दशा में 'श' के 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हो जाने से लघूपध गुण नहीं होता है । आत्मने० में तुदते इत्यादि ।

तुतोद—तुद् लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप् को णल्, द्वित्व अभ्यास कार्य होकर तु तुद् अ, यहाँ लघूपध गुण होता है ।

तुतोदिथ—लिट् म० पु० एक० (परस्मै०) में तु तुद् थ इस दशा में धातु अजन्त या अकारवान् नहीं अतः भारद्वाज नियम प्राप्त नहीं होता और क्रादिनियम से नित्य इट् लघूपध गुण होता है ।

तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत्, अतुत्त ।

इषु इच्छायाम् ॥२॥

इच्छति । एषिता, एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् ।

इति तुदादयः ।

तुतुदे—तुद् लिट् प्र० पु० एक० आत्मने० मे, त—एश्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर तु तुद् ए यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट् कित् है अतः लघूपध गुण नहीं होता।

तोत्ता—तुद् लुट् प्र० पु० एक० में परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों का रूप होता है। धातु अनिट् है अतः इट् नहीं होता।

अतौत्सीत्—तुद् धातु से लुङ् प्र० पु० एक० परस्मैपद में अट् तिप् इकारलोप, च्लि-सिच् होकर अ तुद् स् त् इस दशा में 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से तुद् के उकार को वृद्धि (औ) तथा 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट् का आगम और दकार को चर्त्व होकर अतौत्सीत्।

अतुत्त—तुद् धातु प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अट्, त, च्लि-सिच् होकर अ तुद् स् त, इस अवस्था में 'झलो झलि' से सकार का लोप हो जाता है। दकार को चर्त्व होता है।

इषु—इष् धातु इच्छा अर्थ में है। [यह धातु परस्मैपदी तथा सेट् है, उकार इत्संज्ञक है अतः उदित् है]।

इच्छति—इष् धातु से लट् प्र० पु० एक० में तिप्, श होकर इष् अ ति, इस अवस्था में 'इषुगमियमां छः' से षकार को छकार होकर तुक् का आगम होता है इ त् छ् अ ति, यहाँ तकार को श्चुत्व होकर इच्छति।

एषिता एष्टा—इष् लुट् प्र० पु० एक० में इष् ता यहाँ गुण तथा 'तीषसहलुभरुषरिषः' सूत्र से विकल्प से इट् होकर एषिता, इट् न होने पर गुण तथा ष्टुत्व होकर एष्टा।

एषिष्यति—लृट् प्र० पु० एक० में होता है। लोट् में इच्छतु आदि, लङ् में ऐच्छत् आदि, विधि लिङ् में इच्छेत्।

इष्यात्—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० में यासुट्-सुट्-स लोप होकर इष् या त् = इष्यात्।

ऐषीत्—इष् धातु से लुङ् प्र० पु० एक० में आट्, च्लि-सिच्, इट्, ईट् होकर आ इष् इ स् ई त्, इट ईटि से सलोप तथा आटश्च से वृद्धि (आ+इ=ऐ) होती है। लृङ् में ऐषिष्यत् आदि।

इति तुदादयः

७. अथ रुधादयः

रुधिर् आवरणे ॥१॥

७६२। रुधादिभ्यः श्नम् ।३।१।७८॥

शपोऽपवादः । रुणद्धि । श्नसोरल्लोपः रुन्धः, रुन्धन्ति । रुणत्सि, रुन्धः; रुन्ध । रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः । रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते ।

रुधादि—जिस धातु-समुदाय के आदि में रुध् धातु है वह रुधादिगण कहलाता है ।

रुधिर्—रुध् धातु 'रोकना' अर्थ में है । [यहाँ इर् की 'इर इत्संज्ञा वाच्या' वार्तिक से इत्संज्ञा होकर लोप होता है, अतः यह इरित् है, इकार स्वरित है इसलिये यह स्वरितेत् है तथा उभयपदी । यह अनिट् है] ।

७६२. रुधादिभ्य इति—रुध् आदि धातु से सार्वधातुक परे होने पर श्नम् होता है । यह शप् का अपवाद है । ['श्नम् में न शेष रहता है, मकार की इत्संज्ञा होने से यह मित् है] ।

रुणद्धि—रुध् धातु से लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में 'रुध् ति' इस अवस्था में 'रुधादिभ्यः श्नम्' से श्नम्, जो मित् होने से रु के उकार से परे (मिदचोऽन्त्यात् परः) होता है 'रु न ध् ति' इस दशा में 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'ति' के तकार को धकार होकर धातु के धकार को जश्त्व (दकार) होता है ।

रुन्धः-रुन्द्धः—रुध् लट् प्र० पु० द्विवचन में 'रु न ध् तस्' 'श्नसोरल्लोपः' से अकार लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से तस् के तकार को धकार और धातु के धकार को दकार (जश्त्व) होकर रुन् द् धस् इस दशा में णत्व के असिद्ध होने से नकार को अनुस्वार पर सवर्ण (नकार) होता है तथा 'झरो झरि सवर्णे' से विकल्प से दकार का लोप होकर रुन्धः, पक्ष में रुन्द्धः ।

रुन्धन्ति—रुध् लट् प्र० पु० बहु० (परस्मै०) में 'झि' अन्तादेश, श्नम् होकर रु न ध् अन्ति, इस अवस्था में 'श्नसोरल्लोपः' से अकार लोप; अनुस्वार-परसवर्ण होता है ।

रुणत्सि—लट् म० पु० एक० (परस्मै०) में रु न ध् सि→णत्व, चर्त्व होकर रूप बनता है । द्विवचन में रु न ध् थस् प्र० पु० के समान रुन्धः । बहुवचन में रु न ध् थ=रुन्ध ।

रुणध्मि—लट् उ० पु० एक० (परस्मै०) में रु न ध् मि इस दशा में णत्व होता है । द्विवचन में रु न ध् वस्, अकार लोप, (अन्तिम) सकार को विसर्ग रुन्ध्वः ।

ररोध-ररधे । रोद्धा । रोत्स्यति-रोत्स्यते । रुणद्धु रुन्धात् रुन्धाम् रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम । रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै ।

रुन्धे—रुध् लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में त एत्व श्नम् अकार लोप, तकार को धकार होता है । द्विवचन में रु न् ध् आते = रुन्धाते । बहुवचन में र न् ध् अते = रुन्धते । ये सभी प्रत्यय सार्वधातुकमपित् से ङित् हैं अतः श्नसोरल्लोपः से श्नम् के अकार का लोप होता है ।

ररोध—लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप् णल, द्वित्व अभ्यासकार्य लघूपधगुण होता है । आत्मने० में र रुध् ए (एश्) इस दशा में लिट् के कित् होने से गुण नहीं होता ररुधे ।

टिप्पणी—लिट् आर्धधातुक है इसके वलादि प्रत्ययों में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है जैसे ररोधिथ, ररुधिव, ररुधिम । आत्मने० में ररुधिषे, ररुधिध्वे, ररुधि-वहे, ररुधिमहे ।

रोद्धा—लुट् प्र० पु० एक० परस्मै० तथा आत्मने० दोनों का रूप है । लृट् परस्मै० रोत्स्यति आदि तथा आत्मने० में रोत्स्यते आदि ।

रुणद्धु—लोट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में रु न ध् तु = रुणद्धु (रुणद्धि के समान) । आशिषि में विकल्प से तातङ् आदेश होकर रुन्धात् । द्विवचन में र न् ध् ताम् = रुन्धाम् । बहुवचन में रु न् ध् अन्तु = रुन्धतु ।

रुन्धि—लोट् म० पु० एक० (परस्मै०) में सि-हि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' होकर रु न् ध् धि = रुन्धि रुन्द्धि ।

रुणधानि—लोट् उ० पु० एक० (परस्मै०) में मि-नि-आट् होकर रु न ध् आ नि = रुणधानि । द्विवचन में रुणधाव । बहुवचन में रुणधाम ।

रुन्धाम्—लोट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में र न ध ताम् = रुन्धाम्-रुन्द्धाम् । द्विवचन में रु न् ध् आताम् = रुन्धाताम् । बहुवचन में रु न् ध् अताम् = रुन्धताम् ।

रुन्त्स्व—लोट् म० पु० एक० (आत्मने०) में रु न् ध् स्व यहाँ धकार को चर्त्व होता है ।

रुणधै—लोट् उ० पु० एक० (आत्मने०) में इट् प्रत्यय को एत्व तथा ऐत्व श्नम् होकर रु न ध् ऐ इस दशा में 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् का आगम होता है उसके पित् होने से प्रत्यय ङित् नहीं होता, अतः 'श्नसोरल्लोपः' से श्नम् के अकार का लोप न होकर रु न ध् आ ऐ यहाँ नकार को णत्व, आ+ऐ=ऐ (वृद्धि) होती है । द्विवचन में रु न ध् आ (आट्) वहै = रुणधावहै । बहुवचन में रु न ध् आ महै = रुणधामहै ।

अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धन् । अरुणत्-अरुणत्-अरुणः ।

अरुन्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत । अरुन्धाः ।

रुन्ध्यात्-रुन्धीत । रुध्यात्-रुत्सीष्ट ।

अरुधत्-अरौत्सीत् । अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत । अरोत्स्यत्-अरोत्स्यत ।

इति रुधादयः

अरुणत्—रुध् लङ् प्र० प० एक० (परस्मै०) मे अ रु न ध् त् इस दशा में 'हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से तिप् के तकार का लोप, धकार को विकल्प से चर्त्व होकर अरुणत् । पक्ष मे जश्त्व होकर अरुणद् । द्विवचन में अ रु न् ध् ताम्=अरुन्धाम् । बहुवचन मे अ रु न् ध् अ न्=अरुन्धन् ।

अरुणत्-अरुणः—लङ् म० पु० एक० (परस्मै०) में अ रु न ध स् (सिप्) इस दशा में 'हलङ्याब्भ्यो०' इत्यादि से सलोप होकर धकार को दकार (जश्त्व) और दकार को विकल्प से तकार (चर्त्व) होकर अरुणत् । पक्ष में दकार को 'दश्च' से रु तथा विसर्ग होकर अरुणः ।

अरुन्ध—लङ् प्र० प० एक० (आत्मने०) में अ रु न् ध् त=अरुन्ध-अरुन्द्ध । द्विवचन मे अ रु न् ध् आताम्=अरुन्धाताम्, बहुवचन में अ रु न् ध् अत=अरुन्धत । म० पु० एक० मे अ रु न् ध् थास्=अरुन्धाः-अरुन्द्धाः ।

रुन्ध्यात्—विधि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में रु न् ध् या त्=रुन्ध्यात् । आत्मने० में रु न् ध् सीय् त्=रुन्धीत ।

रुध्यात्—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में रुध् यात्=रुध्यात् । आत्मने० में रुध् सीय् स् त इस दशा में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से लिङ् कित् हो जाता है, अतः लघूपध गुण नहीं होता । यलोप, षत्व, ष्टुत्व होकर रुत्सीष्ट ।

अरुधत्-अरौत्सीत्—रुध् लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट् च्लि, च्लि को 'इरितो वा' से विकल्प से अङ् होकर अ रुध् अ त्=अरुधत् । पक्ष में च्लि को सिच् होकर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि होकर अरौत्सीत् ।

अरुद्ध—लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में च्लि-सिच् होकर अ रु ध् स् त इस दशा में 'झलो झलि' से सलोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से तकार को धकार होकर धातु के धकार को दकार (जश्त्व) होता है । द्विवचन मे अरुत्साताम् । बहुवचन में अरुत्सत ।

अरोत्स्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अ रुध् स्य त् यहाँ गुण, चर्त्व होता है । आत्मने० मे अरोत्स्यत ।

इति रुधादयः

८. अथ तनादयः

तनु विस्तारे ॥१॥

७६३। तनादिकृञ्भ्य उ ।३।१।७९॥

शपोऽपवादः । तनोति तनुते । ततान-तेने । तनितासि तनितासे तनिष्यति-तनिष्यते । तनोतु तनुताम् ।

तनादि—जिस धातु-समुदाय के आदि में तन् धातु है वह तनादि गण कहलाता है।

तनु—तन् धातु विस्तार करना (फैलाना) अर्थ में है। यहाँ उकार की इत्संज्ञा है, अतः उदित् है। उकार स्वरित है, अतः स्वरितेत् है तथा उभयपदी है। यह सेट् है।

७६३. तनादीति—तन् आदि तथा कृ धातु से कर्तृवाच्य सार्वधातुक परे होने पर 'उ' (विकरण) होता है। यह शप् का बाधक है।

तनोति—तन् धातु से लट् लकार प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप्, 'तनादिकृञ्भ्य उ' से उ (विकरण) होकर 'तन् उ ति' इस दशा में तिप् के निमित्त से उकार को गुण (ओ) होता है। इसी प्रकार तनोषि, तनोमि। द्विवचन में तनुतः, यहाँ तस् के ङित् होने से गुण नहीं होता। इसी प्रकार तनुथ, तनुवः, तनुमः, में भी। यहाँ उकार का विकल्प से लोप होकर तन्वः—तन्मः रूप भी होते हैं।

तनुते—लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में तन् उ ते→त प्रत्यय के ङित् होने से गुण नहीं होता।

ततान—लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप् णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य उपधा के अकार को वृद्धि आकार होता है। आत्मने० में द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'त तन् ए' इस दशा में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित्व होकर 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' से तन् के अकार को एकार और अभ्यास लोप होकर तेने रूप होता है।

तनितासि—लुट् म० पु० एक० (परस्मै०) इट् होता है। आत्मने० में तनितासे। इसी प्रकार लृट् में इट् होकर (परस्मै०) तनिष्यति, (आत्मने०) तनिष्यते आदि।

तनोतु—लोट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तन् उ तु=तनोतु। आत्मने० में तन् उ ताम्=तनुताम्।

अतनोत्-अतनुत। तनुयात्-तन्वीत। तन्यात्-तनिषीष्ट। अतानीत्-अतनीत्।

७६४। तनादिभ्यस्तथासोः। २।४।७९॥

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् तथासोः। अतत-अतनिष्ट। अतथाः-अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्-अतनिष्यत।

डुकृञ् करणे ॥२॥ करोति।

अतनोत्—तन् लङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे अ तन् उ त्, यहाँ उकार को गुण (ओ) होता है। आत्मने० मे अ त न् उ त=अतनुत।

तनुयात्—तन् विधि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तन् उ यात्। आत्मने० में तन्उसीय् त→सलोप, यलोप, यण् होकर तन्वीत।

तन्यात्—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तन् या त्। आत्मने० में सीयुट् सुट् इट् होकर तन् इ सीय् स् त इस दशा मे यलोप षत्व ष्टुत्व होकर तनिषीष्ट।

अतानीत्-अतनीत्—तन् लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे च्लि सिच्, इट्-ईट्, होकर अ त न् इ स् ई त् इस दशा मे 'अतो हलादेर्लघोः' से विकल्प से वृद्धि (अकार को आकार) और 'इट ईटि' से सलोप होता है।

७६४. तनादिभ्य इति—तन् आदि धातुओं से परे सिच् का विकल्प से लुक् (लोप) होता है त और थास् (प्रत्यय) परे होने पर।

विशेष—यहाँ 'त' से प्रथम पुरुष एकवचन के 'त' प्रत्यय का ग्रहण होता है म० पु० बहुवचन के 'त' का नही।

अतत-अतनिष्ट—लुङ् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में अ त न् स् त इस दशा में 'तनादिभ्यस्तथासोः' से सिच् के सकार का लोप होकर 'अनुदात्तोपदेशवनतितनो-त्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' से नकार का लोप अतत। पक्ष में सिच् का लोप नही होता, इट् षत्व, ष्टुत्व होकर अतनिष्ट।

अतथा-अतनिष्ठाः—लुङ् म० पु० एक० (आत्मने०) में अ त न् स् थास्, इस अवस्था में सिच्-लोप, न-लोप अन्तिम सकार को विसर्ग होकर अतथाः। पक्ष में सिच् लोप न होने पर इट्, षत्व, ष्टुत्व, विसर्ग होकर अतनिष्ठाः।

अतनिष्यत्—तन् लृङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अतन् इ स्य त्=अतनिष्यत्। आत्मने० मे अ तन् इ स्य त=अतनिष्यत।

डुकृञ्—कृ धातु 'करना' अर्थ में है। [इसका डु इत्संज्ञक है और ञकार भी। ञित् होने से यह उभयपदी है। अनिट् है।]

करोति—कृ लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में कृ उ ति इस दशा में ऋकार को उप्रत्यय के निमित्त से गुण (अर्) तथा उकार को तिप् प्रत्यय के निमित्त से 'सार्व-धातुकार्धधातुकयोः' से गुण (ओ) हो जाता है।

७६५ । अत उत् सार्वधातुके ।६।४।११०॥

उप्रत्ययान्तकृञोऽकारस्य उत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति । कुरुतः ।

७६६ । न भकुर्छुराम् ।८।२।७९॥

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः । कुर्वन्ति ।

७६७ । नित्यं करोतेः ।६।४।१०८॥

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः । कुर्वः, कुर्मः । कुरुते । चकार-चक्रे । कर्ता । करिष्यति करिष्यते । करोतु-कुरुताम् । अकरोत्-अकुरुत ।

---

७६५ अत इति—उप्रत्ययान्त कृञ धातु के अकार को उकार होता है सार्वधातुक कित् ङित् पर होने पर ।

कुरुतः—कृ लट् प्र० पु० द्विवचन (परस्मै०) में तस् उ विकरण होकर कृ उ तस्, इस अवस्था में कृ के ऋकार को उ के निमित्त से गुण (अर्) कर् उ तस्, यहाँ 'तस्' 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् है अतः 'अत उत् सार्वधातुके' से कर् के अकार को उकार होता है और तस् के निमित्त से उ को गुण नहीं होता ।

७६६. नेति—भसंज्ञक और कुर् तथा छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता, [यह 'हलि च' से प्राप्त दीर्घ का बाधक है] ।

कुर्वन्ति—कृ लट् प्र० पु० बहुवचन (परस्मै०) में कृ उ अन्ति (झि) इस अवस्था में उ के निमित्त से कृ के ऋकार को गुण (अर्) होकर अकार को उकार होता है । कुर् उ अन्ति, यहाँ 'इको यणचि' से उकार को यण् (वकार) होकर कुर् वन्ति इस दशा में 'हलि च' से (उकार को) दीर्घ प्राप्त होता है जिसका 'न भकुर्छुराम्' से निषेध हो जाता है ।

७६७ नित्यमिति—कृ धातु के प्रत्यय के उकार का नित्य लोप हो जाता है मकार वकार परे होने पर । [यह 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' का बाधक है] ।

कुर्वः—कृ लट् उ० पु० द्विवचन (परस्मै०) में कृ उ वस् गुण (अर्), अकार को उकार होकर कुर् उ वस् इस दशा में 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' से विकल्प से उकार लोप प्राप्त था उसे बाधकर 'नित्यं करोतेः' से नित्य लोप होता है । इसी प्रकार बहुवचन में कृ उ मस = कुर्मः ।

कुरुते—कृ धातु लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में कृ उ ते, यहाँ गुण, अकार को उकार होकर कुर् उ ते→त प्रत्यय के ङिद्वत् होने से उकार को गुण नहीं होता ।

चकार—लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में चकार । आत्मने० में चक्रे । म० पु० एक० (परस्मै०) में चकर्थ, यहाँ 'कृसृभृवृ' आदि सूत्र से इट् निषेध होता है । ऋकारान्त होने से भारद्वाज नियम से भी इट् नहीं होता । चकृव आदि में भी इट् नहीं होता । लुट् प्र० पु० एक० में परस्मै० तथा आत्मने० दोनों में कर्ता । लृट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में करिष्यति, आत्मने० में करिष्यते । (लृट् में ऋद्धनोः स्ये से, इट् होता है) । लोट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में करोतु आत्मने० में कुरुताम् ।

७६८। ये च।६।४।१०६॥

कृञ् उलोपो यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्।

कुर्वीत। क्रियात्-कृषीष्ट। अकार्षीत्-अकृत।

अकरिष्यत्-अकरिष्यत।

इति तनादयः

अकरोत्—लङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) मे अट्, तिप्-इकार लोप, उविकरण तथा गुण होकर अ कर् ओत्=अकरोत्। आत्मने० मे त प्रत्यय के ङिद्वत् होने से अकार को उकार होता है और प्रत्यय को गुण नहीं होता अ कुर् उ त=अकुरुत।

७६८. ये चेति—कृ धातु से उ प्रत्यय का लोप होता है यकारादि प्रत्यय परे होने पर।

कुर्यात्—कृ विधि लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में उ विकरण होकर 'कृ' के ऋकार को गुण (अर्), अकार को उकार होकर 'कुर् उ यात्' इस दशा में 'ये च' सूत्र से उ-लोप होता है। 'हलि च' से प्राप्त दीर्घ का न भकुर्छुराम्' से निषेध हो जाता है।

कुर्वीत—कृ विधि लिङ् प्र० एक० (आत्मने०) में कृ उ सीय् स् त गुण, अकार को उकार, सलोप होकर कुर् उ ई य् त→यलोप यण् (उ=व्) कुर्वीत।

क्रियात्—आशीर्लिङ् प्र० प० एक० (परस्मै०) मे कृ या त् इस दशा में 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से ऋकार को 'रि' आदेश होता है। आत्मने० में कृ सीय् स् त= कृषीष्ट।

अकार्षीत्—लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट्, च्लि-सिच्, ईट् होकर अ कृ स् ई त् इस दशा मे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से ऋकार को वृद्धि (आर्); सकार को षत्व होता है। आत्मने० मे 'अ कृ स् त' इस दशा में 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् के सकार का लोप होकर अकृत।

अकरिष्यत्-अकरिष्यत—लृङ् प्र० पु० एक० क्रमशः परस्मै० और आत्मने० के रूप हैं।

टिप्पणी—भूषण और समवाय अर्थ में सम् तथा परि उपसर्ग से परे कृ धातु को सुट् का आगम होता है। (सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे, समवाये च) जैसे संस्करोति= अलंकरोति, संस्कुर्वन्ति=संघीभवन्ति। इसी प्रकार भूषण, समवाय, प्रतियत्न, विकार तथा वाक्याध्याहार अर्थ में 'उप' से परे सुट् होता है। (उपात् प्रतियत्न०), जैसे— उपस्कृता कन्या, उपस्कृता ब्राह्मणाः, एधोदकस्योपस्कुरुते, उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं ब्रूते।

इति तनादयः

९. अथ क्र्यादयः

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये ॥१॥

७६९। क्र्यादिभ्यः श्ना। ३।१।८१॥

शपोऽपवादः। क्रीणाति ई हल्यघोः—क्रीणीतः, श्नाभ्यस्तयोरातः—क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते। क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

क्र्यादयः—क्री धातु जिस धातु गण के आदि में है वह क्र्यादिगण है।

डुक्रीञ्—क्री धातु द्रव्यों की अदलाबदली (खरीदना) अर्थ में है। वि पूर्वक क्री =विक्री का अर्थ है बेचना)।

[यहाँ 'डु' की इत्संज्ञा है और ञकार की भी। यह ञित् है अतः उभयपदी है। यह अनिट् है।]

७६९. क्र्यादिभ्य. इति—क्री आदि से श्ना प्रत्यय (विकरण) होता है। यह शप् का अपवाद है। [श्ना प्रत्यय शित् होने से सार्वधातुक है तथा अपित् सार्वधातुक होने से ङित्वत् है]।

क्रीणाति—क्री धातु से लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप् श्ना होकर क्री ना ति इस दशा में श्ना के ङित्वत् होने से ईकार को गुण नहीं होता। द्विवचन में क्री णा तस् यहाँ 'ई हल्यघो' से श्ना के आकार को ईकार होकर क्रीणीतः। बहुवचन में क्री णा झि इस दशा में ईत्व से पहिले झि के झकार को अन्तादेश होकर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से श्ना के आकार का लोप होता है क्रीणन्ति।

टिप्पणी—श्नाभ्यस्तयोरातः। ६।४।११२। का अर्थ है—श्ना और अभ्यस्त धातु के आकार का लोप होता है कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर। इसका अपवाद है 'ई हल्यघोः ।६।४।११३॥' उसका अर्थ है—श्ना और अभ्यस्त धातु के आकार को ईकार होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर, किन्तु घुसंज्ञक धातु के आकार को ईकार नहीं होता। फलतः 'श्नाभ्यस्तयोरातः' अजादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर लगा करता है। हलादि प्रत्यय में 'ई हल्यघो' लगता है जिससे क्रीणीथः, क्रीणीथ, क्रीणीव, क्रीणीम में श्ना के आकार को ईकार हो जाता है।

क्रीणीते—लट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में 'ई हल्यघो' से ईत्व होता है। द्विवचन तथा बहुवचन में आकार लोप होकर क्रीणाते, क्रीणते। म० पु० एक० तथा बहु० में ईत्व होकर क्रीणीषे, क्रीणीध्वे, द्विवचन में आकार लोप होकर क्रीणाथे। उ० पु० एक० में क्री णा ए यहाँ आकार लोप होकर क्रीणे। द्विवचन, बहुवचन में ईत्व होकर क्रीणीवहे क्रीणीमहे।

चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः। चिक्रेथ—चिक्रयिथ। चिक्रिये।

क्रेता। क्रेष्यति—क्रेष्यते। क्रीणातु—क्रीणीतात्। क्रीणीताम्। अक्रीणात्-अक्रीणीत। क्रीणीयात्—क्रीणीत। क्रीयात्—क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्—अक्रैष्ट। अक्रेष्यत्—अक्रेष्यत।

इति क्रयादय।

चिक्राय—लिट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर चि क्री अ इस दशा में क्री के ईकार को 'अचोऽञ्णिति' से वृद्धि (ऐ) होकर 'आय्' आदेश होता है। द्विवचन में चि क्री अतुस् इस दशा में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से अतुस् के कित् हो जाने के कारण ईकार को गुण नहीं होता और 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' से इयङ् होकर चि क्रिय् अतुस् = चिक्रियतुः। बहुवचन में चि क्री उस् = इयङ् चिक्रियुः।

चिक्रेथ—**चिक्रयिथ**—लिट् म० पु० एक० (परस्मै०) में चि क्री थ, यहाँ भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् होकर चि क्री इ थ इस में क्री के ईकार को गुण (ए), अयादेश होकर चिक्रयिथ। इट् न होने पर गुण होकर + चिक्रेथ।

चिक्रिये—लिट् प्र० पु० एक० (आत्मने०) में चि क्री ए (एश्) इयङ् होकर चिक्रिये।

क्रेता—लुट् प्र० पु० एक (परस्मै० तथा आत्मने०) का रूप है। लृट् प्र० पु० एक० परस्मै० में क्रेष्यति आत्मने० में क्रेष्यते। लोट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) क्रीणातु, तातङ् होने पर क्रीणीतात्। आत्मने० में क्रीणीताम्।

अक्रीणात्—लङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अ क्रीना (श्ना) त् = अक्रीणात् आत्मने० में अ क्री ना त ईत्व होकर अक्रीणीत। विधिलिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में क्री ना यात् = क्रीणीयात्, आत्मने० में क्री ना ईय् (सीय्) त → 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार लोप क्रीणीत। क्रीयात्—आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में यासुट् सुट् सलोप क्रीयात्। आत्मने० में क्री सीय् स् त इस दशा में गुण यलोप षत्व, ष्टुत्व होकर क्रेषीष्ट।

अक्रैषीत्—लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट् च्लि-सिच् तिप्-इकारलोप ईट् होकर अ क्री स् ई त् दशा में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से ईकार को वृद्धि (ऐ) होकर सकार को षत्व होता है। आत्मने० में अ क्री स् त = अक्रेष्ट।

अक्रेष्यत्—लृङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) का रूप है। आत्मने में अक्रेष्यत।

इति क्र्यादय

१०. अथ चुरादयः

चुर स्तेये ॥१॥

७७० । सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ।३।१।२५॥

एभ्यो णिच् स्यात् । चूर्णान्तेभ्यः 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे' इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्, चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे । पुगन्त० इति गुणः, सनाद्यन्ता०' इति धातुत्वम् तिप् शबादि, गुणायादेशौ । चोरयति ।

७७१ । णिचश्च । १।३।७४ ।

चुरादि—चुर जिस धातु समुदाय के आदि में है वह चुरादि गण कहलाता है।

चुर—चुर धातु 'चोरी करना' अर्थ में है। [इसमें अकार उच्चारण के लिए है, इत्संज्ञक नहीं क्योंकि इत्संज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं]।

७७० सत्यापेति—सत्याप, पाश रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच्, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण (इन शब्दों) से तथा चुर् आदि (धातुओं) से णिच् होता है। [णिच् में णकार और चकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, णिच् आर्ध-धातुक है।]

चूर्णान्तेभ्य इति—चूर्ण तक के शब्दों से 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलम् (प्राति-पदिक से 'वह करता है'—करोति, वह कहता है'—आचष्टे इत्यादि अर्थ में णिच् होता है) इस वार्तिक से ही 'णिच्' प्रत्यय हो जाता अतः उनका सूत्र में ग्रहण प्रपञ्च (विस्तार) के लिए है। चुर् आदि से तो यह णिच् स्वार्थ में होता है। (यह णिच् किसी विशेष अर्थ का बोधक नहीं, ण्यन्त प्रक्रिया में जिस णिच् का निरूपण किया जायेगा वह तो प्रेरणार्थक है)।

पुगन्त० इति—पुगन्त०' आदि सूत्र से गुण होता है, 'सनाद्यन्ता०' आदि से धातुसंज्ञा होती है और फिर तिप्, शप् आदि तथा गुण, अयादेश होकर चोरयति रूप बनता है। जैसे—

चोरयति—चुर् धातु से स्वार्थ में णिच् होकर 'चुर् इ' यहाँ 'पुगन्तलघूपध-स्य' च से उकार को गुण (ओ) होकर 'चोरि' रूप होता है जिसकी 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा होती है। तब लट् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में तिप्, शप् होकर चोरि अ ति इस दशा में चोरि' के इकार को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण (ए) होकर अय् आदेश हो जाता है—चोरय् अ ति = चोरयति।

७७१ णिचश्चेति—णिजन्त से आत्मनेपद होता है क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर। (फलतः णिजन्त धातु उभयपदी होती है)।

णिजन्ताद् आत्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्—चोरयिषीष्ट।

णिश्रीति चङ्, णौ, चङीति ह्रस्वः, चङीति द्वित्वम्, हलादि शेषः, दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घः। अचूचुरत्—अचूचुरत।

इति चुरादयः

चोरयते—चुर् णिच् धातुसंज्ञा, णिचश्च' से आत्मनेपद होकर लट्, प्र० पु० एक० में त 'प्रत्यय' शप् होने पर चोरि अ ते→गुण अय् आदेश चोरयते।

चोरयामास—चुर् णिच्, धातुसंज्ञा, लिट् प्र० पु० एक० में 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से आम् प्रत्यय होकर चोरि लिट्, यहाँ लिट् का लुक् होता है, आम् के निमित्त से चोरि के इकार को गुण, अय् आदेश होकर चोरयाम्। आमन्त से परे कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट्परक अस् (आस) का अनुप्रयोग होकर चोरयामास। लिडन्त भू का अनुप्रयोग होने पर चोरयाम्बभूव और कृ का अनुप्रयोग होने पर चोरयाञ्चकार रूप भी होते हैं। आत्मनेपद में कृ के अनुप्रयोग में चोरयाञ्चक्रे आदि रूप होते हैं।

चोरयिता—चुर् णिच्=चोरि धातु से लुट् प्र० पु० एक० चोरि तास् डा इस दशा में इट्, गुण, अय् आदेश होकर चोरयिता। परस्मै० तथा आत्मने० दोनों में यही रूप होता है।

लृट् में चोरयिष्यति—चोरयिष्यते, लोट् में चोरयतु—चोरयताम्, लङ् में अचोरयत्—अचोरयत, विधिलिङ् में चोरयेत् चोरयाम्बभूव चोरयेत आदि।

चोर्यात्—चोरि धातु से आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में चोरि यात् इस दशा में 'णेरनिटि' से णिच् (इकार) का लोप हो जाता है। आत्मने० में सीयुट् सुट् इट् होकर 'चोरि इ सीय् स् इस दशा में चोरि के इकार को गुण-आदेश, यकार लोप, षत्व तथा ष्टुत्व होकर चोरयिषीष्ट।

णिश्रीति—णिश्रि० इत्यादि सूत्र से चङ् होता है, णौ चङि०' आदि से ह्रस्व होता है, 'चङि०' द्वित्व, हलादि शेषः तथा 'दीर्घो लघोः से अभ्यास को दीर्घ होकर अचूचुरत् होता है। (यह संक्षेप में चुर् धातु के लुङ् के रूपों की सिद्धि दिखलाई गई है)।

अचूचुरत्=चुर् णिण् धातु से लुङ् प्र० पु० एक० (परस्मै०) में अट् च्लि, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' से च्लि को चङ् होकर अ चोर् इ अ त् इस दशा में 'णेरनिटि' से इ (णिच्) का लोप होने पर उसका स्थानिवद्भाव मानकर 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से चोर् शब्द की उपधा ओकार को ह्रस्व (उकार) होता है, 'चङि' से चुर् को द्वित्व होकर अ चुर् चुर् अत् यहाँ हलादि शेषः से अभ्यास में चुर् के स्थान में 'चु' शेष रहता है। अ चु चुर् अ त्, इस अवस्था में 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से सन्वद्भाव होकर 'दीर्घो लघोः' से अभ्यास के उकार को दीर्घ (ऊकार) होकर अचूचुरत्। इसी प्रकार आत्मने० में अचूचुरत।

लृङ् में अचोरयिष्यत्—अचोरयिष्यत आदि रूप होते हैं।

इति चुरादयः

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

७७२। स्वतन्त्रः कर्ता। १।४।५४॥

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

७७३। तत्प्रयोजको हेतुश्च।१।४।५५॥

कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्।

ण्यन्तप्रक्रिया आदि में धातुओं के रूप बनाने के लिए उपर्युक्त प्रक्रिया को ध्यान में रखना चाहिये।

अथ ण्यन्तेति—णि (णिच् या णिङ) प्रत्यय है अन्त में जिसके वह ण्यन्त (णि-अन्त) कहलाता है। ण्यन्त धातुओं की रूप सिद्धि के प्रकार का इस प्रकरण में विवेचन किया जा रहा है।

७७२ स्वतन्त्र इति—क्रिया में जिसको स्वतन्त्र रूप में कहना अभीष्ट हो (विवक्षित = वक्तुम् इष्ट.) वह वस्तु या व्यक्ति (अर्थ) कर्ता कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि 'कर्ता होना' विवक्षा के अधीन है। बोलने वाला व्यक्ति जिसे क्रियासिद्धि में स्वतन्त्र बतलाना चाहता है वही कर्ता है जैसे—'देवदत्तः पचति, अग्निः पचति' तथा 'काष्ठानि पचन्ति' —बोलने वाले की इच्छा के अनुसार तीनों प्रयोग हो सकते हैं।

७७३ तत्प्रयोजक इति—उस (कर्ता) के प्रयोजक की हेतु संज्ञा और कर्तृ संज्ञा (दोनों) होती हैं।

टिप्पणी—कर्ता दो प्रकार का होता है—एक किसी कार्य को करने वाला और दूसरा किसी कार्य को कराने वाला अर्थात् करने की प्रेरणा देने वाला। जो किसी कार्य करने वाले को प्रेरणा देता है वह प्रेरक कहलाता है वही प्रयोजक कर्ता है तथा उसकी 'हेतु' संज्ञा भी होती है। जिसे प्रेरणा दी जाती है वह 'प्रयोज्य' कर्ता कहलाता है। जैसे आचार्य जी देवदत्त को पढ़ाते हैं। यहाँ 'आचार्य जी' प्रयोजक कर्ता हैं और देवदत्त प्रयोज्य कर्ता है। यहाँ 'प्रेरणा' देना ही प्रयोजक का कार्य है। यह प्रयोजक का व्यापार कहा जाता है।

७४। हेतुमति च।३।१।२६॥

प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ च वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति भावयति।

७७५। ओः पुयण्ज्यपरे।७।४।८०॥

---

७७४. हेतुमति चेति—प्रयोजक का व्यापार प्रेषण इत्यादि (प्रेरणा) कहना हो तो धातु से णिच् प्रत्यय हो जाता है।

[णिच् में णकार और चकार का लोप हो जाता है केवल 'इ' शेष रहती है]

भावयति—'भवन्तं प्रेरयति' (होने वाले को प्रेरित करता है)—इस विग्रह में 'भू' धातु से 'हेतुमति च' सूत्र के अनुसार 'णिच्' प्रत्यय होता है। 'भू+इ—यहाँ णिच् प्रत्यय के णित् (ण् है इत्संज्ञक जिसका) होने से ऊकार को (अचो ञ्णिति ७।२।११५) वृद्धि (औ) होकर 'औ' को आव् हो जाता है→भौ+इ=भाव्+इ= भावि—इस णिजन्त रूप की धातु[1] संज्ञा होती है तथा लट् लकार में 'भावि+ति' इस दशा में धातु और प्रत्यय के मध्य में शप्[2] (अ) हो जाता है। भावि+अ+ति इस अवस्था में 'इ' को गुण (ए) तथा 'ए' को 'अय्' आदेश होकर भाव्+अय्+अ ति→भावयति रूप सिद्ध होता है।

टिप्पणी (१) यह णिच् प्रत्यय प्रेरणा अर्थ में होता है अतः भावयति इत्यादि प्रेरणार्थक क्रियाये कहलाती हैं। चोरयति (चुर्+णिच्) आदि में जो णिच् प्रत्यय होता है, वह स्वार्थ में होता है, वहाँ प्रेरणा अर्थ नहीं होता। किन्तु रूप दोनों के समान ही होते हैं। (२) 'भावयति' के 'भवति' के समान समस्त लकारों में रूप बनते हैं; उदाहरणार्थ प्रत्येक लकार का एक-एक रूप इस प्रकार है—लट्—भावयति। लिट्—भावयामास, भावयाम्बभूव, भावयाञ्चकार। लुट्—भावयिता। लृट्—भावयिष्यति। लोट्—भावयतु। लङ्—अभावयत्। विधिलिङ्—भावयेत्। आशिषि लिङ् भाव्यात्। लुङ्—अबीभवत् (इसकी सिद्धि आगे की जा रही है)। लृङ्—अभावयिष्यत्। (३) णिजन्त धातुओं के रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों पदों में होते हैं, अतः 'भावयते' आदि भी रूप होंगे।

७७५. ओरिति—यहाँ भृञामित्' ७।४।७६। से 'इ' तथा सन्यतः ७।४।७९। से 'सनि—इन पदों की अनुवृत्ति होती है] सन् प्रत्यय परे होने पर जो अङ्ग उसके अवयव अभ्यास के उकार को इकार हो जाता है, यदि अवर्ण है परे जिनके ऐसे पवर्ग' यण् (य, व, र, ल) तथा जकार परे हों।

---

१. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२।

२. कर्तरि शप् ३।१।६८।

सति परे यदङ्गं तदवयवाभ्यामोकारस्य इत्स्यात् पवर्गयण्जकारेष्ववर्ण-परेषु परतः। अबीभवत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—

७७९ अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ ।७।३।३६॥

स्थापयति।

अबीभवत्—भू + णिच + लुङ् (प्रथम पुरुष एकवचन) – भू से पहले अट्[1] का आगम लङ् के स्थान में तिप् होकर 'ति' के इकार का लोप होता है तथा अ भू + इ + त् → इस दशा में लुङ् परे होने में च्लि[2] तथा च्लि के स्थान में चङ्[3] (अ) होकर अ भू इ अ त् अवस्था में भू शब्द को द्वित्व[4] होकर 'अ भू भू इ अ त्' यहाँ पर पहले 'भू' की अभ्यास संज्ञा तथा उसे अभ्यासकार्य-[भकार को बकार[5] (जश्) तथा ऊ को ह्रस्व (उ) होकर] अ बु भूइ अत्' इस अवस्था में परे वाले 'भू' के ऊ को वृद्धि (औ) तथा आव् आदेश होकर अ बु भाव् इ अ त्→णिच् का लोप[6] तथा 'भाव् के आकार को ह्रस्व'[7] हो जाता है। अ बु भव् अ त् इस दशा में सन्वद्भाव[8] (सन् प्रत्यय के समान कार्य) होकर ओः 'पुयण्ज्यपरे' से उकार को इकार होता है तथा उसे 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ होकर 'अबीभवत्' रूप सिद्ध होता है।

ष्ठेति—ष्ठा धातु रुकना या खड़ा होना अर्थ में है। ष्ठा के षकार को सकार[9] होकर स्था रूप हो जाता है उसमें णिच् प्रत्यय होने पर स्था + इ इस अवस्था में—

७७९ अर्तीति—ऋ, ह्री, ब्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी तथा आकारान्त धातुओं को पुक् आगम होता है 'णि' परे होने पर।

(स्था धातु आकारान्त है अतः इस सूत्र से स्था के आगे पुक् हो जाता है। पुक् में उकार तथा ककार का लोप हो जाता है और प् शेष रहता है।

स्थापयति—स्था + णिच् → स्था + इ' इस अवस्था में पुक् का आगम होकर स्था प् इ = स्थापि णिजन्त धातु होती है। उसमें लट् लकार प्र० पु० एक० में स्थापि + शप् + ति → गुण और अय् आदेश होकर स्थापयति।

---

१. लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१
२. च्लि लुङि ३।१।४३।
३. णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३।१।४८
४. चङि ६।१।११॥
५. अभ्यासे चर्च ८।४।५४॥
६. णेरनिटि ६।४।५१।
७. णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः ७।४।१
८. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३
९. धात्वादेः षः सः ६।१।६४॥

७७७ । तिष्ठतेरित् ।७।४।५॥

उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ । अतिष्ठिपत् ।

घट चेष्टायाम्—

७७८ । मितां ह्रस्वः ।६।४।९२॥

घटादीनां ज्ञपादीनां चोपधाया ह्रस्व स्याण्णौ । घटयति ।

इसीप्रकार—अर्पयति, ह्रेपयति, व्लेपयति, रेपयति, क्नोपयति[1] क्ष्मापयति इत्यादि ।

७७७. तिष्ठतेरिति—स्था धातु की उपधा को इकार आदेश होता है चङ् है आगे जिसके ऐसा णि परे होने पर ।

अतिष्ठिपत्—स्था + णिच् = लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन । अबीभवत् के समान 'अ स्थाप् इ अत्' यह अवस्था हो जाने पर 'स्थाप्' को द्वित्व होकर अभ्यास में 'थ'[2] मात्र शेष रहता है तथा 'अ थ स्थाप् इ अत्' इस अवस्था मे उपधाह्रस्व होकर 'तिष्ठतेरित्' से स्थप् के अकार (उपधा) को इकार हो जाता है—'अ थ स्थिप् इ अत् यहाँ पर सन्वद्भाव होकर 'थ' के अकार को इकार[3] होता है तथा थकार को तकार[4] (चर्त्व) होकर 'अ ति स्थि प् इ अत्, यहाँ पर णिलोप तथा स्थि के स् को ष् और थ् को ठ् (ष्टुत्व) होकर अतिष्ठिपत् रूप बनता है ।

७७८. मितामिति—घट आदि और ज्ञप् आदि धातुओं की उपधा को ह्रस्व हो जाता है णि परे होने पर । (घट आदि और ज्ञप् आदि धातुएँ मित् संज्ञक हैं ।)

घटयति—घट + णिच् = घाटि—इस अवस्था में आकार (उपधा को) ह्रस्व होकर 'घटि' णिजन्त धातु होती है । 'घटि' से तिप, शप्, गुण, अय् आदि होकर घटयति रूप बनता है ।

(लुङ् लकार में 'अजीघटत्' रूप बनता है) ।

---

१. क्नूय् और क्ष्माय् के य् का लोप हो जाता है

२. शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१ से खय् अर्थात् 'था' शेष रहता है और था को ह्रस्वः ६।४।५९ से ह्रस्व होकर 'थ' मात्र शेष रहता है ।

३. सन्यतः ७।४।७९। यहाँ अबीभवत् के समान दीर्घो लघोः से दीर्घ नहीं होता, क्योंकि 'सयोगे गुरु' के अनुसार 'ति' गुरु है लघु नहीं ।

४. अभ्यासे चर्च ८।४।५४॥

ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च, ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥

अथ सन्नन्तप्रक्रिया

७७९ । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ।३।१।७।

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन् प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम्

पठ्—व्यक्तायां—वाचि

७८० । सन्यङोः ।६।१।९॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोरनभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु

ज्ञप् इति—ज्ञप् धातु जानना और ज्ञान कराना अर्थ में है ।

[यह चुरादि गण का धातु है इससे प्रेरणार्थक णिच् करने पर स्वार्थिक णिच् का णेरनिटि ६।४।५१। से लोप हो जाता है ।

ज्ञपयति—ज्ञप् + णिच् = ज्ञापि इस अवस्था में आकार (उपधा) को ह्रस्व होकर 'ज्ञपि' णिजन्त धातु होती है । उससे ज्ञपयति रूप बनता है ।

अजिज्ञपत्—ज्ञप् + णिच् + लुङ् (प्रथम पुरुष एकवचन) अ ज्ञप् + इ + अत् - इस दशा में द्वित्व, अभ्यासकार्य[1], णि लोप होकर अजिज्ञपत् ।

टिप्पणी—इस प्रकार अन्य धातुओं में भी णिजन्त (प्रेरणार्थक) रूप बनाये जा सकते हैं । कुछ प्रसिद्ध धातुओं के णिजन्त रूप निम्न प्रकार के होते हैं—

गम्-गमयति । दा-दापयति । दृश्-दर्शयति । पा (पीना)—पाययति । पा (पालना)—पालयति । लभ्—लम्भयति । भू (होना)—भावयति । ग्रह्—ग्राहयति । नम्-नमयति, नामयति । हन्-घातयति । नी-नाययति । भी-भाययति भीषयते । श्रु (सुनना) श्रावयति । श्रू—श्रावयति । मृ-मारयति । स्तृ-मारयति । रञ्ज्—रञ्जयति । रुह् रोहयति-रोपयति । सिध्—साधयति, सेधयति । इत्यादि ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥

सन्नन्तेति—सन् प्रत्यय है अन्त में जिसके वह सन् + अन्त = सन्नन्त धातु कहलाती है । सन्नन्त धातु की प्रक्रिया = सन्नन्त प्रक्रिया ।

७७९. धातोरिति—[गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ३।१।५ से सन् की अनुवृत्ति होती है] जो इच्छा का कर्म हो तथा इच्छा क्रिया की समानकर्तृक (अर्थात् इच्छा क्रिया का कर्ता ही है कर्ता जिसका ऐसी) हो उस धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय होता है ।

पठ् धातु व्यक्तवाणी (स्पष्ट उच्चारण या पढ़ना) अर्थ में है । इससे सन् प्रत्यय होता है, 'सन्' में 'स' शेष रहता है ।

७८० सन्यङोरिति—[एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१, अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२

---

१. सन्यतः ७।४।७९ से अकार को इकार होता है ।

द्वितीयस्य। सन्यतः। पठितुमिच्छति पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति। समानकर्तृकात् किम्? शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः। वाग्रहणाद् वाक्यमपि।

की अनुवृत्ति हो रही है] जिसका द्वित्व न हुआ हो (अनभ्यासस्य) ऐसी सन् प्रत्ययान्त और यङ् प्रत्ययान्त धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है, जिस धातु के आदि में अच् (स्वर) हो उसके तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

टिप्पणी—एकाच् का अर्थ है एक अच् है जिसमें, जैसे—'पठ्+सन्' यहाँ पर 'पठ्' एकाच् है, क्योंकि इसमें 'अ' ही एक अच् है। पठ् को द्वित्व होकर पठ्+पठ्+स → अभ्यासकार्य प+पठ्+स इस अवस्था में—

सन्यतः इति—अभ्यास के अकार को इकार हो जाता है सन् प्रत्यय परे होने पर। [इसमें अभ्यास के 'प' के स्थान पर 'पि' हो जाता है]।

पिपठिषति—पठितुमिच्छति[1] (पढ़ने की इच्छा करता है)—इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः' इत्यादि सूत्र से पठ् धातु से सन् प्रत्यय होकर 'सन्यङोः' सूत्र के अनुसार पठ् शब्द को द्वित्व होने पर पूर्व पठ् (अभ्यास) का 'प' शेष[2] रहता है तथा 'सन्यतः' से उस 'प' के अकार को इकार हो जाता है। पि पठ् 'स' इस अवस्था में स (सन्) को इट्[3] (इ) का आगम होकर सकार को षकार होता है। इस प्रकार 'पिपठिष' यह सन्नन्त धातु[4] बनती है। उससे लट् लकार के एकवचन में तिप्, शप् होकर पिपठिष + अ + ति → पररूप (अ + अ → अ) पिपठिषति।

कर्मण इति—इच्छा की कर्म रूप धातु से सन् प्रत्यय होता है, यह क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'गमनेन इच्छति'—यहाँ गमन क्रिया इच्छा का कर्म नहीं अपितु करण है। अतः 'गम्' धातु से सन् प्रत्यय नहीं होता।

समानेति—जो इच्छा का कर्ता है वह उस (जिससे सन् करना है) धातु का भी कर्ता होना चाहिये, यह क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'शिष्याः पठन्तु' इति इच्छति गुरुः—यहाँ पर पठन क्रिया इच्छा का कर्म है, किन्तु दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न-भिन्न हैं—'पठन्तु' का कर्ता 'शिष्याः' है और 'इच्छति' का कर्ता 'गुरुः' है। इसलिये दोनों क्रियायें समानकर्तृक नहीं और यहाँ पठ् धातु से सन् प्रत्यय नहीं होता।

---

१. यहाँ 'इच्छति' क्रिया का कर्त्ता जो देवदत्त आदि है वही पठन क्रिया का कर्त्ता है। अतः पठ् धातु इच्छा, क्रिया की एककर्तृक है तथा वह (पठन) इच्छा का कर्म भी है इसलिये पठ् धातु से सन् प्रत्यय होता है।

२. पठ् पठ् स—यहाँ 'हलादिः' शेषः ७/४/६०/ के अनुसार 'प' मात्र शेष रहता है।

३. आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७/२/३५॥

४. सनाद्यन्ताः धातवः ३/१/३२॥

लुङ्सनोर्घस्लृ ।

७८१ । सः स्यार्धधातुके ।७।४।४९।।

सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके । अत्तुमिच्छति जिघत्सति एकाच इति नेट् ।

वाग्रहणादिति—'धातोः कर्मणः'—इत्यादि सूत्र मे 'वा' (विकल्प से) शब्द का ग्रहण किया गया है इसलिये (पक्ष मे) 'पठितुम् इच्छति' इस वाक्य का भी प्रयोग होता है। वक्ता की इच्छा के अधीन है कि वह 'पढना चाहता है'—इस अर्थ को प्रकट करने के लिये पठ् धातु से 'सन्' प्रत्यय जोडकर 'पिपठिषति' शब्द का प्रयोग करे अथवा 'पठितुम् इच्छति' इस वाक्य का प्रयोग करे।

टिप्पणी—(१) धातुएँ दो प्रकार की है सेट् और अनिट्। जिन धातुओं से परे वलादि (य को छोडकर कोई व्यञ्जन जिसके आदि मे होता है) आर्धधातुक प्रत्यय होने पर उस प्रत्यय से पहले इ (इट्) आ जाता है वे सेट् (स+इट्) है। जिनसे इट् नही आता वे अनिट् (न+इट्) हैं। जो धातु सेट् है, उनसे परे 'सन्' प्रत्यय को इट् हो जाता है, जैसा कि 'पिपठिषति' मे हुआ है, किन्तु जो धातु अनिट् है वहाँ इट् नही होता जैसे 'चिकीर्षति' मे। (२) जो धातु सन् प्रत्यय न होने पर परस्मैपदी या आत्मनेपदी जैसी है प्रायः सन् प्रत्ययान्त होने पर भी उसी पद मे रहती है अतः 'पिपठिषति' मे परस्मैपद होता है। तथा 'चिकीर्षति—चिकीर्षते'—यहाँ उभयपद होते हैं। ('पिपठिषति'—इस सन्नन्त धातु के भी 'पठति' के समान सभी लकारो मे निम्न प्रकार से रूप होते हैं —

लट्—'पिपठिषति'। लिट्—'पिपठिषाञ्चकार' 'पिपठिषाम्बभूव', पिपठिषामास'। लुट्—'पिपठिषिता'। लृट्—'पिपठिषिष्यति'। लोट्—'पिपठिषतु'। लङ्—'अपिपठिषत्'। विधिलिङ्—'पिपठिषेत्'। आशिषि लिङ्—'पिपठिष्यात्'। लुङ्—'अपिपठिषत्'। लृङ्—'अपिपठिष्यत्'।

लुङ् इति—अद् धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'लुङ्सनोर्घस्लृ' २।४।३७।। इस सूत्र से अद् के स्थान मे घस् (घस्लृ) आदेश हो जाता है। घस+स' इस अवस्था मे—

७८१ स इति—(स+सि+आर्धधातुके) सकार को तकार हो जाता है 'स' है आदि मे जिसके (सादौ) ऐसा आर्धधातुक परे होने पर। (इससे 'घस्' के स् को त् होता है)

जिघत्सति—अत्तुमिच्छति (खाना चाहता है), इस विग्रह मे अद् धातु से सन् प्रत्यय होने पर अद् को घस् आदेश हो जाता है 'घस्+स' इस अवस्था मे 'सः स्यार्धधातुके' से सकार को तकार होकर 'घत्स'→द्वित्व घ घत्स→अभ्यास के घ को ज तथा सन्यतः' से ज के अकार को इकार होकर 'जिघत्स' सन्नन्त धातु बनती है। उससे लट् लकार मे तिप्, शप् होकर 'जिघत्सति' रूप होता है।

एकाच—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०।।

७८२ । अज्झनगमां सनि ।६।४।१६॥

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

७८३ । इको झल् ।१।२।९॥

इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । ऋत इद्धातोः । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति ।

इस सूत्र के अनुसार 'घस् धातु से परे (सन् आदि) आर्धधातुक को इट् नहीं होता । कृ धातु से सन् प्रत्यय होने पर—

७८२. अज्झनेति—अच् (स्वर) है अन्त में जिसके ऐसी धातु, हन् धातु और अजादेश गम् धातु (अर्थात् इण् आदि धातु के स्थान में होने वाली गम् धातु)—इनको दीर्घ होता है झलादि सन् परे होने पर ।

टिप्पणी—(१) सूत्र में जो अच् है वह गम् का भी विशेषण माना जाता है अतः 'अजादेशगमेश्च' यह अर्थ किया गया है । इससे इण्, इङ् तथा इक् धातु के स्थान में जो गम् आदेश होता है उनका ग्रहण होता है तथा इण् और इक् से कर्म-वाच्य में जिगांस्यते और अधिजिगांस्यते–में 'अ' दीर्घ होता है[1] तथा इङ् के कर्तृ वाच्य रूप 'अधिजिगांसते' में भी (२) जब सन् प्रत्यय को इट् नहीं होता तब वह झलादि (झल् है आदि में जिसके) होता है । इट् होने पर तो उसके आदि में 'इ' (अच्) होता है, अतः वह झलादि नहीं रहता ।

७८२. इक इति—इगन्त के आगे झलादि सन् कित् हो जाता है । (सन् के कित् हो जाने से कृ को गुण नहीं होता) कृ+सन् यहाँ कृ को दीर्घ होकर कॄ+सन् इस दशा में—

ऋत इति—ऋत इद्धातोः ७।१।१००॥ इस सूत्र के द्वारा 'उरण्रपरः १।१।५१॥ के सहकार से ॠकार के स्थान में इर् होता है ।

चिकीर्षति—कर्तुमिच्छति (करना चाहता है), इस विग्रह में कृ धातु से सन् प्रत्यय होकर कृ+स इस दशा में इट् न होने पर[2] 'अज्झनगमां सनि' से कृ को दीर्घ होकर गुण के अभाव[3] में 'ऋत इद्धातोः' से ॠ को इर होकर किर्+स इस अवस्था में 'हलि च' से इकार को दीर्घ होकर कीर् स+ऐसी दशा में द्वित्व अभ्यासकार्य तथा सकार को षकार होकर 'चिकीर्ष' सन्नन्त धातु बनती है उससे 'चिकीर्षति' रूप बनता है ।

---

१. कर्तृवाच्य में तो इनसे परे सन् को इट् हो जाता है अतः झलादि सन् ही ही नहीं मिलता तथा जिगमिषति, अधिजिगमिषति—ये रूप होते हैं ।

२. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०॥

३. 'इको झल्' से सन् कित् हो जाता है तथा 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है ।

७८४ सनि ग्रहगुहोश्च ।७।२।१२॥

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन् इण् न स्यात् । बुभूषति ।

इति सन्नन्तप्रक्रिया

अथ यङन्तप्रक्रिया

७८५ । धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ।३।१।२२॥

---

७८४ सनीति—ग्रह्, गुह् और उगन्त (उक् अर्थात् उ और ऋ हैं अन्त में जिसके) धातु से परे सन् प्रत्यय को इट् नहीं होता।

बुभूषति—भवितुमिच्छति (होना चाहता है) इस विग्रह में भू धातु से सन् प्रत्यय होकर 'सनि ग्रहगुहोश्च' से इट् का निषेध होता है। 'इको झल्' से सन् कित् हो जाता है तथा गुण नहीं होता भू + स' इस अवस्था म द्वित्व, अभ्यासकार्य' तथा सकार को षकार होकर बुभूष सन्नन्त धातु बनती है उससे लट् प्रथम पुरुष एकवचन मे बुभूषति।

टिप्पणी—कुछ प्रसिद्ध धातुओं के सन्नन्त रूप इस प्रकार होते हैं—

आप्—ईप्सति। गम्—जिगमिषति। घ्रा—जिघ्रासति। चि—चिचीषति, चिकीषति। जि—जिगीषति। ज्ञा—जिज्ञासते। दा—दित्सति। दृश्—दिदृक्षते। धा—धित्सति। पा—पिपासति। बुध्—बुभुत्सते। ब्रू—विवक्षति ते। भुज्—बुभुक्षते। मृ—मुमूर्षति। यज्—यियक्षति-ते। लभ्—लिप्सते। वस्—विवत्सति। श्रु (सुनना)—शुश्रूषते। स्तु—तुष्टूषति। स्मृ—सुस्मूर्षते। स्वप्—सुषुप्सति। हन्—जिघांसति। हा (त्यागना)—जिहासति।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥

यङन्तेति—यङ् प्रत्यय है अन्त मे जिसके वह यङन्त धातु है। यङन्त की प्रक्रिया=यङन्तप्रक्रिया।

७८५ धातोरिति—क्रिया का बार-बार होना या अधिक होना (पौनःपुन्ये+भृशार्थे=क्रियासमभिहारे)' इस अर्थ को प्रकट करने के लिये ऐसी धातु से, जिसमें एक ही स्वर है तथा जिसके आदि मे व्यञ्जन है, यङ् प्रत्यय होता है। 'यङ्' प्रत्यय मे 'य' शेष रहता है, भू धातु जो एकाच् और हलादि है उससे क्रियासमभिहार में यङ् प्रत्यय होकर 'सन्यङो' ६।१।६॥ से द्वित्व हो जाता है और 'भू भू य' इस अवस्था मे।

---

१. 'भू' को द्वित्व होकर पूर्व भाग (अभ्यास) के ऊकार को उकार (ह्रस्व) तथा भकार को बकार (जश्त्व) हो जाता है।

२. पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारः। सिद्धान्तकौमुदी।

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ।

७८६ । गुणो यङ्लुकोः ।७।४।८२।।

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च परतः । ङिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा भवति वोभूयते । वोभूयाञ्चक्रे । अवोभूयिष्ट ।

---

७८६. गुण इति—अभ्यास को गुण हो जाता है यङ् प्रत्यय परे होने पर तथा यङ् का लुक् हो जाने पर ।

[यहाँ अभ्यास को गुण होकर 'भोभूय' तथा अभ्यास के भ को व[1] होकर 'वोभूय' यह यङन्त धातु[2] वनती है ।]

ङिदन्तत्वादिति—यङ् प्रत्यय के ङित् (ङकार है इत्संज्ञक जिसमें) होने से यङन्त धातु से आत्मनेपद[3] होता है ।

वोभूयते—पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति (वार-वार या अधिक होता है)—इस विग्रह में भू धातु से यङ् प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'भू भू य' इस अवस्था में अभ्यास को गुण (ओकार) तथा भकार को वकार (जश्त्व) होकर 'वोभूय' यह रूप होता है । इसकी 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा होकर तथा ङित् होने से आत्मनेपद होने के कारण लट् लकार में वोभूय + ते → शप् होकर वोभूय + अ + ते → य के अकार का शप् के अकार से पररूप होकर वोभूयते रूप वनता है ।

टिप्पणी—(१) क्रियासमभिहार में यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में वाक्य भी होता है जैसे—पुनः पुनः भवति अथवा अतिशयेन भवति (वोभूयते)। (२) यङन्त धातु के रूप सभी लकारों में होते हैं; जैसे—लट्—वोभूयते । (लिट्—वोभूयाञ्चक्रे । लुट्—वोभूयिता । लृट्—वोभूयिष्यते । लोट्—वोभूयताम् । लङ्—अवोभूयत । विधिलिङ्—वोभूयेत । आशिषि लिङ्—वोभूयिषीष्ट । लुङ्—अवोभूयिष्ट । लृङ्—अवोभूयिष्यत । इनमें से वोभूयाञ्चक्रे तथा अवोभूयिष्ट की सिद्धि का प्रकार नीचे दिखलाया जा रहा है—

वोभूयाञ्चक्रे–(भू + यङ् + लिट्)–वोभूय + लिट् इस अवस्था में प्रत्ययान्त होने से आम्[4] प्रत्यय होकर वोभूय + आम् + लिट्— यहाँ लिट् का लुक्[5] हो जाने पर तथा

---

१. अभ्यासे चर्च ८।४।५४।।

२. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२।।

३. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२।।

४. कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५।।

५. आमः २।४।८१।।

७८७। नित्यं कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३॥

गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे।

७८८। दीर्घोऽकितः ।७।४।८३॥

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङ्यङ्लुकोः। कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते।

७८९। यस्य हलः ।६।४।४९॥

कृञ् का अनुप्रयोग[1] होने पर कृ धातु का लिट् लकार में जो आत्मनेपद[2] का रूप होता है (चक्रे आदि) वह जोड़ा जाता है अतः बोभूयाम्+चक्रे→बोभूयाञ्चक्रे आदि रूप बनते हैं।

अबोभूयिष्ट—(भू+यङ्+लुङ्) बोभूय+लुङ्→अट् होकर अ+बोभूय→त→धातु तथा त के मध्य में च्लि होकर उसको सिच् हो जाता है—अ बोभूय+स्+त→सिच् को इट् (इ) आगम होकर अबोभूय+इ+स्+त यङ् के अकार का लोप[3] तथा स् को षत्व होने पर 'अबोभूयिष्ट' रूप बनता है।

७८७ नित्यमिति—गत्यर्थक धातु से कौटिल्य अर्थ में ही-यङ् प्रत्यय होता है बार-बार करने या अधिक अर्थ में नहीं।

७८८ दीर्घ इति—अकित् अभ्यास को दीर्घ होता है यङ् परे होने पर तथा यङ् का लुक् होने पर।

टिप्पणी—जिसका ककार इत्संज्ञक होता है वह कित् कहलाता है। जहाँ अभ्यास को नीक् (पत्-पनीपत्यते) तथा नुक् (गम्—जङ्गम्यते) आदि का आगम हो जाता है वहाँ नीक् तथा नुक् के कित् होने के कारण अभ्यास भी कित् कहलाता है। जो कित् नहीं है वह अकित् कहलाता है।

वाव्रज्यते—कुटिलं व्रजति (टेढ़ा चलता है)—इस विग्रह में गत्यर्थक व्रज् धातु से यङ् प्रत्यय होता है। व्रज्+यङ् द्वित्व होकर तथा अभ्यास में व शेष रह जाने पर 'व+व्रज्+य' इस अवस्था में अभ्यास के अकार को दीर्घ (आकार) होकर 'वाव्रज्य' यङन्त धातु बनती है। इससे लट् प्रथम पुरुष एकवचन में वाव्रज्यते रूप बनता है।

वाव्रज्य+लिट्→वाव्रज्य+आम्+चक्रे इस दशा में—

७८९ यस्येति—व्यञ्जन (हल्) से परे 'य' शब्द का लोप हो जाता है आर्धधातुक परे होने पर।

---

१ कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०॥

२ आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३॥

३ अतो लोपः ६।४।४८॥

यस्येति संघातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । बाभ्रजाञ्चक्रे । बाभ्रजिता ।

७९० । रीगृदुपधस्य च ।७।४।९०॥

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङ्यङ्लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवर्तिता ।

(सूत्र में) 'यस्य' यह यकार (य्) तथा अकार (य् + अ = य) के समुदाय का ग्रहण किया गया है।

आदेरिति—आदेः परस्य १।१।५८। के अनुसार 'य' समुदाय के आदि भाग (केवल यकार) का लोप होता है।

अत इति—अतो लोपः ६।४।४८। (अर्थात् आर्धधातुक के उपदेश काल में जो अदन्त अङ्ग उसके अकार का लोप होता है आर्धधातुक परे होने पर) से अकार का लोप हो जाता है।

बाभ्रजाञ्चक्रे—(व्रज् + यङ् + लिट्)—बाभ्रज्य + लिट्, लिट् परे होने पर आम् प्रत्यय होता है तथा लिट् का लोप होकर कृ धातु के लिट् लकार के रूप चक्रे का अनुप्रयोग होकर बाभ्रज्य + आम् + चक्रे—यहाँ पर 'आदेः परस्य' की सहायता से 'यस्य हलः' सूत्र के द्वारा यकार का लोप तथा 'अतो लोपः' से अकार का लोप होकर बाभ्रजाञ्चक्रे रूप बनता है।

बाभ्रजिता—(व्रज् + यङ् + लुट्)—बाभ्रज्य + तास् + डा[1] इस दशा में तास् को इट् का आगम होता है तथा उपर्युक्त रीति से यकार और अकार का लोप होकर बाभ्रज् + इ + तास् + आ यहाँ आस् (टिसंज्ञक) का लोप[2] हो जाने पर बाभ्रज + इ + त् + आ → बाभ्रजिता रूप बनता है।

७९०. रीगिति—ऋकार है उपधा में जिसके ऐसी धातु के अभ्यास को रीक् का आगम होता है यङ् परे होने पर तथा यङ् लुक् होने पर।

वरीवृत्यते—पुनः पुनः अतिशयेन वा वर्तते (बार-बार या अधिकता से होता है)—इस विग्रह में वृत् धातु से यङ् प्रत्यय होकर द्वित्व होने पर व + वृत् + य—इस अवस्था में अभ्यास को रीक् का आगम होता है (रीक् में री शेष रहता है)

---

१. 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' २।४।८५॥ सूत्र के अनुसार लुट् के प्रथम पुरुष एकवचन में तिप् के स्थान में 'डा' हो जाता है तथा 'स्यतासी लृलुटोः' ३।१।३३॥ से धातु और प्रत्यय के बीच 'तास्' आ जाता है।

२. 'डा' में आ शेष रहता है और इसके 'डित्' होने से तास् के आस् भाग (टि) का लोप हो जाता है।

७९१। क्षुभ्नादिषु च ।८।४।३९॥

णत्वं न। नरीनृत्यते। जरीगृह्यते।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

तथा 'वरीवृत्य' यह यङन्त धातु बन जाता है। इससे लट् लकार में 'वरीवृत्यते' रूप बनता है।

वरीवृताञ्चक्रे—(वृत् + यङ् + लिट्) वरीवृत्य + आम् + चक्रे → यकार और अकार का (उपर्युक्त रीति से) लोप होकर वरीवृताञ्चक्रे।

वरीवृतिता—(वृत् + यङ् + लुट्) वरीवृत्य + तास् + डा → बाभजिता के समान वरीवृतिता रूप बन जाता है।

७९१ क्षुभ्नादिष्विति—क्षुभ्न आदि शब्दों में णत्व अर्थात् नकार को णकार नहीं होता।

टिप्पणी—'क्षुभ्न आदि शब्द गण पाठ में दिये गये हैं। उनमें जो किसी नियम के अनुसार नकार का णकार प्राप्त होता है उसका इस सूत्र से निषेध किया गया है।

नरीनृत्यते—पुनः पुनः अतिशयेन वा नृत्यति (बार बार या अधिक नाचता है)—इस विग्रह में नृत् धातु से यङ् प्रत्यय होता है। द्वित्व तथा अभ्यास को रीक् का आगम होकर 'वरीवृत्य' के समान ही 'नरीनृत्य' यङन्त धातु बनती है। यहाँ रेफ से आगे होने के कारण 'नृत्य' के नकार को णकार होना प्राप्त होता है[1] किन्तु क्षुभ्नादिषु च से उसका निषेध हो जाता है। नरीनृत्य से लट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में नरीनृत्यते।

जरीगृह्यते—पुनः पुनः अतिशयेन वा गृह्णाति (बार बार या अधिक ग्रहण करता है) इस विग्रह में ग्रह् धातु से यङ् प्रत्यय होकर द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य[2] होकर जरीगृह्य[3] यङन्त धातु बनती है उससे जरीगृह्यते।

टिप्पणी—कुछ अन्य प्रसिद्ध धातुओं के यङन्त रूप इस प्रकार होते हैं—अट्—अटाट्यते। कृ—चेक्रीयते। गम्—जङ्गम्यते। गा—जेगीयते। घ्रा—जेघ्रीयते। चि—चेचीयते। चर्—चञ्चूर्यते। जि—जेजीयते। जन्—जाजायते। दा—देदीयते। धा—देधीयते। पत्—पनीपत्यते। पठ्—पापठ्यते। प्रच्छ्—परीपृच्छ्यते। वस्—

---

१ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२॥

२ अभ्यास में गकार को जकार (कुहोश्चुः ७।४।६२) भी हो जाता है।

३ यहाँ 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' ६।१।१६ इस सूत्र से रेफ के स्थान में ऋकार (सम्प्रसारण) हो जाता है।

अथ यङ्लुक्प्रक्रिया

७९२ । यङोऽचि च । २/४/७४॥

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात् चकारात्तं विनापि क्वचित् । अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति । ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाल्लडादयः । शेषात् कर्तरीति परस्मैपदम् । चर्करीतं चेत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

७९३ । यङो वा । ७/३/९४ ॥

वावस्यते । शी—शाशय्यते । स्मृ—सास्मर्यते । ह्व—जेह्लीयते । हा—जेहीयते । इत्यादि ।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

यङ् लुक् इति—यङ् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण से सनाद्यन्त मानकर जिसकी धातु संज्ञा होती है वही यङ्लुक् धातु है । यङ्लुक् की प्रक्रिया को यङ्लुक् प्रक्रिया कहा जाता है ।

६२८ यङ इति—अच् प्रत्यय परे होने पर यङ् का लोप हो जाता है ।

चकारादिति—सूत्र में च' (=भी) कहने से उस (अच् प्रत्यय) के विना भी कहीं यङ् का लोप हो जाता है ।

अनैमित्तिक इति—यह यङ् का लुक् (लोप) विना किसी निमित्त के होता है अतएव यह अन्तरङ्ग है तथा अन्तरङ्ग होने से (किसी अन्य प्रत्यय आदि आने से) पहले ही हो जाता है ।

तत इति—तब (यङ् का लोप होने पर) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१/१/६२॥) (अर्थात् प्रत्यय का लोप हो जाने पर उस प्रत्यय पर आश्रित कार्य हो जाता है) इस सूत्र के अनुसार द्वित्व हो जाता है । फिर अभ्यास कार्य होता है तथा धातुसंज्ञा[1] होने पर लट् आदि होते हैं ।

शेषादिति—शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् १/२/७८॥ इसके अनुसार यहाँ (यङ्लुक् में) परस्मैपद होता है ।

चर्करीतमिति—अदादि गण में 'चर्करीतं च' यह पढा गया है और 'चर्करीत' यङ् लुक् को कहते हैं, अतएव यङ् लुक् में शप्[2] का लोप (लुक्[3]) हो जाता है ।

७९३. यङोवेति—यङ्लुगन्त से आगे ऐसे सार्वधातुक[4] प्रत्यय को, जिसके आदि में हल् हो तथा जिसका पकार इत्संज्ञक हो विकल्प से इट् का आगम हो जाता है । ['तिप्' ऐसा ही सार्वधातुक है ।]

---

१. सनाद्यन्ताः धातवः ३/१/३२॥

२. कर्तरि शप् ३/१/६८॥

३. अदिप्रभृतिभ्यः शपः २/४/७२॥

४. तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३/४/११३॥

यङ्लुगन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्येड् वा स्यात् । भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषाया न बोभूतुतेतिक्ते इति छन्दसि निपातनात् । बोभ-

---

भूसुवोरिति—भूसुवोस्तिङि ७/३/८८ (अर्थात् भू और सू धातु को सार्वधातुक तिङ् परे होने पर गुण नहीं होता) । इसके अनुसार यङ्लुक् म भाषा में गुण निषेध नहीं होता, क्योंकि 'बोभूतु तेतिक्ते इत्यादि' के द्वारा वेद म गुणनिषेध का निपातन किया गया है । [यदि 'भूसुवोस्तिङि' सूत्र से यङ्लुक में गुण-निषेध हो जाता तो इस निपातन की आवश्यकता नहीं थी । यह गुण निषेध वेद म ही दिखलाया गया है। अत इससे सूचित होता है कि भाषा म गुण हो ही जाता है] ।

बोभवीति बोभोति—पुन पुन अतिशयेन वा भवति (बार-बार या अधिक होता है) इस विग्रह म यङ् होकर उसका 'यङोऽचि च' से लुक् हो जाता है । तब लुप्त प्रत्यय के निमित्त स इसे यङन्त मानकर 'भू' शब्द का द्वित्व और अभ्यास कार्य होकर बोभू यह यङ्लुगन्त धातु बनती है । इससे परस्मैपद के लट् लकार म बोभू + ति यह अवस्था हो जाती है । यहाँ जो शप् होता है उसका लुक् हो जाता है तथा 'यङो वा' से विकल्प से ईट्, उत्तर भाग को गुण[1] (ऊ को ओ) और 'अव्' आदेश होकर 'बोभवीति' रूप बनता है ईट् न होने पर 'बोभोति' रूप होता है ।

बोभूत —बोभू+तस् (ईट् तथा गुण के अभाव मे) बोभूत ।

टिप्पणी—पित् सार्वधातुक[3] को ही ईट् का आगम होता है किन्तु तस् पित् नहीं है अत ईट् नहीं होता । पित् न होने से ही तस् ङित् के समान[4] हो जाता है । और उसके परे होन पर गुण नहीं होता ।

अदभ्यस्तादिति—अदभ्यस्तात् ७/१/४ अभ्यस्त से आगे झ् को अत् आदेश होता है ।

बोभुवति—यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से प्रथम पुरुष के बहुवचन म 'बभू + झि' इस अवस्था मे झ को अत् आदेश होकर 'बोभू + अति यह स्थिति, है । यहाँ बोभूत के समान ही ईट् तथा गुण नहीं होता और ऊकार को उवङ्[6] (उव्) होकर बोभुव् + अति बोभुवति रूप बनता है ।

---

१. दाधर्तिदर्धर्तिबोभूतुतेतिक्ते० ७/४/६५ ॥
२ अभ्यास को गुणो यङ्लुको ' ७/४/८२ से गुण हो जाता है,
३ सार्वधातुकार्धधातुकयो ७/३/८४॥
४. सार्वधातुकमपित् १/२/४॥
५ क्ङिति च १/१/५॥
६. अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६/४/७७॥

वीति, वोभोति। वोभूतः। अदभ्यस्तात् वोभुवति। वोभवाञ्चकार-वोभवामास। वोभविता। वोभविष्यति। वोभवीतु-वोभोतु वोभूतात्। वोभूताम्। वोभुवतु।

वोभवा-ञ्चकार-वोभवामास—यङ्लुगन्त वोभू प्रत्ययान्त धातु है अतः लिट् में 'आम्' हो जाता है तथा कृ के परस्मैपदी रूप 'चकार' का अनुप्रयोग होकर वोभवाञ्चकार रूप बनता है। अस् धातु का अनुप्रयोग होने पर वोभवामास रूप होता है।

वोभविता-भू + यङ्लुक् + लुट् → वोभू + तास् + डा। इट् का आगम तथा धातु के ऊकार को गुण (ओ) और अवादेश होकर वोभविता रूप बनता है।

वोभविष्यति—भू + यङ्लुक् + लृट् → वोभू + स्य + ति। इट्, गुण अवादेश होकर वोभव् + इस्य + ति तथा सकार को षकार वोभविष्यति।

वोभवीतु वोभोतु—(भू + यङ्लुक् + लोट्) वोभवीति-वोभोति के समान सब कार्य होता है ति प्रत्यय के इ को (एरुः ३/४/८६ से) उकार होकर वोभवीतु-वोभोतु रूप बनते हैं।

वोभूतात्—भू + यङ्लुक् + लोट् (आशिषि) वोभू + तु—इस अवस्था में तु को आशिषि अर्थ में तात्[1] आदेश होकर वोभूतात् रूप बनता है।

वोभूताम्—यङ्लुगन्त वोभू से लोट् प्रथम पुरुष के द्विवचन में वोभू + तस् इस अवस्था में तस् को ताम्[2] आदेश होकर वोभूताम् रूप बनता है।

वोभुवतु—(वोभू + लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन)—वोभू + झि 'अदभ्यस्तात्' से झ् को अत् तथा 'एरु' से इकार को उकार वोभू + अतु—इस अवस्था में ऊकार को उवङ् होकर वोभुव् + अतु → वोभुवतु रूप होता है।

वोभूहि—(वोभू + लोट् मध्यपुरुष एकवचन)—वोभू + सि → सि को हि[3] आदेश होकर वोभूहि रूप बनता है।

वोभवानि—(वोभू + लोट् उत्तमपुरुष एकवचन)—वोभू + मि → मि को नि (मेर्निः ३/४/८९) आदेश होकर वोभू + नि—यहाँ पर नि को (आडुत्तमस्य पिच्च ३/४/९२) से आट् का आगम होता है। आट् पित् है अतः यह ङिद्वत् नहीं होता तथा ऊकार को गुण और अव् आदेश होकर वोभव् + आ + नि > वोभवानि रूप बनता है।

अवोभवीत्-अवोभोत्—(वोभू + लङ् प्र० पु० एक०) अ + वोभू + त् विकल्प से ईट् का आगम होकर गुण तथा अवादेश होते हैं और अवोभवीत् रूप बनता है। ईट् न होने पर अवोभोत् रूप होता है।

---

१. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७/१/३५॥

२. तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३/४/१०१॥

३. सेर्ह्यपिच्च ३/४/८७॥ हि के अपित् होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण गुण नहीं होता।

वोभूहि। वोभवानि। अवोभवीत्। अवोभोत्। अवोभूताम्। अवोभवुः। वोभूयात्, वोभूयाताम्, वोभूयुः। वोभूयात्, वोभूयास्ताम्, वोभूयासुः। गातिस्थेति सिचो लुक्। यङो वेतीट् पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद्वुक्। अवोभूवीत्-अवोभोत्, अवोभूताम्, अवोभूवुः। अवोभविष्यत्।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥

अवोभूताम्—(वोभू + लङ् प्र० पु० द्वि०)—अ + वो + भू + तस् > अवोभूताम् (यहां तस् अपित् सार्वधातुक है अतः उसे ङिद्वद् हो जाने से ऊ को गुण नहीं होता)।

अवोभवुः—(वोभू + लङ् प्र० पु० बहु०)—अ + वोभू + झि इस अवस्था में झि को सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३/४/१०९ इस सूत्र के अनुसार जुस् आदेश हो जाता है तथा जुसि च ७/३/८३ से गुण होकर अवादेश हो जाता है और अवोभवुः रूप बनता है।[1]

वोभूयात्—(वोभू + विधिलिङ् प्र० पु० एक०)—वोभू + यास् (यासुट्) + त् इस अवस्था में 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' ७/२/७९। इससे यास्' के स् का लोप होकर वोभूयात् रूप बनता है।

वोभूयाताम् (वोभू + विधिलिङ् प्र० पु० द्वि०)—वोभू + यास् + ताम् स लोप होकर वोभूयाताम् रूप बनता है।

वोभूयुः—(वोभू + विधिलिङ् प्र० पु० बहु०)—वोभू + यास् + झि इस अवस्था में झि को झेर्जुस् ३/४/१०८ से जुस् आदेश होकर तथा यास् के सकार का लोप होकर वोभू + या उस् इस अवस्था में उस्यपदान्तात् ६/१/९६ से या' के आकार को पररूप होकर वोभूयुः रूप बनता है।

वोभूयात्—(वोभू + आशिषि लिङ् प्र० पु० एक०) वोभू + यास् + त् इस अवस्था में (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८/२/२९) सकार का लोप होकर वोभूयात्।

वोभूयास्ताम्—(वोभू + आ० लिङ्० प्र० पु० द्वि०) वोभू + यास् + ताम्—यहाँ सकार का लोप नहीं होता। ('लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सार्वधातुक में ही लोप होता है और 'आशिषि लिङ् आर्धधातुक'[2] है) अतः वोभूयास्ताम् रूप बनता है।

वोभूयासुः—(वोभू + आ० लिङ् प्र० पु० बहु०) वोभू + यास् + झि > वोभू यास् + उस् > वोभूयासुः।

गातिस्थेति-(वोभू + सिच् + लुङ्—इस अवस्था में) गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २/४/७७ इस सूत्र से 'सिच्' का लुक् (लोप) हो जाता है।

---

१ यहाँ 'अवोभुवुः' रूप शुद्ध नहीं। 'अवोभवुः' यही प्रामाणिक पाठ है।

२ लिङाशिषि ३/४/११६। इसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है।

३ भुवो वुग्लुङ्लिटोः नित्यत्वात्, यह महाभाष्य का वचन है अर्थात् लुङ् तथा लिट् परे होने पर गुण करने या न करने पर दोनों दशाओं में वुक् प्राप्त होता है अतः वह नित्य है (कृताकृतप्रसङ्गित्वं नित्यत्वम्)।

अथ नामधातवः

७६४। सुप आत्मनः क्यच् ।३।१।८॥

इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ।

यङ् इति—यङो वा ७।३।४९ से ईट् होने के पक्ष में सार्वधातुकार्धधातुकयोः से गुण को बाध कर नित्य होने के कारण वुक् हो जाता है।

अबोभूवीत्-अबोभोत्—(बोभू + लुङ् प्र० पु० एक०)—अ + बोभू + सिच् + त् इस अवस्था में सिच् का लुक् होकर विकल्प से ईट् का आगम होता है अबोभू + ई + त् यहाँ गुण को बाधकर वुक्[1] हो जाता है तथा अबोभू व् + ईत्→अबोभूवीत् रूप बनता है। ईट् न होने पर गुण अबोभोत् रूप होता है।

अबोभूताम्—(बोभू + लुङ् प्र० पु० द्वि०)—अबोभू + सिच् + ताम्→सिच् का लोप होकर अबोभूताम् रूप बनता है।

अबोभूवुः—(बोभू + लुङ प्र० पु० बहु०)—अबोभू + सिच् + झि→सिच् का लोप होकर झि को (सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से) जुस् होकर अ बोभू + उस् इस अवस्था में वुक् का आगम होकर अबोभूवुः रूप बनता है।

अबोभविष्यत्—(बोभू + लृङ् प्र० पु० एक०) अ + बोभू + इट् + स्य + त् इस अवस्था में ऊकार को गुण, अव् आदेश होकर अबोभव् + इ + स्य + त्→स् को ष् अबोभविष्यत् रूप बनता है।

टिप्पणी—इसी प्रकार कुछ अन्य धातुओं के यङ्लुगन्त रूप इस प्रकार होते हैं—

दा—दादाति, दादेति। मुद्—मोमुदीति, मोमोत्ति। कूर्द—चोकूर्दीति, चोकूर्त्ति। गम्—जङ्गमीति, जङ्गन्ति। हन्—जङ्घनीति, जङ्घन्ति। चर्—चञ्चुरीति, चञ्चूर्त्ति। हा—जाहेति, जाहाति। स्वप्—सास्वपीति, सास्वप्ति। कृ—चर्करीति, चरिकरीति, चरीकरीति, चर्कर्ति, चरिकर्ति, चरीकर्ति। इत्यादि।

॥ इति यङ्लुक् प्रक्रिया ॥

नामधातव इति—नाम अर्थात् प्रातिपदिक या सुबन्त से प्रत्यय जोड़कर जो धातु बनाई जाती है वे नामधातु कहलाती हैं। इन धातुओं के विविध अर्थ होते हैं क्योंकि प्रातिपदिक या सुबन्त से अनेक अर्थों में प्रत्यय किये जाते हैं। जैसे—

७६४. सुप् इति—इच्छा का कर्म तथा इच्छा के कर्त्ता से सम्बन्ध रखने वाला जो सुबन्त उससे इच्छा अर्थ में विकल्प से क्यच् होता है।

---

१. भुवो वुग्लुङ्लिटोः ६।४।८८। अर्थात् अजादि लुङ् और लिट् परे होने पर भू धातु को वुक् का आगम होता है। वुक् में व् शेष रहता है।

७६५ । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ।२।४।७१॥

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् ।

७६६ । क्यचि च ।७।४।३३॥

अवर्णस्य ई । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति ।

७६७ । न: क्ये । १।४।१५॥

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पद नान्यत् । नलोप । राजीयति । नान्तमेवेति

टिप्पणी—'आत्मन पुत्रम् इच्छति'—अपना (अपने लिये) पुत्र चाहता है यहाँ इच्छा का कर्म है—पुत्र तथा वह चाहने वाले से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि चाहने वाला अपना पुत्र चाहता ह, इसलिये 'पुत्र' शब्द से क्यच् प्रत्यय होता है। क्यच् मे 'य' शेष रहता है। क्यच् प्रत्ययान्त धातु परस्मैपदी होती है।

पुत्र + अम् + य (क्यच्) इस अवस्था मे।

७६५. सुपो धात्विति—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् हो जाता है। [पुत्र + अम् + य' की सनाद्यन्ता धातव ३।१।३२ से धातु सज्ञा होती है अत यहाँ अम् का लुक् हो जाता है और पुत्र + य ऐसा हो जाता है]।

७६६ क्यचीति—क्यच् प्रत्यय परे होने पर अवर्ण का ई हो जाता है। [इससे पुत्र के अकार को ईकार होकर 'पुत्रीय' नामधातु बनती है और उससे लट् लकार मे तिप्, शप् होकर पुत्रीयति]।

पुत्रीयति—पुत्रमात्मन इच्छति (अपना पुत्र चाहता है)—इस अर्थ मे पुत्र शब्द मे क्यच् प्रत्यय होकर पुत्र + य इस अवस्था मे अकार को ईकार होता है और 'पुत्रीय' नामधातु बन जाती है। उससे लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन मे पुत्रीय + अ (शप्) + ति → अ + अ = अ ('अतो गुणे' से पररूप) 'पुत्रीयति' रूप बनता है।

टिप्पणी—नामधातु के रूप सब लकारो मे इस प्रकार होते है—

लट्–पुत्रीयति। लिट् पुत्रीयाञ्चकार इत्यादि। लुट्–पुत्रीयिता। लृट्–पुत्रीयिष्यति। लोट्–पुत्रीयतु। लङ्–अपुत्रीयत्। विधिलिङ् पुत्रीयेत्। आशिषि लिङ्—पुत्रीयात्। लुङ्–अपुत्रीयीत्। लृङ्–अपुत्रीयिष्यत्।

७६७. न इति—क्यच् और क्यङ् प्रत्यय परे होने पर नकारान्त शब्द ही पदसज्ञक होता है अन्य नहीं।

न लोप इति—'राजन् + क्यच्' इस अवस्था मे ऊपर के सूत्र से 'राजन्' की पद संज्ञा होने से 'न लोप. प्रातिपदिकान्तस्य' ८।२।७ से नकार का लोप हो जाता है।

राजीयति—राजानमात्मन इच्छति (अपना राजा चाहता है) इस अर्थ मे राजन् + अम् + य (क्यच्), इसको 'सनाद्यन्ता धातव' से धातुसज्ञा होकर अम् का

किम् । वाच्यति । हलि च । गीर्यति । पूर्यति । धातोरित्येव । नेह—दिवमिच्छति दिव्यति ।

७९८ । क्यस्य विभाषा । ६।४।५०॥

हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वार्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न । समिधिता । समिध्यिता ।

लोप होता है तथा 'नः क्ये:' से राजन् की पदसंज्ञा होकर नकार का लोप हो जाता है 'राज+य' इस दशा में 'क्यचि च' से अकार को ईकार होकर 'राजीय' नामधातु बनती है । उससे लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में 'राजीयति' रूप बनता है ।

नान्तमेवेति—नान्त की ही पदसंज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि वाच्यति, यहाँ पर 'वाच्' शब्द की पदसंज्ञा नहीं होती । वाचमात्मन इच्छति इस अर्थ में 'वाच्+य (क्यच्)' इस दशा में (वाच्)' की पदसंज्ञा न होने से चकार को 'चोः कुः' ८।२।३० से कुत्व (ककार) नहीं होता 'झलां जशोऽन्ते' ८।२।३९ से जश्त्व भी नहीं होता और 'वाच्यति' रूप बनता है ।

हलि चेति—गिर्+य, पुर्+य—इस अवस्था में हलि च ८।२।७७ (जिस धातु के अन्त में रेफ या वकार होता है उसकी उपधा को दीर्घ हो जाता है) इस सूत्र से गिर् के इकार तथा पुर् के उकार को दीर्घ होता है ।

गीर्यति—गिरमात्मनः इच्छति (अपनी वाणी चाहता है)—इस अर्थ में गिर्+अम्+य (क्यच्) यहाँ अम् का लोप होकर 'हलि च' से इकार को दीर्घ (ईकार) हो जाता है तथा 'गीर्य' नामधातु बनती है उससे 'गीर्यति' रूप होता है ।

पूर्यति—पुरमात्मनः इच्छति, (अपना नगर चाहता है) पुर्+य→पूर्यति ।

धातोरिति—'हलि च' इस सूत्र से धातु की उपधा को दीर्घ होता है । 'गिर्' और 'पुर्' शब्द 'गॄ निगरणे' तथा 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर बने हैं तथा यह सिद्धान्त है कि क्विप् प्रत्ययान्त शब्द धातुत्व का त्याग नहीं करते (क्विब्विजन्ता न धातुत्वं जहति) अतः गीर्यति, पूर्यति में दीर्घ हो जाता है । किन्तु 'दिवमात्मनः इच्छति'→'दिव्यति' यहाँ दीर्घ नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'दिव्' क्विबन्त या विजन्त नहीं हो सकता, अपितु अन्य ही प्रातिपदिक है । इसलिये यहाँ 'दिव्' धातु नहीं कहला सकती ।

७९८. क्यस्येति—हल् (व्यञ्जन) से परे क्यच् और क्यङ् का विकल्प से लोप हो जाता है, आर्धधातुक परे होने पर ।

आदेरिति—आदेः परस्य १।१।५४॥ के अनुसार यह लोप 'य' (य्+अ) के आदि अर्थात् यकार का होता है ।

अत इति—अतो लोपः ६।४।४८ से शेष अकार का लोप हो जाता है ।

७९९ । काम्यच्च ।३।१।९॥

उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता ।

८०० उपमानादाचारे ।३।१।१०॥

उपमानात् कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् । पुत्रमिवाचरति ।

तस्येति—उस यकार के लोप को स्थानिवद् भाव होने से लघूपध गुण नहीं होता अर्थात् समिध् + इ + ता' इस अवस्था में समिध् के इ को लघूपध गुण प्राप्त है । समिध्य + इ + ता, इस दशा में धकार से आगे वाले यकार का लोप हुआ है उसको लोप न हुआ सा मान लिया जाता है तब लघूपध शब्द नहीं रहता (क्योंकि उपधा में धकार दिखाई देता है और गुण नहीं होता ।

समिधिता समिध्यिता—समिधमात्मन इच्छति (समिधा अपनी चाहता है)—इस अर्थ में 'समिध् से क्यच् प्रत्यय होकर समिध्य' नामधातु बनती है । इससे लुट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में समिध्य + तास् + डा→समिध्य + ता→इट् होकर समिध्य + इ + ता इस अवस्था में 'क्यस्य विभाषा' से विकल्प से यकार का लोप और 'अतो लोप' से अकार का लोप होकर समिधिता रूप बनता है । यकार का लोप न होने पर अकार लोप होकर 'समिध्यिता' रूप होता है ।

७९९. काम्यच्चेति—क्यच् के अर्थ में ही काम्यच् प्रत्यय होता है ।

['काम्यच्' में चकार का लोप हो जाता है और काम्य शेष रहता है काम्यच् प्रत्ययान्त धातु परस्मैपद में होती है ।]

पुत्रकाम्यति—पुत्रमात्मन इच्छति, इस अर्थ में काम्यच् प्रत्यय होता है, पुत्र + अम् + काम्य' इसकी 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा होकर 'अम्' का लोप होता है और 'पुत्रकाम्य' यह नामधातु बन जाती है । इससे लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में पुत्रकाम्यति ।

पुत्रकाम्यिता—पुत्रकाम्य + लुट् प्रथम पुरुष एकवचन । पुत्रकाम्य + इ (इट्) + ता→काम्य के अन्तिम अकार का लोप (अतो लोप) होकर पुत्रकाम्यिता ।

विशेष—इच्छार्थक क्यच् और काम्यच् प्रत्यय करके अन्य शब्दों के रूप भी इसी प्रकार बन जाते हैं, जैसे—मालामात्मन इच्छति मालीयति तथा मुनीयति, साधूयति, कवीयति । गामात्मन इच्छति—गव्यति । अश्वीयति । कृपीयति इत्यादि । काम्यच्—धनमात्मन इच्छति—धनकाम्यति । इसी प्रकार यशस्काम्यति, सर्पिष्काम्यति, स्व काम्यति इत्यादि ।

८००. उपमानादिति—उपमान रूप कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है ।

पुत्रीयति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् ।

* सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः ॥

अतो गुणे । कृष्ण इवाचरति कृष्णति । स्व इवाचरित स्वति । सस्वौ ।

टिप्पणी—आचार का अर्थ है व्यवहार करना। जो सुवन्त उपमान होता है तथा आचार का कर्म होता है उससे यह क्यच् होना है। यह आचार-क्यच् कहलाता है, 'सुप आत्मनः क्यच्' से वतलाया गया क्यच् इच्छा क्यच् है। दोनों के अर्थ में ही भेद होता है रूप तो समान ही होते हैं।

पुत्रीयति छात्रम्—छात्रं पुत्रमिवाचरति (छात्र से पुत्र-तुल्य व्यवहार करना है) —इस अर्थ में 'उपमानादाचारे' से क्यच् प्रत्यय होकर पुत्र + अम् + क्यच् → 'पुत्रीय' नामधातु बनती है। उससे पुत्रीयति रूप वनता है।

विष्णूयति द्विजम्—द्विजं विष्णुमिवाचरति (ब्राह्मण से विष्णु के समान व्यवहार करता है) इस अर्थ में आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होकर 'विष्णु + य' इस अवस्था में 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५ इस सूत्र से उकार को दीर्घ होकर 'विष्णूय' नामधातु वनती है। उससे विष्णूयति रूप बनता है।

सर्वेति—(वा) सव प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में विकल्प से 'क्विप्' प्रत्यय हो जाता है, यह कहना चाहिये।

टिप्पणी—(१) क्विप् प्रत्यय में ककार की 'लशक्वतद्धिते' १।३।८। से, इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ से और पकार की 'हलन्त्यम्' १।३।३ से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। शेष वचे हुए वकार का 'वेरपृक्तस्य' ६।१।६७ से लोप होता है। इस प्रकार समस्त 'क्विप्' का लोप हो जाता है जो सर्वापहार कहलाता है। (२) 'उपमानादाचारे' सूत्र के अनुसार उपमानवाची कर्म सुवन्त से क्यच् प्रत्यय होता है किन्तु 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इत्यादि वार्तिक के अनुसार उपमानवाची कर्त्ता प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होता है यह दोनों का अन्तर है।

कृष्णति—कृष्ण इवाचरति (कृष्ण के समान आचरण करता है—इस अर्थ में कृष्ण प्रातिपदिक से क्विप् होकर क्विप् का लोप (सर्वापहार) हो जाता है। तव कृष्ण की 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा होकर लट् लकार में कृष्ण + अ (शप्) + ति इस अवस्था में 'अतो गुणे' से कृष्ण के अन्तिम अकार का शप् के अकार से पररूप होकर 'कृष्णति' रूप बनता है।

स्वति—स्व इव आचरति (आत्मीय के समान आचरण करता हैं)—इस अर्थ में 'स्व' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता हैं तव 'स्व' नामधातु वनती है और इससे लट् प्रथम पुरुष एकवचन में 'स्वति' रूप वनता है।

सस्वौ—क्विप् प्रत्ययान्त नामधातु 'स्व' से लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में स्व + णल् (अ) 'स्व' के अकार को वृद्धि[1] (आकार) होकर 'स्वा + अ' इस अवस्था

---

१. अचोञ्णिति ७।२।११५।

८०१ । अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ।६।४।१५॥

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति ।

इदमिवाचरति इदामति । राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति ।

८०२ । कष्टाय क्रमणे ।३।१।१४॥

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः ।

में णल् के स्थान में 'औ' र हो जाता है। स्वा + औ--यहाँ 'द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर स + स्वा + औ → (आ + औ = औ) स + स्वौ → सस्वौ' यह रूप बनता है।

८०१ अनुनासिकस्येति—अनुनासिक है अन्त में जिसके ऐसे (अङ्ग) की उपधा को दीर्घ होता है क्वि तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।

इदामति—इदमिव आचरति (इसके समान आचरण करता है)—इस अर्थ में 'इदम्' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर इदम् + क्विप्, यहाँ अनुनासिकस्य०' इस सूत्र से इदम् की उपधा (अर्थात् दकार म पर अकार) को दीर्घ हो जाता है तथा क्विप् का लोप हो जाने पर 'इदाम्' यह नामधातु बनती है। इससे लट् लकार में इदाम् + अ (शप्) + ति → इदामति रूप बनता है।

राजानति—राजेव आचरति (राजा के तुल्य आचरण करता है) इस अर्थ में राजन् + क्विप् → दीर्घ होकर 'राजान्' नामधातु बनती है। इससे राजानति रूप बन जाता है।

पथीनति—पन्था इव आचरति (मार्ग के समान आचरण करता है) —इस अर्थ में पथिन् + क्विप् → उपधा को दीर्घ होकर 'पथीन्' यह नामधातु बनती है।

विशेष—यहाँ आचारार्थ में दो प्रत्यय बतलाये गये हैं—(१) क्यच् और (२) क्विप्। इन प्रत्ययों से अन्य कुछ शब्दों के रूप इस प्रकार हैं—

क्यच्—(अधिकरण से)—कुट्यां प्रासादे इवाचरति प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः। इसी प्रकार कुटीयति प्रासादे राजा।' क्विप् मालेव आचरति मालाति। पितेव आचरति पितरति इत्यादि। इनके अतिरिक्त आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय भी होता है, जैसे— कृष्ण इव आचरति कृष्णायते, कुमारीव आचरति कुमारीयते इत्यादि।

८०२. कष्टायेति—चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—(१) क्यङ् प्रत्यय में ककार और ङकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और 'य' शेष रहता है। (२) ङित् (ङकार है इत्संज्ञक जिसका) होने से 'क्यङ्' प्रत्ययान्त नाम धातु आत्मनेपदी होती है।

कष्टायते—कष्टाय क्रमते (पाप करने को उत्साह करता है)—इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से क्यङ् प्रत्यय होकर कष्ट + ङे + क्यङ्—इस अवस्था में धातु

---

१. आत औ णलः ७।१।३४।

८०३। शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे।३।१।१७॥

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति-शब्दायते 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्।

प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च।

प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभावटिलोप विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्रस्थस्फाद्यादेश-भसंज्ञास् तद्वद्णावपि स्युः। इत्यल्लोपः। घटं करोत्याचष्टे वा घटयति।

॥ इति नामधातवः ॥

संज्ञा होकर 'ङे' का लोप होता है तथा 'कष्ट' शब्द के अन्तिम अकार को दीर्घ[1] होकर कष्टाय नाम धातु बनती है इससे लट् लकार में कष्टायते रूप बनता है।

पापमिति—कष्टायते का अर्थ है—पाप करने को उत्साहित है। भाव यह है कि यहाँ कष्ट शब्द से उसके साधन 'पाप' का ग्रहण है। क्रम का अर्थ होता है उत्साह (क्रमणमुत्साहः—तत्त्वबोधिनी)। अतः कष्टायते का उपर्युक्त अर्थ हो जाता।

८०३. शब्देति—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ-कर्मकारक में स्थित इन शब्दों से 'करोति' (करता है) इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है।

शब्दायते—शब्दं करोति (शब्द करता है)—इस अर्थ में 'शब्द + अम् + क्यङ् इस अवस्था में अम् का लोप होकर शब्द + य → शब्द' के अन्तिम अकार को दीर्घ होकर 'शब्दाय', यह नामधातु बनती है। इससे शब्दाय + अ (शप्) + ते → शब्दायते रूप बनता है।

तत्करोतीति—'उसे करता है' या 'उसे कहता है' इस अर्थ में प्रातिपादिक से णिच् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—'तत्करोति' इत्यादि धातु पाठ में पठित गणसूत्र है। इससे 'करने' और 'कहने' के अर्थ में कर्मवाची शब्द से णिच् प्रत्यय होता है।

प्रातिपदिकादिति—प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में बहुधा णिच् प्रत्यय होता है और वह (णिच्) इष्ठन् प्रत्यय के समान होता है अर्थात् इष्ठन् प्रत्यय परे होने पर जैसे प्रातिपदिक को पुंवद्भाव, रभाव (र होना), टिसंज्ञक का लोप, और मतुप् प्रत्यय का लोप यण् है आदि में जिस अंश के उसका लोप, स्थ तथा स्फ आदेश तथा भसंज्ञक होती है, उसी प्रकार णि प्रत्यय परे होने पर भी ये कार्य होते हैं।

इत्यल्लोप इति—इसी प्रकार इष्ठन् प्रत्यय के समान होने से 'घट + णिच्' यहाँ पर घट की भसंज्ञा हो जाती है तथा 'यस्येति च' ६।४।१४८ से अन्तिम अकार का लोप हो जाता है।

---

१. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५॥

अथ कण्ड्वादयः

८०४। कण्ड्वादिभ्यो यक् ।३।१।२७॥

एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूयति। कण्डूयते। इत्यादि।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥

घटयति—घटं करोति आचष्टे वा (घट को बनाता है या घट को कहता है) इस अर्थ में घट शब्द से णिच् प्रत्यय होकर घट+णिच्—इस अवस्था में घट के अन्तिम अकार का लोप हो जाता है और घट्+इ→घटि' यह नाम धातु बन जाती है। इससे लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में घटयति रूप बनता है।

टिप्पणी—(१) इष्ठवत् होने से पुंवद्भाव आदि के उदाहरण इस प्रकार हैं। पुंवद्भाव—पट्वीमाचष्टे पटयति ['भस्याढे तद्धिते' (वा) से पुंवद्भाव। रभाव—दृढं करोति द्रढयति (र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१ से ऋ को र्)। टिलोप—पटुमाचष्टे पटयति (टेः ६।४।१५५॥)। विन्मतोर्लुक्—स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति। मतुप् लुक्—श्रीमन्तं करोति श्राययति (विन्मतोर्लुक् ५।३।६५)। यणादिलोप—स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं करोति दवयति (स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१५६)। प्र–आदेश—प्रियमाचष्टे प्रापयति, स्थ आदेश—स्थिरं करोति स्थापयति, स्फ-आदेश—स्फिरमाचष्टे स्फापयति (प्रियस्थिरस्फिर० ६।४।१५७)। भसंज्ञा का उदाहरण ऊपर दिया गया है।

॥ इति नामधातु ॥

कण्ड्वादयः—'कण्डू' आदि गणपाठ में पढ़े गये शब्द हैं। इस प्रकरण में उनसे बनने वाली क्रियाओं का उल्लेख किया गया है।

८०४. कण्ड्वादिभ्य इति—कण्डू आदि धातुओं से नित्य यक् प्रत्यय होता है, स्वार्थ में।

टिप्पणी—यहाँ 'धातुभ्यः' (धातु से) इस विशेषण का प्रयोजन यह है कि कण्डू आदि प्रातिपदिकों से यक् प्रत्यय नहीं होता। 'कण्डू' आदि दो प्रकार के हैं—धातु तथा प्रातिपदिक। इनमें धातुओं से ही यक् प्रत्यय होता है, प्रातिपदिकों से नहीं।

कण्डूञ्—'धातु खुजलाना' अर्थ में है।

कण्डूयति कण्डूयते—कण्डू धातु से 'यक्' होकर 'कण्डूय' ऐसा रूप बनता है।

इसकी धातु[1] संज्ञा होकर लट् लकार के परस्मैपद[2] में कण्डूयति तथा आत्मनेपद में कण्डूयते रूप बनते हैं।

टिप्पणी—(१) 'कण्डूय' आदि धातुओं के सब लकारों में इस प्रकार रूप होते हैं—लट् कण्डूयति-कण्डूयते। लिट्—कण्डूयाञ्चकार-कण्डूयाञ्चक्र। लुट्—कण्डूयिता। लृट्—कण्डूयिष्यति—ते। लोट्—कण्डूयतु-ताम्। लङ्-अकण्डूयत्—त। विधिलिङ्—कण्डूयेत्—त। आशिषि लिङ्—कण्डूय्यात्-कण्डूयिषीष्ट। लुङ्—अकण्डूयीत्—अकण्डूयिष्ट। लृङ्—अकण्डूयिष्यत्—त। (२) कण्ड्वादि के कुछ व्यवहारोपयोगी क्रियारूप इस प्रकार हैं—

सपर—सपर्यति। भिषज्—भिषज्यति। इषुध्—इषुध्यति। केला, खेला—केलायति, खेलायति। मही—महीयते। पयस्—पयस्यति। सुख—सुख्यति। कण्ड्वादि आकृतिगण है।

॥ इति कण्ड्वादि ॥

१. आत्मनेपदेति—जैसा कि तिङन्त प्रक्रिया के प्रारम्भ में बतलाया गया है लकार के स्थान में होने वाले प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—

१. परस्मैपद और २. आत्मनेपद। किन धातुओं से परस्मैपद प्रत्यय लगाये जाते हैं और किन से आत्मनेपद, यह बतलाने वाले तीन सामान्यसूत्र हैं। उनके अपवाद रूप ही अन्य सूत्र परस्मैपद या आत्मनेपद का विधान करते हैं। वे सामान्य सूत्र ये हैं—

१. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२॥ जिसका अनुदात्त अच् (स्वर) इत् हो (अनुदात्तेत्) अथवा ङकार इत्संज्ञक (ङित्) हो ऐसी धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—एध वृद्धौ, इसका धकार से आगे वाला अनुदात्त अकार इत्संज्ञक है, अतः इससे आत्मनेपद (एधते) होता है। इसी प्रकार 'शीङ्' धातु का ङकार इत्संज्ञक है, अतः इससे आत्मनेपद (शेते) होता है। कौन धातु अनुदात्तेत् है और 'ङित्' है—इसका ज्ञान धातुपाठ से होता है।

२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२॥—जिसका स्वरित अच् इत् हो (स्वरितेत्) अथवा जिसका ञकार इत् हो (ञित्) उस धातु से आत्मनेपद होता है यदि

---

१. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२॥

२. 'कण्डूञ्' धातु 'ञित्' (ञकार है इत्संज्ञक जिसका) है अतः उभयपदी है। (देखिये आत्मनेपद)

८०५। कर्तरि कर्मव्यतिहारे।१।३।१४॥

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्य लवनं करोतीत्यर्थः।

क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता है (कर्तृगामी)। जैसे—'पच्' धातु का चकार से आगे वाला स्वरित अकार इत्सञ्ज्ञक है अर्थात् यह स्वरितेत् है। यदि कहना है कि 'देवदत्त अपने लिये भोजन पकाता है'। तो यहाँ 'पचति' क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होगा (कर्तृगामी) अतः देवदत्तः भोजनं पचते, यह (आत्मनेपद) प्रयोग होना चाहिये और यदि कहना है कि 'पाचक (दूसरों के लिये) भोजन पकाता है' तो यहाँ 'पचति' क्रिया का फल कर्ता से अन्य को प्राप्त होता है (परगामी) अतः पाचकः भोजनं पचति—यह (परस्मैपद) प्रयोग होना चाहिये। इसी प्रकार 'कृञ' धातु जो 'ञित्' है उससे कर्तृगामी क्रिया फल में आत्मनेपद तथा परगामी क्रियाफल में परस्मैपद होगा।

टिप्पणी—परस्मैपद और आत्मनेपद के प्रयोग का यह विवेक बहुत ही कम किया जाता है। उच्चकोटि के संस्कृत कवियों ने भी दोनों पदों का सामान्यरूप से प्रयोग किया है किन्तु दशकुमारचरित तथा कादम्बरी में अनेक स्थल हैं जहाँ दोनों पदों का नियमित प्रयोग मिलता है।[1]

३ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८॥—जिस धातु में आत्मनेपद का निमित्त नहीं होता वह शेष कही गई है, उससे कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है।

इन सूत्रों से कर्तृवाच्य में ही आत्मनेपद आदि की व्यवस्था की जाती है। भाव तथा कर्म में तो 'भावकर्मणोः' १।३।१३ के अनुसार आत्मनेपद ही होता है। इस प्रकार संक्षेप में सामान्य नियम यह है—

आत्मनेपद—(क) अनुदात्तेत्, ङित् धातुओं से (ख) स्वरितेत्, ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल में (ग) कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में होता है।

परस्मैपद—शेष धातुओं से केवल कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है। इस नियम के कुछ अपवादों का आगे निरूपण किया जा रहा है।

८०५ कर्तरीति—क्रिया का विनिमय अर्थात् कार्यों की अदला बदली को प्रकट करने के लिये कर्तृवाच्य में आत्मनेपद होता है।

टिप्पणी—जब एक के नियत कर्म को दूसरा करता है तो वह कर्मव्यतिहार (क्रियाविनिमय) कहलाता है। यह कर्मव्यतिहार वि+अति उपसर्गों द्वारा प्रकट होता है।

व्यतिलुनीते—दूसरे के योग्य काटने के कार्य को करता है, यह अर्थ है।

---

१. मिलाइये—M R Kale A Higher Sanskrit Grammar पादटिप्पणी सञ्ख्या ६६१.

८०६ । न गतिहिंसार्थेभ्यः ।१।३।१५।।
व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति ।

८०७ । नेर्विशः ।१।३।१७।।
निविशते ।

८०८ । परिव्यवेभ्यः क्रियः ।१।३।१८।।
परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते ।

८०९ । विपराभ्यां जेः ।१।३।१९।।
विजयते । पराजयते ।

यहाँ वि, अति उपसर्ग पूर्वक लूञ् (काटना) धातु से कर्मव्यतिहार को प्रकट करने के लिये आत्मनेपद होता है । वि + अति + लू + ना (श्ना) + ते → व्यतिलुनीते ।[1]

८०६. नेति—गति और हिंसा है अर्थ जिनका ऐसी धातुओं से क्रिया-विनिमय अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता (पूर्व सूत्र १।३।१४ का अपवाद) ।

व्यतिगच्छन्ति—(एक-दूसरे के गन्तव्य स्थानों को जाते हैं) वि + अति + गम् + शप् अन्ति । यहाँ क्रिया-विनिमय अर्थ प्रकट होता है तथापि गत्यर्थक धातु होने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है । इसी प्रकार—

व्यतिघ्नन्ति—वि + अति + हन् + अन्ति । यहाँ हिंसार्थक धातु होने से क्रिया-विनिमय अर्थ में भी आत्मनेपद नहीं होता है ।

८०७. नेर्विश इति—नि पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है ।

निविशते—सामान्यतः विश् परस्मैपदी है उपर्युक्त सूत्र के अनुसार नि उपसर्ग पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो जाता है—नि + विश् + अ (श[2]) + ते ।

८०८. परीति—परि, वि और अव उपसर्ग पूर्वक 'क्री' धातु से आत्मनेपद होता है । 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' क्र्यादिगण की धातु है । यह ञित् है, अतः कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद सिद्ध ही है । इन उपसर्गों से परे परगामी क्रियाफल में भी आत्मनेपद का विधान करने के लिये यह सूत्र है ।

परिक्रीणीते—(वेतन द्वारा नियतकाल के लिये रखता है) परि उपसर्ग पूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद होकर परि + क्री + ना (श्ना) + ते··· परिक्रीणीते इसी प्रकार 'विक्रीणीते' (बेचता है), अवक्रीणीते ।

८०९. विपराभ्यामिति—वि, परा पूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है ।

विजयते—(विजय प्राप्त करता है) वि पूर्वक जि (जय करना, भ्वादि) धातु

---

१. यहाँ ई हल्यघोः ६।४।११३ से श्ना के आकार को ईकार होता है । तथा प्वादीनां ह्रस्वः से लू के ऊकार को ह्रस्व (उकार) हो जाता है ।

२. यह तुदादिगण की धातु है अतः 'तुदादिभ्यः शः' ३।१।७७ से शः' विकरण होता है ।

८१० । समवप्रविभ्य स्थ. ।१।३।२२॥

सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते । वितिष्ठते ।

८११ । अपह्नवे ज्ञ' ।१।३।४४॥

शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थ ।

८१२ । अकर्मकाच्च ।१।३।४५॥

सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थ ।

८१३ । उदश्चर सकर्मकात् ।१।३।५३॥

धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थं ।

से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार आत्मनपद होकर वि + जि + अ (शप्) + ते → 'जि' व इ को गुण (ए) तथा अय् होकर विजयते । इसी प्रकार पराजयते' हारता है (अकर्मक) हराता है (सकर्मक) ।

८१० समवेति—सम् अव, प्र, वि उपसर्ग पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ।

सन्तिष्ठते—अच्छी तरह ठहरता है (साथ रहता है आदि)— सम् पूर्वक स्था (ठहरना) धातु से समवप्रविभ्य स्थ॰ सूत्र स आत्मनेपद हो जाता है तथा सम् + स्था + अ (शप्) + ते → स्था को तिष्ठ आदेश होकर सन्तिष्ठते । इसी प्रकार अवतिष्ठते (रहता है), प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है), वितिष्ठते (विशेष प्रकार से स्थित रहता है) इत्यादि ।

८११. अपह्नवे इति—ज्ञा धातु से छिपाना अर्थ मे आत्मनेपद होता है । (ज्ञा अवबोधने क्र्यादिगण की उभयपदी धातु है । प्रस्तुत सूत्र से परगामी क्रियाफल मे भी 'अपह्नव' अर्थ म आत्मनेपद ही होता है ।

शतमपजानीते—सौ (रुपये) को छिपाता (नटता) है, यह अर्थ है । यहाँ उपर्युक्त सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है—अप + ज्ञा + ना (श्ना) + ते → ज्ञा के स्थान मे 'जा'[1] होकर अपजानीते ।

८१२. अकर्मकाच्चेति—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ।

[इस सूत्र मे भी परगामी क्रियाफल मे आत्मनपद कहा गया है ।

सर्पिषो जानीते—घृत के द्वारा प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है । इस अर्थ मे भी ज्ञा धातु अकर्मक है । अत 'अकर्मकाच्च' स आत्मनेपद होकर ज्ञा + ना + ते → जानीते ।

८१३. उदश्च इति—उद् उपसर्ग पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है । 'चर् गतिभक्षणयो.' भ्वादिगण की परस्मैपदी धातु है । उससे आत्मनेपद का विधान किया गया है ।

---

१ ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९॥

८१४ । समस्तृतीयायुक्तात् ।१।३।५४॥

रथेन सञ्चरते ।

८१५ । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ।१।३।५५॥

सम्पूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्ताद्युक्तं स्यात् तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी ।

८१६ । पूर्ववत्सनः ।१।३।६२॥

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्य सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते ।

धर्ममुच्चरते—उल्लंघन करके चलता है, यह अर्थ है । वहाँ उद् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु है जो सकर्मक है अतः उपर्युक्त सूत्र से आत्मनेपद होकर उद्+चर्+अ (शप्)+ते→उच्चरते ।

८१४. सम इति—सम् उपसर्ग पूर्वक तृतीया विभक्त्यन्त शब्द से युक्त चर् धातु से आत्मनेपद होता है ।

रथेन सञ्चरते—(रथ से भ्रमण करता है) यहाँ सम् पूर्वक चर् धातु है, तृतीयान्त 'रथेन' से उसका योग भी है अतः प्रस्तुत सूत्र से आत्मनेपद होकर सम्+चर्+अ (शप्)+ते→सञ्चरते ।

८१५. दाणश्चेति—सम् पूर्वक दाण् धातु यदि तृतीयान्त से युक्त हो तथा वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो तो उससे आत्मनेपद होता है ।

टिप्पणी—अशिष्ट व्यवहार में दाण् धातु के प्रयोग में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में तृतीया हो जाया करती है (अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया-कारक प्रकरण) । दाण् दाने भ्वादिगण की परस्मैपदी धातु है ।

दास्या संयच्छते कामी—(कामी दासी के लिये कुछ देता है)—यहाँ सम् पूर्वक दाण् धातु दास्या' इस तृतीयान्त शब्द से युक्त है तथा 'दास्या' में उपरिनिर्दिष्ट वार्तिक के अनुसार चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है अतएव ,दाणश्चेति० सूत्र के अनुसार आत्मनेपद हो जाता है । सम् दाण्+अ (शप्)+ते→दाण् को यच्छ[1] आदेश होकर संयच्छते रूप बनता है ।

८१६. पूर्ववदिति—सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु (आत्मनेपदी) है उसके समान सन् प्रत्ययान्त धातु से भी आत्मनेपद होता है ।

एदिधिषते—(बढ़ना चाहता है)—'एध् वृद्धौ' यह आत्मनेपदी धातु है । इससे 'एधितुमिच्छति' इस अर्थ में सन् प्रत्यय होकर 'एध्+स' इस अवस्था में सन् को इट् का आगम होकर तथा सकार को षकार होकर 'एधि ष' यहाँ 'धि' को

---

१. पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः । ७।३।७८॥

८१७ । हलन्ताच्च ।१।२।१०॥

इक्समीपाद् हल: परो झलादि सन् कित् । निविविक्षते ।

८१८ । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ।
१।३।३२॥

गन्धनं सूचनम् । उत्कुरुते-सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते-भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिमुपकुरुते सेवत इत्यर्थः । परदारान् प्रकुरुते-तेषु सहसा प्रवर्तते । एधो दकस्योपस्कुरुते गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते-प्रकथयतीत्यर्थः । शतं प्रकुरुते धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।

द्वित्व[1] होकर एधि धि ष→अभ्यास के धकार को दकार होता है तथा 'एदिधिष' यह सन्नन्त धातु बन जाती है । इसमे 'पूर्ववत् सन' सूत्र के अनुसार आत्मनेपद होकर एदिधिषते रूप बनता है ।

८१७ हलन्ताच्चेति—इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के समीप जो हल् (व्यञ्जन) उससे परे झलादि (झल् प्रत्याहार का वर्ण है आदि में जिसके) सन् कित् हो जाता है ।

टिप्पणी—सन् प्रत्यय को जहाँ इट् नहीं होता वहाँ यह झलादि है, क्योंकि सकार झल् प्रत्याहार में है । इट् हो जाने पर तो 'इ+स' यह सन् का रूप होता है अतः यह झलादि नहीं रहता ।

निविविक्षते—(निवेश करना चाहता है) 'निवेष्टुम् इच्छति' इस अर्थ मे निपूर्वक विश् धातु से सन् प्रत्यय होता है । 'नि+विश्+स', यहाँ सन् को इट् का आगम नहीं होता अतः सन् झलादि है और यह कित् हो जाता है । कित् हो जाने से 'विश्' के 'इ' को गुण नहीं होता । द्वित्व होकर निविविश्+स इस अवस्था मे विश के शकार को षकार[2] तथा उसे ककार[3] हो जाता है । और सन् के सकार को षकार होकर 'निविविक्ष' यह सन्नन्त धातु बनती है । अब, क्योंकि 'नेर्विशः' के अनुसार निपूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है इसलिये सन् प्रत्ययान्त से भी 'पूर्ववत्सन' के अनुसार आत्मनेपद होकर निविविक्षते' रूप बनता है ।

८१८. गन्धनेति—गन्धन (सूचन, शिकायत करना), अवक्षेपण (=भर्त्सन, फटकारना), सेवन (सेवा करना), साहसिक्य (साहसिक कर्म), प्रतियत्न (गुणों का आधान), प्रकथन (विशेष ढंग से कहना), उपयोग (धर्म आदि में लगाना)—इन अर्थों मे कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।

---

१ एध् धातु के आदि मे अच् (स्वर) है अतः 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६।१।२॥ के अनुसार द्वितीय एकाच् धि को ('सन्यङोः' ६।१।६) द्वित्व होता है ।

२. व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ।८।२।३६॥

३. षढोः कः सि ८।२।४१॥

८१९। भुजोऽनवने ।१।३।६६॥

ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥

टिप्पणी—डुकृञ् करणे धातु ञित् है अतः कर्तृगामी क्रियाफल में इससे आत्मनेपद होता ही है। इस सूत्र से गन्धन आदि अर्थों में परगामी क्रियाफल में आत्मनेपद का विधान किया गया है।

उत्कुरुते—इसका अर्थ है सूचित करता है अर्थात् शिकायत करता है यहाँ उत्पूर्वक कृञ् धातु से गन्धन (सूचन) अर्थ में आत्मनेपद होता है।

श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते—इसका अर्थ है बाज बटेर को डराता है। यहाँ गन्धनेत्यादि सूत्र से आत्मनेपद होता है। इसी प्रकार—

हरिमुपकुरुते—इसका अर्थ है हरि की सेवा करता है। यहाँ उपपूर्वक कृ धातु सेवन अर्थ में है।

परदारान् प्रकुरुते—इसका अर्थ है परस्त्रियों में साहसपूर्वक प्रवृत्त होता है। यहाँ प्रपूर्वक कृ धातु 'साहसिक्य' अर्थ में है।

एधोदकस्य उपस्कुरुते—इसका अर्थ है काष्ठ जल में (रंग) गुण आदि उत्पन्न करता है। यहाँ उपपूर्वक कृ धातु प्रतियत्न (= गुणाधान) अर्थ में है।

कथाः प्रकुरुते—इसका अर्थ है कथा कहता है। यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु प्रकथन अर्थ में है।

शतं प्रकुरुते—इसका अर्थ है धर्म के लिये सैकड़ों लगाता है। यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु उपयोग (धर्म आदि में लगाना) अर्थ में है।

अतः यहाँ सर्वत्र 'गन्धनेत्यादि' सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है।

एषु किमिति—इन (गन्धन आदि अर्थों) में कृ धातु से आत्मनेपद होता है ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'कटं करोति' आदि में आत्मनेपद नहीं होता। यहाँ 'चटाई बनाता है' यह अर्थ है जो सूत्रोक्त अर्थों से भिन्न है।

८१९. भुज इति—भुज् धातु से पालन (=अवन) से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है।

टिप्पणी—भुज पालनाभ्यवहारयोः (पालन तथा भोजन) यह रुधादिगण की धातु है। इससे पालन भिन्न अर्थात् 'भोजन करना' तथा 'भोगना' अर्थ में आत्मनेपद होता है, ओदनं भुङ्क्ते। पालन अर्थ में परस्मैपद होता है महीं भुनक्ति।

ओदनं भुङ्क्ते—(भात खाता है)—यहाँ भुज् धातु पालन से भिन्न अर्थ में है अतः 'भुजोऽनवने' के अनुसार आत्मनेपद होता है।

अनवने इति—पालन से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद हो यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'महीं भुनक्ति' (पृथ्वी का पालन करता है) यहाँ पर 'भुनक्ति' में परस्मैपद होता है आत्मनेपद नहीं।

॥ इति आत्मनेपदप्रक्रिया ॥

अथ परस्मैपदप्रक्रिया

८२० । अनुपराभ्यां कृञः ।१।३।७९॥

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति ।

८२१ । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ।१।३।८०॥

क्षिप प्रेरणे स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

८२२ । प्राद्वहः ।१।३।८१॥

प्रवहति ।

८२३ । परेर्मृषः ।१।३।८२॥

परिमृष्यति ।

अथेति—अब परस्मैपद प्रक्रिया का आरम्भ किया जाता है।

८२० अनुपरेति—अनु और परा उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में तथा गन्धन आदि अर्थ में भी परस्मैपद होता है। जैसे—

अनुकरोति—यहां अनु पूर्वक कृञ् धातु से सर्वत्र परस्मैपद ही होता है, कहीं भी आत्मनेपद नहीं। इसी प्रकार पराकरोति।

८२१ अभीति—अभि, प्रति और अति उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है।

क्षिप्—क्षिप् (फेंकना) धातु (तुदादि) स्वरितेत् है, अतः उभयपदी है। इस सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है।

अभिक्षिपति—अभि पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद ही होता है, कहीं भी आत्मनेपद नहीं। इसी प्रकार प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति।

८२२. प्रादिति—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'वह' धातु से परस्मैपद होता है।

टिप्पणी—वह धातु (भ्वादि) स्वरितेत् है अतः उभयपदी है। इस सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है।

प्रवहति—प्र पूर्वक वह् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्मनेपद नहीं।

८२३. परेर्मृष इति—परि उपसर्ग पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद होता है।

टिप्पणी—'मृष् तितिक्षायाम्' (दिवादि) स्वरितेत् धातु है। इस सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है।

परिमृष्यति—परि पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्मनेपद नहीं।

८२४। व्याङ्परिभ्यो रमः ।१।३।८३॥

रमु क्रीडायाम्। विरमति।

८२५। उपाच्च।१।३।८४॥

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थ.। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथ भावकर्मप्रक्रिया

---

८२४ व्याङ् इति—वि, आङ्, परि उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।

रमु—'रमु क्रीडायाम्' (भ्वादि) अनुदात्तेत् है, अत. आत्मनेपदी है। इस सूत्र से वि, आङ्, परि पूर्वक रम् से परस्मैपद का विधान किया गया है।

विरमति—(रुकता है) वि पूर्वक रम् धातु से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार परस्मैपद होता है। इसी प्रकार आरमति, परिरमति।

८२५. उपाच्चेति—उप उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।

यज्ञदत्तमुपरमति—इसका अर्थ है—यज्ञदत्त को रोकता है। यहाँ उप पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।

अन्तरिति—(यज्ञदत्तमुपरमति में उपरमति का अर्थ 'उपरमयति' किया गया है) यह (रम् धातु) अन्तर्भावित है णि का अर्थ जिसमें ऐसी है अर्थात् इस रम् धातु में णि प्रत्यय का अर्थ प्रेरणा आ गया है।

टिप्पणी—'उपाच्च' १।३।८४॥ इस सूत्र द्वारा वहाँ परस्मैपद होता है जहाँ उप पूर्वक रम् धातु सकर्मक होती है। जहाँ यह अकर्मक होती है वहाँ तो 'विभाषाऽकर्मकात्' १।३।८५॥ इस सूत्र से विकल्प से परस्मैपद होता है।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथ भावकर्मेति—अब भाववाच्य और कर्मवाच्य क्रियाओं का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

विशेष—धातु दो प्रकार की हैं–सकर्मक और अकर्मक। सकर्मक धातुओं से कर्ता तथा कर्म में लकार होते हैं और अकर्मक धातुओं से कर्ता तथा भाव में[1]। (१) सकर्मक और अकर्मक को समझने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धातु के अर्थ में दो अंश होते हैं–फल और व्यापार। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये क्रिया की जाती है वह फल है और उस फल की सिद्धि के लिये जो कार्य किया जाता है वह व्यापार कहलाता है। यह (धातु वाच्य) फल जिसमें रहता है, वह

१. लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ३।४।६९॥

८२६ । भावकर्मणोः ।१।३।१३॥

लस्यात्मनेपदम् ।

८२७ । सार्वधातुके यक् ।३।१।६७॥

कर्म है और व्यापार जिसमें रहता है, वह कर्ता है। जैसे 'देवदत्त ओदन पचति'—यहाँ पर चावलों को पकाने के उद्देश्य से पाक क्रिया की जाती है अतः पकना गलना (=विक्लित्ति) 'पचति' क्रिया का फल है तथा इसका आश्रय 'ओदन' कर्म है। इस पाक के लिये पतीली आदि में चावल भर कर चूल्हे पर चढ़ाना से लेकर उतारने तक के जो काम किये जाते हैं वे पचति क्रिया के व्यापार कहलाते हैं, उनका आश्रय 'देवदत्त' कर्ता कहलाता है। इस प्रकार।

सकर्मक धातु—वे धातु कही जाती है जिनके फल और व्यापार का आश्रय पृथक् पृथक् होता है, जैसे पचति इत्यादि।

अकर्मक[1] धातु—वे धातु कही जाती है जिनके फल और व्यापार का आश्रय एक ही होता है, जैसे गच्छति'। यहाँ अग्रिम प्रदेश में पहुँचने के लिये गमन क्रिया की जाती है। अतः 'उत्तरदेशसंयोग गमन क्रिया का फल है और जाना रूप व्यापार है। ये दोनों एक ही कर्ता में रहते हैं अतः यह अकर्मक क्रिया है।[2]

(२) संस्कृत में तीन वाच्य होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य, कर्तृवाच्य में ऊपर के विवरण के अनुसार यथायोग्य परस्मैपद और आत्मनेपद होते हैं। किन्तु कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में सदा आत्मनेपद ही होता है। कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूपों की प्रक्रिया दिखलाई जा रही है।

८२६. भावेति भाव और कर्म में लकार के स्थान में आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं।

८२७ सार्वधातुक इति—धातु से यक् प्रत्यय होता है। भाववाचक तथा कर्म-वाचक सार्वधातुक परे होने पर।

टिप्पणी—धातु से विधान किये गये तिङ् तथा शित् प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं तथा धातु से विहित शेष प्रत्यय आर्धधातुक कहे जाते हैं।[3]

भाव इति—(भावकर्मणो आदि में) भाव का अर्थ है क्रिया और उस क्रिया का भावार्थक लकार से अनुवाद किया जाता है।

---

१ संक्षेप में अकर्मक धातु ये कही गई हैं—

लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणान्तमकर्मकमाहुः॥

२ फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्याद् भवत्यादिरकर्मकः तयोस्तु वैयधिकरण्यात् करोत्यादि सकर्मकः।

३. तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३॥, आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भाव: क्रिया। सा च भावार्थ-लकारेणानूद्यते : युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि किं त्वेकवचन-मेवोत्सर्गतः। त्वया मया अन्यैश्च भूयते। बभूवे।

अभिप्राय यह है कि (भाववाच्य) में लकार भाव में आता है अर्थात् वह क्रियामात्र को प्रकट करता है; किन्तु क्रिया तो प्रत्येक धातु का वाच्यार्थ है अतः उस धात्वर्थ क्रिया का लकार द्वारा अनुवाद[1] किया जाता है अर्थात् धातु के वाच्यार्थ क्रिया को ही भावार्थक लकार प्रकट करता है।

युष्मदिति—युष्मद् (तुम) और अस्मद् (हम) से (भाव का) सामानाधिकरण्य न होने से भाववाच्य की क्रिया में केवल प्रथमपुरुष ही होता है, मध्यमपुरुष या उत्तम-पुरुष नहीं।

भाव यह है कि जहाँ लकार कर्ता और कर्म में होता है वहाँ लकार का अर्थ (कर्तृत्व और कर्मत्व) युष्मद् तथा अस्मद् के साथ एक अर्थ में स्थित रहता है अर्थात् उसका युष्मद् और अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य होता है; किन्तु भाववाच्य में तो लकार क्रियामात्र को प्रकट करता है और भाव का युष्मद् तथा अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता अर्थात् क्रिया (भाव) न 'तुम' हो सकती है, न 'हम' हो सकती है।

तिङ्वाच्येति—तिङ् की वाच्य जो क्रिया है वह द्रव्य रूप नहीं है अतः उसमें द्वित्व आदि (संख्या) की प्रतीति नहीं होती। इसलिये भाववाच्य में द्विवचन आदि नहीं होते, किन्तु सामान्यतः विहित एकवचन ही होता है।

टिप्पणी—'बहुषु बहुवचनम्' १।४।२१।।, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२।।' अष्टाध्यायी में इस प्रकार दो सूत्र हैं। इनके अनुसार निरर्थक शब्दों तथा गिनने के अयोग्य क्रिया आदि के वाचक शब्दों में कोई भी वचन नहीं प्राप्त होता, अतः महाभाष्यकार के अनुसार ये सूत्र इस प्रकार होने चाहियें—'एकवचनम्' 'द्वित्वबहुत्वयो-र्द्विवचनबहुवचने'—ऐसा होने पर एकवचन सामान्यरूप से (उत्सर्ग) कहा गया है वह किसी संख्या की अपेक्षा नहीं रखता अतएव भाववाच्य क्रिया में भी एकवचन हो जाता है। जैसे—

त्वया मया अन्यैश्च भूयते—(तुमसे, मुझसे और अन्य जनों से हुआ जाता है)—'भू' धातु अकर्मक है अतः 'लः कर्मणि०' इत्यादि के अनुसार यहाँ भाव में लकार (लट्) हुआ है। भावकर्मणोः १।३।१३।। से आत्मनेपद हो जाता है। भू+ते' इस अवस्था में 'सार्वधातुके यक्' से यक् होकर 'भू+य+ते'→भूयते यह रूप बनता है।

---

१. अनुवाद का अर्थ है—ज्ञात (प्राप्त) अर्थ का पुनः कथन।

८२८। स्यसिचसीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ।६।४।६२॥

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वदभावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्-

---

टिप्पणी—उपर्युक्त विवरण के अनुसार भाववाच्य में धातु का प्रत्येक लकार में केवल प्रथमपुरुष के एकवचन का ही रूप बनता है अन्य नहीं। यहाँ भाव में लकार हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है तथा कर्ता (त्वया मया अन्यैः) में तृतीया विभक्ति होती है।

बभूवे—भू+लिट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन। भू धातु से भाव में लिट् होकर आत्मनेपद होने से भू+ए द्वित्व और अभ्यास कार्य होकर ब भू ए→ वुट् का आगम[1] होकर ब+भू+व् (वुक्)+ए→बभूवे।

८२८ स्यसिज इति—उपदेश में जो अच् वह है अन्त में जिसके ऐसी धातुओं और हन् आदि धातुओं को चिण् के समान अङ्ग कार्य होता है विकल्प से स्य' आदि (स्य' सिच् सीयुट् और तासि) परे होने पर, जबकि भाव और कर्म गम्यमान होते हैं (अर्थात् भाव और कर्म में लकार होता है) तथा 'स्य' आदि को इट् का आगम भी हो जाता है।

टिप्पणी—'चिण् का विवरण आगे दिया जा रहा है। चिण् परे रहते जैसे अङ्ग को वृद्धि आदि हो जाती है इस प्रकार यहाँ चिण्वद्भाव होने से भी हो जाती है।

चिण्वदिति—चिण्वद्भाव (अर्थात् चिण् के समान कार्य) होने के पक्ष में ही वह इट् होता है (जब चिण्वद्भाव नहीं होता तो यह इट् भी नहीं होता)। चिण् के समान कार्य होने से वृद्धि हो जाती है। जैसे—

भाविता भविता—भू+लुट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन। भू+तास् +डा' इस अवस्था में चिण्वद्भाव होने से तास् को इट् का आगम तथा ऊकार को वृद्धि (औ) होकर औ को आव् हो जाता है 'भावि तास् डा' यहाँ आस (टि) का लोप होकर 'भाविता रूप बनता है।

पक्ष में चिण्वद्भाव न होने पर 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' ७।२।३५ से इट् होकर ऊकार को गुण (ओ) तथा अव् आदेश होकर 'भविता' रूप होता है।

भाविष्यते भविष्यते—भू+लृट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन भू+स्य+ते→चिण्वद्भाव होने से स्य को इट् का आगम तथा ऊकार को वृद्धि (औ) और औ को आव् होकर भाविष्यते। चिण्वद्भाव न होने पर भविष्यते।

भूयताम्—भू+लोट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक०। भू+य (यक्)+ताम्।

---

1. भुवो वुग् लुङ् लिटोः ६।४।८८॥

भावाद् वृद्धिः । भाविता, भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट, भविषीष्ट ।

८२९ । चिण् भावकर्मणोः ।३।१।६६॥

च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे । अभावि । अभाविष्यत, अभविष्यत । अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः । अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया

अभूयत—भू + लङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । अ + भू + य (यक्) + त ।

भूयेत—भू + विधिलिङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू + य (यक्) + ई (सीयुट्[1]) + त ।

भाविषीष्ट-भविषीष्ट—भू + आशिषि लिङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू + सीयुट् + सुट्[2] + त → भू + सी + स् + त—यहाँ चिण्वद्भाव होने से सीयुट् को इट् का आगम तथा वृद्धि होकर भाविषीष्ट तथा चिण्वद्भाव न होने पर भविषीष्ट रूप होता है ।

८२९. चिण् इति—च्लि के स्थान में चिण् होता है भावकर्मवाची 'त' शब्द परे होने पर ।

टिप्पणी—लुङ् लकार में धातु तथा 'त' आदि प्रत्यय के बीच में च्लि लुङि' ३।१।४३॥ सूत्र के अनुसार 'च्लि' हो जाता है उसके स्थान में ही यह 'चिण्' आदेश होता है ।

अभावि—भू + लुङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । 'अ भू + च्लि + त' इस दशा में चिण् भावकर्मणोः से च्लि के स्थान में चिण् हो जाता है । 'चिण्' में इ शेष रहता है तथा 'चिणो लुक्' ६।४।१०४॥ सूत्र से 'त' का लोप हो जाता है । 'अ भू + इ' इस अवस्था में ऊकार को वृद्धि (औ) तथा आव् होकर अभावि ।

अभाविष्यत-अभविष्यत—भू + लृङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । अ + भू + स्य + त → चिण्वद्भाव होने पर अभाविष्यत । न होने पर अभविष्यत ।

अकर्मक इति—(भू धातु) अकर्मक होते हुए भी (अनु) उपसर्ग के योग में सकर्मक हो जाती है ।

टिप्पणी—(१) उपसर्ग के द्वारा धातु के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । अतः अनुपूर्वक भू धातु का अर्थ होता है 'अनुभव करना' और इस अर्थ में वह सकर्मक होती है । सकर्मक होने से कर्म में भी क्रिया के रूप बन जाते हैं । (२) कर्म में लकार होने पर कर्म उक्त होता है, अतः कर्म में प्रथमा होती है और कर्त्ता अनुक्त है अतः उसमें तृतीया होती है । (३) कर्मवाच्य में लकार का अर्थ कर्म होता है । उस कर्म का युष्मद् अस्मद् से सामानाधिकरण्य होता है तथा उसमें द्वित्व आदि संख्या की भी

---

१. लिङः सीयुट् ३।४।१०२॥

२. सुट तिथोः ३।४।१०७॥

मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्। णिलोप। भाव्यते। भावयाञ्चक्रे भावयाम्बभूवे,

---

प्रतीति होती है इसलिये कर्मवाच्य की क्रिया तीनो पुरुषो तथा तीनो वचनो मे होती है। जैसा कि उदाहरणो से स्पष्ट है—

अनुभूयते—आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च (चैत्र के द्वारा, तुझ से और मुझ से आनन्द का अनुभव किया जाता है)—अनुपूर्वक भू धातु 'अनुभव करना' अर्थ मे सकर्मक है। इससे कर्म मे लकार होकर अनु भू+य (यक्)+ते→अनुभूयते।

टिप्पणी—कर्मवाच्य की क्रिया के पुरुष और वचन कर्म के अनुसार होते हैं। यहाँ कर्म 'आनन्द' है जो प्रथम पुरुष तथा एकवचन है अत 'अनुभूयते' मे प्रथम पुरुष का एकवचन होता है। इसी प्रकार—

अनुभूयेते—अनु भू+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० द्वि०, अनु भू+य+आताम्।

अनुभूयन्ते—अनु भू+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० बहु०, अनु भू+य+झ (अन्त)।

त्वमनुभूयसे—अनु भू+लट् (कर्म०) म० पु० एक०, अनु भू+य+से। यहाँ कर्म 'त्वम्' है अत कर्मवाच्य की क्रिया मे मध्यम पुरुष एकवचन होता है। इसी प्रकार द्विवचन मे युवाम् अनुभूयेथे, बहु० मे यूयम् अनुभूयध्वे।

अहमनुभूये—अनु भू+लट् (कर्म०) उ० एक०। अनु भू+य+इ। कर्म 'अहम्' है अतः कर्मवाच्य की क्रिया म उत्तम पुरुष एकवचन होता है। इसी प्रकार द्वि० मे 'आवाम् अनुभूयावहे' (हम दोनो का अनुभव किया जाता है), वयम् अनुभूयामहे'।

अन्वभावि—अनु+भू+लुङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० अभावि के समान रूप-सिद्धि होती है।

अन्वभाविषाताम्-अन्वभविषाताम्—अनु भू+लुङ् (कर्म०) प्र० पु० द्वि०। अनु अट्+भू+सिच्[1]+आताम्→चिण्वद्भाव होने पर इट् तथा वृद्धि और आव् आदेश होकर अन्वभाविषाताम्। चिण्वद्भाव न होने पर इट्, गुण (ऊ को ओ) तथा अव् आदेश होकर अन्वभविषाताम्।

णिलोप—ण्यन्त भू धातु (भावि) से कर्मवाच्य मे रूप बनाने के लिये भावि+य+ते इस दशा में 'णेरनिटि'[2] ६।४।५१॥ से 'णि' का लोप हो जाता है।

---

१. च्ले सिच् ३।१।४४॥ इससे च्लि के स्थान मे सिच् हो जाता है।

२. जिसके आदि मे इट् न हो ऐसा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते णि का लोप हो जाता है।

भावयामासे। चिण्वदिट् भाविता, आभीयत्वेनासिद्धत्वात् णिलोपः। भावयिता। भाविष्यते, भावयिष्यते। अभाव्यत। भाव्येत। भाविषीष्ट, भावयिषीष्ट।

भाव्यते—भू + णिच् + लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० भावि + य + ते इस अवस्था में णि (इ) का लोप होकर भाव् + य + ते→भाव्यते रूप बनता है।

भावयाञ्चक्रे—भावि + लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०। भावि + आम् + चक्रे→णि के इकार को गुण (ए) तथा अय् आदेश होकर भावयाञ्चक्रे।

इसी प्रकार 'भू' का अनुप्रयोग होने पर भावयाम्बभूवे तथा 'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'भावयामासे' रूप होता है।

भाविता-भावयिता—भावि + लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक०। 'भावि + तास् + डा'→भावि + ता इस अवस्था में चिण्वद् भाव से इट् होता है 'भावि + इ + ता' यहाँ 'असिद्धवदत्राभात्' ६।४।२२ इस सूत्र के अनुसार यह इट् न हुए के समान (असिद्धवत्) हो जाता है तथा णिच् के 'इ' का लोप होकर 'भाविता' रूप बनता है।

जब चिण्वद्भाव से इट् नहीं होता तब 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् होता है वह 'इट्' असिद्ध के समान नहीं है अतः णि का लोप नहीं होता तथा इकार (णि) को गुण अय् आदेश होकर 'भावयिता' रूप होता है।

टिप्पणी—'असिद्धवदत्राभात्' ६।४।२२। सूत्र से लेकर 'भस्य' ६।४।१२९ सूत्र तक जिनका विधान किया गया है वे आभीय (भ पर्यन्त होने वाले) कार्य कहलाते हैं। यदि किसी निमित्त से एक आभीय कार्य किया जा चुका हो और उसी निमित्त से दूसरा आभीय कार्य प्राप्त हो तो पहला किया कार्य असिद्धवत् (न हुए के समान) हो जाता है। जैसे 'भावि + इ + ता' यहाँ तास् के निमित्त से 'स्यसिच०' ६।४।६२ इस सूत्र से चिण्वदिट् होता है जो आभीय है। फिर आर्धधातुक प्रत्यय तास् के निमित्त से ही 'णेरनिटि' ६।४।५१ से णिलोप प्राप्त होता है वह भी आभीय है। इसीलिये असिद्धवदत्राभात् के अनुसार इट् असिद्ध सा होता है।

किन्तु 'भावयिता' में जो 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५' से इट् होता है वह 'आभीय' प्रकरण का नहीं है। अतः यह इट् असिद्ध नहीं होता और आर्धधातुक के आदि में इट् होने के कारण 'णेरनिटि' से णिलोप नहीं होता।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी चिण्वदिट् होता है तो णिलोप होता है, अन्यथा नहीं।

भाविष्यते-भावयिष्यते—भावि + लृट् (कर्म०) प्र० पु० एक०। भावि + इट् + स्य + ते चिण्वदिट् होकर णिलोप हो जाता है भाविष्यते। अन्यत्र भावयिष्यते।

अभाव्यत—भावि + लङ् (कर्म०) प्र० पु० एक०। अ + भावि + यक् + त। णिलोप।

अभावि। अभाविपाताम् अभावयिपाताम। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूय्यते-बोभूयते। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः स्तूयते विष्णु। स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविपाताम्, अस्तोपाताम।

भाव्येत—भावि + विधिलिङ् (कर्म०) प्र० पु० एक०। भावि + य (यक्) + ई (सीयुट्) + त, णिलोप भाव् + य + ई + त भाव्येत।

भाविषीष्ट भावयिषीष्ट—भावि + आशिषि लिङ (कर्म०) प्र० पु० एक०। चिण्वदिट् के पक्ष मे णिलोप होता है शेष भाविषीष्ट (भाव०) के समान।

अभावि—भावि + लुङ (कर्म०) प्र० एक०। अभावि + इ (चिण्) + त का लोप होकर तथा चिण् के पर रहते णिच् लोप होकर अभावि रूप बनता है।

अभाविषाताम् अभावयिषाताम्—भावि + लुङ् (कर्म०) प्र० पु० द्वि०। अभावि + सिच् + आताम् → चिण्वद्भाव से इट् होने पर णि लोप अभाविषाताम्। अन्यत्र णि (इ) को गुण (ए) अय् आदेश होकर अभावयिषाताम्।

बुभूष्यते—बुभूष + लट् (भाव०) प्र० पु० एक०। सन्नन्त भू धातु (बुभूष) से भाववाच्य मे लट् होकर बुभूष + ते → यक् होकर बुभूष + य + ते—यहाँ यकार से आगे वाले अकार का लोप[1] होकर बुभूष्यते।

बुभूषाञ्चक्रे—बुभूष + लिट् (भाव०) प्र० पु० एक०। बुभूष + आम् + चक्रे।

बुभूषिता—बुभूष + लुट् (भाव०) प्र० पु० एक०। बुभूष + तास् + डा → इट् का आगम तथा सन् के अकार का लोप होकर बुभूषिता।

बुभूषिष्यते—बुभूष + लृट् (भाव०) प्र० पु० एक०। बुभूष + स्य + ते। स्य को इट् का आगम तथा सन् के अकार का लोप होकर बुभूषिष्यते रूप बनता है।

टिप्पणी—अकर्मक धातु सन्नन्त होकर भी अकर्मक ही है, अतः उससे भाव मे लकार होता है।

बोभूय्यते—भू + यङ् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक०। यङ्प्रत्ययान्त भू (बोभूय) धातु से भाववाच्य, लट् लकार प्रथम पुरुष के एकवचन मे बोभूय। ते इस अवस्था मे यक् होकर बोभूय + यते—यहाँ यङ् के अकार का लोप[2] हो जाता है तथा बोभूय्यते रूप बनता है।

बोभूयते—भू + यङ्लुक् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक०। यङ्लुगन्त भू + (बोभू) धातु से भाववाच्य के लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन मे बोभू + य (यक्) ते → बोभूयते रूप बनता है।

---

१ अतो लोप ६।४।४८॥
२. अतो लोप ६।४।४८॥

ऋ गतौ । गुणोऽर्तीति गुणः । अर्यते । स्मृ स्मरणे । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेश-

---

अकृदिति—अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५।। कृत् और सार्वधातुक से भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । इसके अनुसार 'स्तु+य+ते' यहाँ 'स्तु' के उकार को दीर्घ होता है ।

स्तूयते विष्णुः—(विष्णु की स्तुति की जाती है)—'स्तु' धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में आत्मनेपद होकर स्तु+ते यहाँ यक् होकर स्तु+य+ते इस अवस्था में 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से उकार को दीर्घ (ऊकार) होकर स्तूयते रूप बनता है ।

स्ताविता-स्तोता—स्तु+लोट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्तु+तास्+डा →स्तु+ता इस अवस्था में 'स्यसिच्०' इत्यादि से विकल्प से चिण्वद्भाव तथा इट् होकर स्तु+इ+ता वृद्धि स्तौ+इ+ता→आव् आदेश स्ताविता । चिण्वद्भाव न होने पर उकार को गुण (ओ) होकर स्तोता रूप बनता है (स्तु धातु अनिट् है अतः यहाँ इट् नहीं होता) ।

स्ताविष्यते-स्तोष्यते—स्तु+लृट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्तु+स्य+ते →चिण्वद्भाव इट् वृद्धि आव् आदेश होकर स्ताविष्यते । पक्ष में स्तोष्यते ।

अस्तावि—स्तु+लुङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । अट्+स्तु+चिण्+त →स्तु को वृद्धि आव् आदेश तथा 'त' लोप अस्तावि ।

अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम्—स्तु लुङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० द्वि० । अ+स्तु+सिच्+आताम्→चिण्वद्भाव इट्, वृद्धि, आव् होकर अस्ताविषाताम् । पक्ष में—उकार को गुण (ओ) होकर अस्तोषाताम् रूप बनता है ।

अर्यते—गत्यर्थक ऋ धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष के एकवचन में 'ऋ+य (यक्)+ते, इस अवस्था में गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९।।' इस सूत्र से ऋ को गुण (अर्) होकर अर्+य+ते→अर्यते रूप बनता है ।

स्मर्यते—स्मृ+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ+य+ते→संयोगादि धातु होने से 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' से गुण होकर स्मर्यते ।

सस्मरे—स्मृ+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ+ए→द्वित्व अभ्यास-कार्य स+स्मृ+ए→स+स्मर्+ए→सस्मरे रूप बनता है ।

उपदेशेति—(स्यसिच्० इत्यादि सूत्र में) उपदेश शब्द के ग्रहण से चिण्वद्भाव तथा इट् हो जाता है । भाव यह है कि ऋ+ता इस अवस्था में पर तथा नित्य होने से पहले गुण[1] हो जाता है और अर्+ता इस अवस्था में अर् अजन्त नहीं है फिर भी चिण्वद्भाव तथा इट् होता है, क्योंकि 'स्यसिच्०' इत्यादि सूत्र में उपदेश' शब्द का ग्रहण

---

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४।।

ग्रहणाच्चिण्वदिट् आरिता, अर्ता । स्मारिता, स्मर्ता । अनिदितामिति नलोप-स्स्रस्यते । इदितस्तु नन्द्यते । सम्प्रसारणम् इज्यते ।

८३० । तनोतेर्यकि ।६।४।४४।।

आकारोऽन्तादेशो वा स्यात् । तायते, तन्यते ।

किया गया है जिसका अर्थ है—'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु को चिण्वदिट् होता है ।' ऋ धातु उपदेश अवस्था में अजन्त ही है ।]

आरिता अर्ता—ऋ→लुट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० ऋ+तास्+डा→ऋ+ता→गुण (ऋ को अर्) होकर अर्+ता चिण्वद्भाव तथा इट् एवं वृद्धि (अ को आ[1]) होकर आर्+इ+ता=आरिता । चिण्वद्भाव तथा इट् न होने पर अर्ता ।

स्मारिता स्मर्ता—स्मृ+लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक० । आरिता के समान ।

अनिदितामिति—अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४। इससे नकार का लोप होता है ।

स्रस्यते—स्रंस् (गिरना) लट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । स्रंस्+य (यक्+त→इस अवस्था में अनिदिताम्०' इत्यादि से नकार (जो कि अनुस्वार के रूप में है) का लोप होकर स्रस्+य+ते→स्रस्यते ।

इदित इति—जिस धातु का इत् (इकार) इत् संज्ञक होता है उसके (इत्=इकार इत्=इत्संज्ञक यस्य तस्य) नकार का लोप नहीं होता (क्योंकि सूत्र में 'अनिदिताम्' कहा गया है) । इसलिये 'टुनदि समृद्धौ' धातु से कर्मवाच्य लट् प्र० पु० एक० में 'नन्द्यते' रूप बनता है । यहाँ न लोप नहीं होता । नद्+य+ते→न न् (नुम्[2]) द्+य+त नन्द्यते ।

सम्प्रसारणम्—'यज्+यक्+ते यहाँ यज् धातु के यकार को 'वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५।। से सम्प्रसारण (इकार) हो जाता है ।

इज्यते—'यज्' धातु से कर्मवाच्य लट् प्रथम पुरुष के एकवचन में यज्+यक्+ते→सम्प्रसारण (यकार को इकार) इज् य ते→इज्यते ।

८३० तनोतेरिति—तन् धातु के अन्त (नकार) को आकार आदेश होता है, विकल्प से, यक् परे होने पर ।

तायते-तन्यते—तन् (विस्तार करना)+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० तन्+यक्+ते→अन्त को विकल्प से आकार होकर ता+य+ते→तायते । पक्ष में तन्+य+ते→तन्यते ।

---

१. अत उपधायाः ७।२।११६।।

२ इदितो नुम् धातोः ७।१।५८।। जिस धातु का ह्रस्व इकार इत्संज्ञक होता है उसे नुम् का आगम होता है ।

८३१ । तपोऽनुतापेच । ३।१।६५॥

तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तर्यनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। घुमास्थेतीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे ।

८३२ । आतो युक् चिण्कृतोः ।७।३।३३॥

आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता, दाता। दायिषीष्ट, दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्। भज्यते ।

---

८३१ तप इति—तप धातु से परे च्लि को चिण् नहीं होता कर्मकर्त्ता और अनुताप अर्थ में अनुताप का अर्थ है पश्चात्ताप।

अन्वतप्त पापेन—(पाप से दुःखी किया गया) अनु+तप्+लुङ् कर्मवाच्य अथवा 'पापेन पुंसा अन्वतप्त' (पापी पुरुष के द्वारा पश्चात्ताप किया कया) इस प्रकार 'पाप' शब्द का अर्थ पापी[1] होता है तथा अकर्मक होने से भाव में लुङ् होता है।

अन्वतप्त—अनु+तप्+च्लि+त→च्लि के स्थान में चिण्[2] होने का निषेध हो जाने से च्लि को सिच् होकर अनु+अ+तप्+सिच्+त→झलो झलि ८।२।२५। से सिच् का लोप होकर अन्वतप्त रूप बनता है।

घुमास्थेति दीयते—घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६॥ (इन धातुओं के आ को ई होता है हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते) इस सूत्र से दा+य+ते यहाँ 'दा' के आकार को ईकार होता है। दा धातु घुसंज्ञक है। (दाधाघ्वदाप् १।१।२०)।

दीयते—दा+लट् (कर्मवाच्य) प्रथम पुरुष एकवचन । दा+य+ते→ घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से आकार को ईकार होकर दीयते रूप बनता है।

धीयते—धा (धारण, पोषण करना)+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०। धा+य+ते।

ददे—दा+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । दा+ए (एश्) द्वित्व, अभ्यासकार्य द दा+ए→आकार[3] का लोप होकर द द्+ए→ददे रूप बनता है।

८३२. आत इति—आकारान्त धातुओं को युक् का आगम होता है चिण् तथा ञित् णित् कृत्प्रत्यय परे होने पर।

दायिता-दाता—दा+लुट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०। दा+तास्+डा→

---

१. पापमस्यास्तीति पापः। अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।११७ से अच् प्रत्यय। यहाँ अन्वतप्त का अर्थ पश्चात्ताप करना है।

२. चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६॥ से च्लि को चिण् प्राप्त होता है।

३. आतो लोप इटि च ६।४।६४॥

८३३। भञ्जेश्च चिणि ।६।४।३३॥

नलोपो वा स्यात् । अभाजि-अभञ्जि । लभ्यते ।

८३४। विभाषा चिण्णमुलोः ।७।१।६९॥

लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि, अलाभि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

दा + ता यहाँ 'स्यसिच०' इत्यादि से चिण्वद्भाव तथा इट् होने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से युक् का आगम हो जाता है दा + युक् + इट् + ता → दायिता । पक्ष में दाता रूप बनता है ।

दायिषीष्ट दासीष्ट—दा + आशिषि लिङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । चिण्वदिट् होने पर 'युक्' का आगम दायिषीष्ट । पक्ष में दासीष्ट ।

अदायि—दा + लुङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० । अ दा + च्लि + त → च्लि के स्थान में चिण् (चिण्भावकर्मणोः) और चिण् पर होने पर युक् का आगम होकर अ दा + य् + इ + त → त का लुक् होकर अदायि ।

अदायिषाताम्—दा + लुङ् (कर्म०) प्र० पु० द्वि० । अ दा + स् (सिच्) + आताम् । चिण्वद्भाव, इट् होकर युक् का आगम हो जाता है अ दा य् इ स् आताम् → अदायिषाताम् । चिण्वद्भाव न होने पर 'स्थाघ्वोरिच्च' से आकार को इकार होकर अदिषाताम् (सिद्धान्त कौमुदी) ।

भज्यते—भञ्ज् (तोड़ना) धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथमपुरुष के एक वचन में भञ्ज् + य + ते → नलोप[1] होकर भज्यते रूप बनता है ।

८३३ भञ्जेश्चेति—भञ्ज् धातु के नकार का लोप होता है चिण् परे होने पर विकल्प से ।

अभाजि-अभञ्जि—भञ्ज् + लुङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । अ भञ्ज् + चिण् + त → विकल्प से नकार का लोप होकर अ-भज् + इ + त उपधा[2] (भज् के अकार) की वृद्धि तथा 'त' का लोप होकर अ भाज् + इ + अभाजि । जब नकार का लोप नहीं होता तब 'अभञ्जि' यह रूप बनता है ।

लभ्यते—लभ् + लट् (कर्म०) प्र० पु० एक० । लभ् + यक् + ते → लभ्यते यह रूप बनता है ।

८३४. विभाषेति—लभ् धातु को विकल्प से नुम् का आगम होता है, चिण् और णमुल् परे होने पर ।

---

१. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४॥

२. अत उपधायाः ७।२।११६॥

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात् कर्तरि भावे च लकारः।

णमुल् का उदाहरण है—लाभं लाभम्, लम्भं लम्भम्।

अलम्भि-अलाभि—लभ् + लुङ् कर्म० प्र० पु० एक०। अलभ् + चिण + त + विभाषा चिण्णमुलोः' के अनुसार नुम् का आगम होकर अल न् (नुम्) भ् + चिण् + त →'त' का लोप होकर अ ल न् भ् + इ → नकार को अनुस्वार तथा परसवर्ण (मकार) होकर अलम्भि रूप बनता है। जब नुम् नहीं होता तब उपधा (अकार) को वृद्धि होकर अलाभि रूप बनता है।

टिप्पणी—संस्कृत साहित्य में कर्मवाच्य का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। कुछ अन्य धातुओं के कर्मवाच्य के रूप निम्न प्रकार से होते हैं।

कृ—क्रियते। गै—गीयते। ग्रह—गृह्यते। घ्रा—घ्रीयते। चि—चीयते। चुर्—चोर्यते। जि—जीयते। नी—नीयते। पा—(पीना)—पीयते। पा—(रक्षा करना)—पायते। पू—पूयते। प्रच्छ—पृच्छ्यते। मा—मीयते। वप्—उप्यते। वश्—उश्यते। वह्—उह्यते। वस्—उष्यते। वद्—उद्यते। वच्—उच्यते। शी—शय्यते। शास्—शिष्यते। हन्—हन्यते। इत्यादि।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

यदेति—जब कर्म को ही कर्त्ता के रूप में कहना अभीष्ट होता है तब सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से (उनसे) कर्त्ता तथा भाव में लकार होते हैं।

भाव यह है कि जब क्रिया अत्यन्त सरलता से हो जाती है अर्थात् उसमें सौकर्यातिशय होता है तो इस भाव को प्रकट करने के लिये कर्त्ता के प्रयत्न का कथन नहीं किया जाता, अपितु अन्य कारकों को ही कर्त्ता के रूप में प्रकट किया जाता है, क्योंकि वे अपने कार्य में स्वतन्त्र हैं, वे ही कर्त्ता हो जाते है। जैसे—'असिः छिनत्ति' अर्थात् तलवार से योद्धा क्या काट रहा है तलवार स्वयं काट रही है। यहाँ 'असि' करण है यह कर्त्ता बन गया है और कर्तृवाच्य में लकार होता है। इस प्रकार जब कर्म को छोड़कर अन्य कारकों को कर्त्ता के रूप में प्रकट किया जाता है तो कर्त्ता में लकार होता है।

किन्तु कर्म में विशेषता है। जब कर्म को कर्त्ता के रूप में कहना अभीष्ट होता है सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है और उनसे कर्त्ता तथा भाव में लकार होते हैं। कर्त्ता में लकार होने पर भी कुछ धातुओं के रूप कर्मवाच्य के समान हो जाते हैं। यह आगे दिखलाया जा रहा है—

८३५। कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः ।३।१।८७

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

---

८३५ कर्मवदिति—कर्म में स्थित (कर्मस्थ) क्रिया के समान है क्रिया जिसकी ऐसा कर्ता कर्मवत् (कर्म के समान) हो जाता है—

टिप्पणी—कर्मस्थ क्रिया वहाँ मानी जाती है जहाँ कर्म में क्रिया के द्वारा की गई कोई विशेषता दिखलाई देती है जैसे पके हुए चावलों में या फटी हुई लकड़ियों में कुछ विशेषता हो जाती है। जहाँ क्रिया कर्मस्थ है तथा जब कर्म को कर्ता बना दिया जाता है तब भी उसमें वही क्रिया रहती है जो कर्मदशा में थी। अत एव वह कर्ता कर्म के तुल्य क्रिया वाला होता है उसे कर्मवद्भाव हो जाता है। किन्तु गमन क्रिया से तो ग्राम आदि में कोई विशेषता उत्पन्न होती नहीं। अतः ऐसी क्रियाओं के कर्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता।

कार्यातिदेश इति—यह कार्यातिदेश है। इसीलिये कर्मवाच्य के समान यक्, आत्मनेपद, चिण् और चिण्वदिट् (ये कार्य) यहाँ भी होते हैं। यह उसके समान होवे, इस प्रकार बतलाना अतिदेश कहलाता है। 'कर्म के तुल्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवद् हो' यह कहना अतिदेश है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) कर्मवाच्य में क्रिया का रूप बनाने में जो सूत्र (शास्त्र) लगते हैं वे ही इसका कर्मकर्तृ क्रिया रूप बनाने में लगाये जाते हैं—यह शास्त्रातिदेश होगा। (२) कर्मवाच्य का क्रिया रूप बनाने में जो जो कार्य होते हैं वे ही इसका क्रिया रूप बनाने में होते हैं—यह कार्यातिदेश होगा। यद्यपि शास्त्रातिदेश से भी अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो सकती है तथापि मुख्य होने से कार्यातिदेश ही माना गया है।

पच्यते फलम्—(फल स्वयं ही पक रहा है)—'कालः फलं पचति' यहाँ फल कर्म है किन्तु पाकक्रिया के सौकर्यातिशय को प्रकट करने के लिये (अर्थात् काल क्या पका रहा है फल तो स्वयं पक रहा है, यह बतलाने के लिये) कर्म को कर्ता बना दिया जाता है। तब कर्ता में लकार होने पर 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' के अनुसार कर्मवद्भाव होता है और कर्मवाच्य के समान यक्, आत्मनेपद होकर पच्यते रूप बनता है।

यहाँ कर्तृवाच्य होने से कर्ता उक्त है अतः 'फलम्' में (प्रातिपदिकार्थमात्र में) प्रथमा विभक्ति होती है। इसी प्रकार भिद्यते काष्ठम्।

अथ लकारार्थप्रक्रिया

अपाचि—पच् धातु से कर्मकर्तृ मे लुङ् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में 'अपच्+च्लि+त' इस अवस्था में कर्मवद्भाव होने से च्लि को चिण् हो जाता है तथा 'त' का लोप और पच् के अकार (उपधा) को वृद्धि (आकार) होकर अपाचि रूप वनता है। इसी प्रकार अभेदि।

भावे त्विति—कर्म को कर्तृ रूप में कहने पर जव धातु के भाव में लकार होता है तब तो भिद्यते काष्ठेन' इस प्रकार कर्त्ता मे तृतीया विभक्ति होती है, क्योंकि यहा कर्त्ता अनुक्त है।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

लकारार्थप्रक्रियेति—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, पाणिनि व्याकरण में दस लकारों का विवेचन किया जाता है। उनके अर्थ के विषय में कुछ आवश्यक वातें प्रस्तुतप्रकरण में वतलाई जा रही है—

लट्—वर्तमान काल में (वर्तमाने लट् ३।२।१२३॥); जैसे अधुना देवदत्तः पठति।

लिट्—जो आज की न हो (अनद्यतन) तथा कहने वाले को प्रत्यक्ष न हो (परोक्ष) ऐसी भूतकालीन क्रिया को प्रकट करने के लिये; (परोक्षे लिट् ३।२।११५॥) जैसे स किल पुरा पपाठ।

लुट्—अनद्यतन भविष्यत् काल में (अनद्यतने लुट् ३।३।१५॥), जैसे—सः श्वः पठिता—वह कल पढ़ेगा।

लृट्—सामान्य भविष्यत् काल में (लृट् शेषे च ३।३।१३॥), जैसे सः अद्य पठिष्यति, सः पठिष्यति।

लेट्—केवल वेद में ही (इसका विविध अर्थों में) प्रयोग होता है।

लोट्—विधि, आज्ञा आदि अर्थो में (लोट् च ३।३।१६२॥), जैसे—सः पठतु। आशीर्वाद में भी (आशिषि लिङ् लोटौ ३।३।१७३॥), जैसे—सः पठतात्।

लङ्—अनद्यतन भूतकाल में (अनद्यतने लङ् ३।२।१११), जैसे—सः ह्यः अपठत्—उसने कल पढ़ा।

लिङ्—(१) 'विधिलिङ्' विधिप्रेरणा आदि अर्थो में। इसके उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं।

(२) आशिषि लिङ्—इसका अशीर्वाद अर्थ में प्रयोग किया जाता है (आशिषि लिङ् लोटौ ३।३।१७ ॥) आशीः का अर्थ है अप्राप्त इष्ट वस्तु की इच्छा। जैसे—चिरञ्जीव्यात् भवान्। तत्किमन्यदाशास्महे केवलं वीरप्रसवा भूयाः। उत्तम

८३६ । अभिज्ञानवचने लृट् ।३।२।११२॥

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् । लङोऽपवाद.॥ वस निवासे । स्मरसि कृष्ण, गोकुले वत्स्याम. । एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि प्रयोगेऽपि ।

पुरुष म वक्ता की अभिलाषा को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। जैसे कृतार्थो भूयासम् ।

लुङ्—सामान्य भूतकाल म (लुङ् ३।२।११०॥) (जैसे—सोऽगमत् । माङ् (अव्यय) के साथ सब लकारो के विषय म लुङ् का ही प्रयोग होता है । (माङि लुङ् ३।३।१७५) जैसे—भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम ।

लृङ्—क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) होने पर हेतुहेतुमद्भाव (Condition) आदि को प्रकट करने के लिये भविष्यत् काल म लृङ लकार का प्रयोग होता है। (लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९) जैसे—अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् (काशिका) । सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् तदा सुभिक्षम् अभविष्यत् (यदि अच्छी वर्षा होगी तो सुकाल होगा) ।

संक्षेप म सब लकारो का अर्थ निम्न कारिका मे दिया गया है—

लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा ।
विध्याशिषोस्तु लिङ्लोटौ लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति ॥

लकारो म अर्थ के विषय म कुछ अन्य बातें यहाँ बतलाई जा रही हैं—

८३६ अभिज्ञेति—स्मरणबोधक उपपद होने पर अनद्यतन भूत अर्थ मे धातु से लृट् लकार होता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ उपपद का अर्थ है समीप मे स्थित पद (समीप श्रूयमाणं पदमुपपदम्) । (२) अनद्यतन—जो आज का न हो ।

लङ् इति—अनद्यतन भूत अर्थ म सामान्यत लङ् लकार आता है किन्तु इस विशेष स्थल म लृट् का विधान किया गया है अत यह लृट् उस लङ् लकार का अपवाद (बाधक) है ।

स्मरसि कृष्ण, गोकुले वत्स्याम —(हे कृष्ण, तुम्हें स्मरण है कि हम गोकुल में निवास करते थे) यहाँ स्मरणबोधक 'स्मरसि' उपपद है अत अनद्यतन भूत अर्थ म वस् धातु से लृट् लकार हो जाता है । वत्स्याम (वस्+स्य+मस्) यह लृट् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप है ।

एवं बुध्यसे इति—इसी प्रकार बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि (क्रियापदो) के (उपपद रूप म) प्रयोग होने पर भी (अनद्यतन भूत म लृट् लकार होता है) ।

८३७। न यदि ।३।२।११३॥

यद्योगे उक्तं न। अभिजानासि कृष्ण, यद्वने अभुञ्जमहि।

८३८। लट् स्मे ।३।२।११८॥

लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः।

८३९। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा ।३।३।१३१॥

वर्तमाने ये प्रत्ययाः उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः। कदागतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागम वा। कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि, गमिष्यामि वा।

---

८३७. न यदीति—'यत्' शब्द के प्रयोग में उपर्युक्त कार्य नहीं होता अर्थात् स्मरणार्थक उपपद होने पर भी अनद्यतन भूत में लृट् लकार नहीं होता। जैसे—

अभिजानासि कृष्ण, यद् वने अभुञ्जमहि—(कृष्ण, स्मरण है कि हमने वन में भोजन किया था) यहाँ 'यत्' शब्द का प्रयोग है अत. 'अभुञ्जमहि' यह अनद्यतन भूत अर्थ में लङ् का प्रयोग किया गया है, लृट् का प्रयोग नही किया गया है।

८३८. लट् इति—'स्म' उपपद होने पर परोक्ष अनद्यतन भूत में लट् लकार होता है।

लिट् इति—यह लिट् लकार का अपवाद है (क्योंकि सामान्यत: परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में लिट् लकार होता है)।

यजति स्म युधिष्ठिरः—(युधिष्ठिर यज्ञ करता था)—यहाँ 'स्म' उपपद है अतः परोक्ष अनद्यतन भूत में 'यजति' इस लट् लकार के रूप का प्रयोग किया गया है।

८३९. वर्तमानेति—वर्तमान काल में जो प्रत्यय कहे गये हैं वे वर्तमान के समीप वाले भूत तथा भविष्यत् (आसन्नभूत तथा आसन्न भविष्यत्) में भी विकल्प से होते हैं। जैसे—

कदाऽऽगतोऽसि—(कब आये हो) यह प्रश्न आसन्न भूतकाल के विषय में है। इसके उत्तर में 'अयमागच्छामि' (यह आ ही रहा हूँ) यह वर्तमान काल में होने वाला लट् लकार भी हो सकता है अथवा 'अयमागमम्' (अभी आया हूँ) इस प्रकार सामान्य भूत में होने वाला लुङ् लकार भी हो सकता है। 'कदा गमिष्यसि' (कब जाओगे ?) यह प्रश्न वर्तमान के समीपस्थ भविष्यत् काल के विषय में है। इसके उत्तर में 'एष गच्छामि' (यह जा रहा हूँ) इस प्रकार वर्तमान काल में होने वाला लट् लकार भी हो सकता है अथवा 'एष गमिष्यामि' (यह मैं अभी जाऊँगा) यह सामान्य भविष्यत् में होने वाला लृट् लकार भी हो सकता है।

८४० । हेतुहेतुमतोर्लिङ् ।३।३।१५६॥

वा स्यात् कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्, कृष्णं नस्यति चेत्सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते, नेह हन्तीति पलायते। विधिनिमन्त्रणेति लिङ्। विधिः प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्—यजेत। निमन्त्रणं नियोगकरणम्,

---

८४०. हेरिवति—हेतु तथा हेतुमान् अर्थ में विद्यमान धातुओं से लिङ् लकार होता है विकल्प से। (हेतु का अर्थ है कारण और हेतुमत् का अर्थ है—फल या कार्य)।

कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्—(कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख को प्राप्त करेगा) यहाँ 'नमन' क्रिया हेतु है और 'सुख-प्राप्ति' उसका फल (हेतुमत्) है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार 'नमेत् तथा यायात्' दोनों में ही लिङ् लकार का प्रयोग होता है।

पक्ष में लृट् का ही प्रयोग होता है—'कृष्णं नस्यति चेत् सुखं यास्यति।'

भविष्यतीति—'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इत्यादि सूत्र से भविष्यत् काल में ही (भविष्यति+एव) लिङ् लकार का विधान किया गया है। अतः 'हन्तीति पलायते' (मारता है इसलिए भागता है) यहाँ पर लिङ् लकार नहीं होता। यद्यपि यहाँ भी हेतु तथा हेतुमत् हैं तथापि यहाँ भविष्यत् काल नहीं है, वर्तमान काल है।

विधिनिमन्त्रणेति—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३।३।१६१। अर्थात् विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना इन अर्थों में लिङ् लकार होता है।

विधिरिति—विधि का अर्थ है—प्रेरणा, आज्ञा, अपने से छोटे (निकृष्ट) सेवक आदि को किसी कार्य में लगाना। इसका उदाहरण है—'यजेत'। यहाँ विधि के द्वारा स्वर्ग आदि की कामना करने वाले पुरुष को यज्ञ कार्य में प्रवृत्त किया जा रहा है। अतः 'यजेत' (यज्+विधिलिङ् आत्मनेपद प्र० पु० एक०) में लिङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

निमन्त्रणमिति—निमन्त्रण का अर्थ है—नियोगकरण (नियुक्त करना) अर्थात् ऐसी प्रेरणा जो आज्ञा तो नहीं है किन्तु उसके अनुसार कार्य करना होता है। अतएव कहा है—आवश्यक श्राद्ध-भोजन आदि में दौहित्र आदि को प्रवृत्त करना, जैसे—'इह भुञ्जीत' (आप यहाँ भोजन कीजिये) यहाँ 'भुञ्जीत' में लिङ् लकार होता है।

आमन्त्रणमिति—आमन्त्रण का अर्थ है—किसी के अभिलषित विषय (कामचार) की अनुमति देना, जैसे—'इह आसीत' (आप यहाँ बैठ सकते हैं, You may sit here) यहाँ 'आसीत' में लिङ् लकार होता है।

आवश्यके श्राद्धभोजनाद दौहित्रादेः प्रवर्तनम्–इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा–इहासीत। अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः–पुत्रमध्यापयेद् भवान्। संप्रश्नः संप्रधारणम्–किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं याच्ञा–भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

टिप्पणी—आजकल भाषा में आमन्त्रण शब्द कुछ भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत-साहित्य में भी आमन्त्रण शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग किया गया है।

अधीष्टमिति—अधीष्ट का अर्थ है—सत्कारपूर्वक व्यापार अर्थात् आदर के साथ किसी (आदरणीय व्यक्ति) को कर्तव्य में लगाना, जैसे—'पुत्रमध्यापयेद् भवान्' (आप पुत्र को पढ़ाइये)—यहाँ अध्यापयेत् (अधि + इङ् + णिच् + लिङ्) में लिङ् लकार हुआ है।

संप्रश्न इति—संप्रश्न का अर्थ है—संप्रधारण अर्थात् किसी बात का निश्चय करने के लिये प्रश्न करना, जैसे—'किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्' (श्रीमान, मैं वेद पढ़ूं अथवा तर्कशास्त्र)—यहाँ अधीयीय (अधी + इङ् + वि० लिङ् उ० पु० एक०) में लिङ् लकार हुआ है।

प्रार्थनमिति—प्रार्थना का अर्थ है—याचना, प्रार्थना करना, जैसे—भो भोजनं लभेय—(श्रीमान् जी, प्रार्थना है कि मुझे भोजन मिल जाये) यहाँ लभेय में लिङ् लकार हुआ है (लभ + विधिलिङ् उ० पु० एक०)।

एवमिति—इसी प्रकार उपर्युक्त अर्थों में लोट् लकार का भी प्रयोग होता है।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

—:o:—

अथ संस्कृतव्याकरणस्थ-सूत्राणाम्

अकारादिवर्णानुक्रमः

—:०:—

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः	सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
८ अकथितं च	१।४।५१	११३ अधिरीश्वरे	१।४।९७
२६४ अकर्तरि च०	३।३।१९	११ अधिशीङ्०	१।४।४६
७० अकर्तर्यृणे०	२।३।२४	८२ अधीगर्थ०	२।३।५२
६४८ अकर्मकाच्च	१।३।५	३५७ अन्	६।४।१६७
९७ अकेनोः०	२।३।७०	५३३ अन्	५।३।५
२०५ अक्ष्णोऽदर्शनात्	५।४।७६	५ अनभिहिते	२।३।१
३८३ अचित्तहस्ति०	४।२।२७	६५५ अनद्यतने लङ्	३।२।१११
२१५ अचो यत्	३।१।९७	६३७ अनद्यतने लुट्	३।३।१५
५८० अजाद्यतष्टाप्	४।१।४	५४४ अनद्यतने हिल्०	५।३।२१
१९९ अजाद्यदन्तम्	२।२।३३	१२९ (क) अनश्च	५।४।१०८
७८२ अज्झनगमां सनि	६।४।१६	८०१ अनुनासिकस्य०	६।४।१६
५६५ अज्ञाते	५।३।७३	६१३ अनुदात्तङित०	१।३।१२
३४७ अत इञ्	४।१।९५	७३६ अनुदात्तोपदेश०	६।४।३७
५२२ अत इनिठनौ	५।२।११५	९२० अनुपराभ्यां कृञः	१।३।७९
७६५ अत उत् सार्वधातुके	६।४।११०	४८ अनुप्रतिगृणश्च	१।४।४१
६७८ अत उपधायाः	७।२।११६	१६ अनुर्लक्षणे	१।४।८४
२५ अतिरतिक्रमणे च	१।४।९५	४२७, ४७८ अनुशतिका०	७।३।२०
४४९ अतिशायने०	५।३।५५		
६२५ अतो दीर्घो यञि	७।३।१०१		
६६१ अतो येयः	७।२।८७	३४९ अनूप्यान०	४।१।१४०
६८५ अतो लोपः	६।४।४८	१०७ अनेकमन्य०	२।२।२४
६८० अतो हलादेर्लघोः	७।२।७	६० अन्तर्धौ०	१।४।२८
६५१ अतो हेः	६।४।१०५	१८४ अन्तर्बहिर्भ्याम्	५।४।११७
७५१ अदभ्यस्तात्	७।१।४	१४ अन्तरान्तरेण०	२।३।४
७३४ अदः सर्वेषाम्	७।३।१००	३२९ अन्यथैवंकथ०	३।४।२७
७२९ अदिप्रभृतिभ्यः शपः	२।४।७२	६४ अन्यारादितरर्ते०	२।३।२९
३९१ अदूरभवश्च	४।२।७०	२४१ अन्येभ्योऽपि०	३।२।७५
९५ अधिकरण०	२।३।६८	३३९ अपत्यं पौत्र०	४।१।१६२
४३८ अधिकृत्य०	४।३।८७	६५ अपपरी वर्जने	१।४।८८
२२ अधिपरी०	१।४।९३	३२ अपवर्गे तृतीया	२।३।६

सूत्राङ्क	सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
८११	अपह्नवे ज्ञ	१।४।४४
२६	अपि पदार्थं०	१।४।९६
५६	अपादाने पञ्चमी	२।३।२८
१८१	अप्पूरणी०	५।४।११६
३०९	अ प्रत्ययात्	३।३।१०२
८३६	अभिज्ञावचने०	३।२।११२
१२	अभिनिविशश्च	१।४।४७
४३७	अभिनिष्क्रामति०	४।३।८६
८२१	अभिप्रत्यतिभ्य क्षिप	१।३।८०
२२	अभिरभागे	१।४।९१
७३७	अभ्यासाच्च	७।३।५५
६३४	अभ्यासे चर्च	८।४।५४
२१९	अरुर्द्विषदज०	६।३।६७
२८८	अर्तिलूधूसू०	३।२।१८४
७७६	अर्तिह्री ब्ली०	७।३।३६
१७५	अर्धर्च०	२।४।३१
१४४	अर्धं नपुंसकम्	२।२।२
५२६	अर्श आदिभ्योऽच्	५।२।१२७
३२०	अलखल्वो ०	३।४।१८
२००	अल्पाच्तरम्	२।२।३४
४४३	अवयवे च०	४।३।१३५
३१६	अवे तृस्त्रो ०	३।३।१२०
५७८	अव्यक्तानुकर०	५।४।५७
५६४	अव्ययसर्व०	५।३।७१
४०६	अव्ययात्यप्	४।२।१०४
१२३	अव्ययीभावश्च	२।४।१८
१२३	अव्ययीभावे च०	६।३।८१
१२९	अव्ययीभावे शरत्०	५।४।१०७
११९	अव्ययीभाव	२।१।५
१२०	अव्यय विभक्ति०	२।१।६
३३१	अश्वपत्यादिभ्यश्च	४।१।८४
७३६	असिद्धवदत्राभात्	६।४।२२
७४५	अस्तेर्भू	२।४।५२
६१९	अस्मद्युत्तम	१।४।१०७
५२४	अस्मायामेधा०	५।२।१२१
५७४	अस्य च्वौ	७।४।३२
६२७	अह शुभमोर्युस्	५।२।१४०
१६७	अह सर्वैक	५।४।८७
	[आ]	
२७८	आक्वेस्तच्छील०	३।२।१३४
६१	आख्यातोपयोगे	१।४।२९
८	आङ् मर्यादावचने	१।४।८९
४८६	आ च त्वात्	५।१।१२०
६५३	आदृत्तमस्य पिच्च	३।४।९२
६९५	आत औ णल	७।१।३४
२३०	आतश्चोपसर्गे	३।१।१३६
७१०	आतो ङित •	७।२।८१
२३३	आतोऽनुपसर्गे क	३।२।३
८३२	आतो युक०	७।३।३३
३१९	आतो युच्	३।३।१२८
६०६	आतो लोप०	६।४।६४
६९८	आत	३।४।११०
४७३	आत्मन्विश्व०	५।१।९
२४७	आत्ममाने०	३।२।८३
४७४	आत्माध्वानौ०	६।४।१६९
१०१	आधारोऽधि०	१।४।४५
२७४	आने मुक्	७।२।८२
१७०	आन्महत.०	६।३।४६
३२७	आभीक्ष्ण्ये०	३।४।२२
६८६	आम	२।४।८१
७१३	आम्प्रत्ययवत्	१।३।६३
७१८	आमेत	३।४।९०
३४६	आयनेयी०	७।१।२
६८४	आयादय०	३।१।३१

सूत्राङ्कः	सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
१०६	आयुक्त०	२।३।४०
६३६	आर्धधातुकस्येड्	७।२।३५
६२६	आर्धधातुकं शेषः	३।४।११४
७४०	आर्धधातुके	२।४।३५
८५	आशिषि०	२।३।५५
६४५	आशिषि लिङ्०	३।३।१७३
	[इ]	
७८३	इको झल्	१।२।९
४९९ (क)	इगन्ताच्च०	५।१।१३१
२२९	इगुपधज्ञा०	३।१।१३५
३०८	इच्छा	३।३।१०१
७१२	इजादेश्च०	३।१।३६
७२३	इटोऽत्	३।४।१०६
७३२	इड अत्यर्ति०	७।२।६६
१३३	इणः षः	८।३।३९
७१५	इणः षीध्वं०	८।३।७८
५३९	इतराभ्योऽपि०	५।३।१४
६५७	इतश्च	३।४।१००
६०९	इतो मनुष्य०	४।१।६५
३५	इत्थंभूतलक्षणे	२।३।२१
५३२	इदम इश्	५।३।३
५४७	इदमस्थमुः	५।३।२४
५४२	इदमो हिल्	५।३।१६
५३६	इदमो हः	५।३।११
५०२	इदंकिमोरीश्की	६।३।९०
३८१	इनण्यनपत्ये	६।४।१६४
५९४	इन्द्रवरुणभ०	४।१।४९
५६९	इवे प्रतिकृतौ	५।३।९६
७०५	इषुगमियमां छः	७।३।७७
५१५	इष्टादिभ्यश्च	५।२।८८
५५९	इष्ठस्य यिट् च	६।४।१५९
३८४	इसुसुक्तान्तात्कः	७।३।५१
	[ई]	
२१६	ईद्यति	६।४।६५
५६१	ईषदसमाप्तौ०	५।३।६७
३१८	ईषद्दुः सुषु०	३।३।१२६
	[उ]	
४७०	उगवादिभ्यो यत्	५।१।२
५८१	उगितश्च	४।१।६
४५४	उञ्छति	४।४।३२
२९०	उणादयो०	३।३।१
७०४	उतश्च प्रत्ययाद्०	६।४।१०६
३३५	उत्सादिभ्योऽण्	४।१।८६
८१३	उदश्चरः सक०	१।३।५३
३२४	उदितो वा	७।२।५६
१८७	उद्विभ्यां काकु०	५।४।१४८
१६५	उपपदमतिङ्	२।२।१९
८००	उपमानादाचारे	३।१।१०
१५६	उपमानानि०	२।१।५५
७४४	उपसर्गप्रादुर्भ्याम०	८।३।८७
२०६	उपसर्गादध्वनः	५।४।८५
३०४	उपसर्गे घोः किः	३।३।९२
२५५	उपसर्गे च	३।२।९९
१२२	उपसर्जनं पूर्वम्	२।२।३०
८२५	उपाच्च	१।३।८४
१३	उपान्वध्याङ्०	१।४।४८
२०	उपोऽधिके च	१।४।८७
९३	उभयप्राप्तौ०	२।३।६६
५०५	उभावुदात्तौ०	५।२।४४
६८८	उरत्	७।४।६६
१९०	उरः प्रभृति०	५।४।१५१
६९९	उस्यपदान्तात्	६।१।९३
	[ऊ]	
६०२	ऊङुतः	४।१।६६

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का	सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
६०३ ऊतियूति०	३।३।९७	८०५ कर्तरि कमव्य०	१।३।१४
६०४ ऊत्तरपदा०	४।१।६९	२११ कर्तरि कृत्	३।४।६७
१६१ ऊर्यादिच्वि०	१।४।६१	६२२ कर्तरि शप्	३।१।६८
[ऋ]		४ कर्तुरीप्सित०	१।४।४९
२०४ ऋक्पूरब्धू०	५।४।७४	३० कर्तृकरणयो०	२।३।१८
३५१ ऋष्यन्धक०	४।१।११४	१२७ कर्तृकरणे०	२।१।३२
२३२ ऋहलोर्ण्यत्	३।१।१२४	९२ कर्तृकर्मणो कृति	२।३।६५
[ॠ]		३८ कर्मणा यमभिप्रैति०	१।४।३२
२९८ ॠदोरप्	३।३।५७	६ कर्मणि द्वितीया	२।३।२
[ए]		२३२ कर्मण्यण्	३।२।१
१६२ एकविभक्ति०	१।२।४४	१५ कर्मप्रवचनीया	१।४।८३
६९० एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्	७। ।१०	१७ कर्मप्रवच०	२।३।८
२४० एको गोत्रे	४।१।९३	८३५ कर्मवत् कर्मणा	३।१।८७
२३८ एजे खश्	३।२२।२८	८०२ कष्टाय क्रमणे	३।१।१४
		१९२ कस्कादिषु च	८।३।४८
७२० एत ऐ	३।४।९३	७९९ काम्यच्च	३।१।९
५४५ एतद	५।३।५	३ कारके	१।४।२३
२१८ एतिस्तुशास०	३।१।१०९	२९२ कालसमय०	३।३।१६७
५४३ एतेतौ रथो	५।३।४	४१६ कालाट्ठञ्	४।३।११
७९ एनपा द्वितीया	२।३।३१	२७ कालाध्वनो०	२।३।५
६४६ एरु	३।४।८६	३३४ क्ङिति च	७।२।११८
६९७ एर्लिङि	६।४।११०	६६५ किदाशिषि	३।४।१०४
[ओ]		५४८ किमश्च	५।३।२५
३६२ ओदितश्च	८।२।४५	५०१ किमिदम्भ्या०	५।२।४०
७७५ ओ पुयण्ज्यपरे	७।४।८०	५५२ किमेत्तिङ्०	५।४।११
३३८ ओर्गुण	६।४।१४६	५३७ किमोऽत्	६।३।१२
[क]		५६७ कियत्तदो०	६।३।९२
८०४ कण्ड्वादिभ्यो यक्	३।१।२७	५२९ किसर्वनाम०	५।३।२
३५४ कन्याया०	४।१।११६	१५० कुगतिप्रादय.	२।२।१८
४९३ कपिज्ञात्यो०	५।१।१२७	५३१ कुतिहो	७।२।१०४
३६५ कम्बोजाल्लुक्	४।१।१७५	५६६ कुत्सिते	५।३।७४
७३ करणे च स्तोका०	२।३।३३	३९५ कुमुदनड०	४।२।८७
२४९ करणे यज.	३।२।८५	६७७ कुहोश्चुः	७।४।६२

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
३६२ कुरुनादि०	४।१।१७२
२३७ कृकमि०	८।३।४६
६८७ कृञ् चानुप्रयुज्यते०	३।१।४०
२३६ कृञो हेतु०	३।२।२०
८३ कृञः प्रतियत्ने	२।३।५३
२१४ कृत्यल्युटो०	३।३।११३
२१० कृत्याः	३।१।९५
८६ कृत्यानां०	२।३।७१
९१ कृत्वोऽर्थप्रयोगे०	२।३।६४
५७३ कृभ्वस्तियोगे०	५।४।५०
५२१ केशाद्वो०	५।२।१०९
४२३ कोशाड्ढञ्	४।३।४२
६६६ क्क्ङिति च	१।१।५
२५६ क्तक्तवतू०	१।१।२५
९४ क्तस्य च०	२।३।६७
३०० क्त्रेर्मम्नित्यम्	४।४।२०
९९६ क्यचि च	७।४।३३
७९८ क्यस्य विभाषा	६।४।५०
३८७ क्रमादिभ्यो०	४।२।६१
५० क्रियार्थोप०	२।३।१४
५६५ क्रीतात्०	४।१।५०
४४ क्रुधद्रुह०	१।४।३७
४५ क्रुधद्रुहो०	१।४।३८
७६९ क्र्यादिभ्यः श्ना	३।१।८१
२७१ क्वसुश्च	३।२।१०७
५३८ क्वाति	७।२।१०५
२४४ क्विप् च	३।२।७६
३५८ क्षत्राद् घः	४।१।१३८
२६५ क्षायो मः	८।२।५३
७९१ क्षुभ्नादिषु च	८।४।३९
[ख]	
२४८ खित्यनव्ययस्य	६।३।६६
[ग]	
९ गतिबुद्धि०	१।४।५२
५४ गत्यर्थकर्मणि०	२।३।१२
८१८ गन्धनावक्षेपण०	१।३।३२
७०६ गमहनजन०	६।४।९८
७०७ गमेरिट् परस्मैपदेषु	७।२।५८
३४१ गर्गादिभ्यो यञ्	४।१।१०५
४१० गहादिभ्यश्च	४।२।१३८
६७२ गातिस्था०	२।४।७७
४९१ गुणवचन०	५।१।१२४
७८६ गुणो यङ्लुकोः	७।४।८२
६८२ गुपूधूप०	३।१।२८
३१० गुरोश्च हलः	३।३।१०३
२३१ गेहे कः	३।१।१४४
३४४ गोत्राद् यून्य०	४।१।९४
४४७ गोपयसोर्यत्	४।३।१६०
१५० गोरतद्धित०	५।४।९२
४४६ गोश्च पुरीषे	४।३।१४५
१६३ गोस्त्रियो०	१।२।४८
३८२ ग्रामजनबन्धु०	४।२।४३
४०२ ग्रामाद्यखञौ	४।२।९४
[घ]	
२९५ घञि च०	६।४।२७
७४६ घ्वसोरेद्०	६।४।११९
[च]	
२२३ चजोः कु घि०	७।३।५२
१०० चतुर्थी चाशि०	२।३।७३
१३८ चतुर्थी तदर्था०	२।१।३६
३९ चतुर्थी सम्प्रदाने	२।३।१३
४५२ चरति	४।४।८
२३४ चरेष्टः	३।२।१६
१६६ चार्थे द्वन्द्वः	२।२।२९

सूत्राङ्क. सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
८२६ चिण्भावकर्मणो	३।१।६६
२८५ च्छ्वो: शूड०	६।४।१९
६७० च्लि लुङि	३।१।४३
६७१ च्लेः सिच्	३।१।४४
५७७ च्वौ च	७।४।२६
[छ]	
३१५ छादेर्घे०	६।४।९६
[ज]	
३६१ जनपदशब्दात्०	४।१।१६८
३८१ जनपदे लुप्	४।२।८१
६२ जनिकर्तु०	१।४।३०
२८० जल्पभिक्ष०	३।२।१५५
३२५ जहातेश्च क्त्वि	७।४।४३
६०० जातेरस्त्रीविषया०	४।१।६३
८६ जासिनिप्रहण०	२।३।५६
४२८ जिह्वामूला०	४।३।६२
३४३ जीवति तु०	४।१।१६३
७५३ जुसि च	७।३।८३
७४६ जुहोत्यादिभ्यः श्लुः	२।४।७५
८१ ज्ञोऽविदर्थस्य०	२।३।५१
५५६ ज्य च	५।३।६१
५५७ ज्यादादीयसः	६।४।१६०
३२७ ज्वरत्वर०	६।४।२०
[झ]	
१३२ झय:	५।४।१११
६९३ झलो झलि	८।२।२६
३६६ झय	८।२।१०
७२२ झस्य रन्	३।४।१०५
६६३ झेर्जुस्	३।४।१०८
६२४ झोन्त	७।१।३
[ट]	
५८२ टिड्ढाणञ्०	४।१।१५

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
७०९ टित आत्मनेपदानां	६।४।७९
४८९ टेः	६।४।११५
३०१ ट्वितोऽथुच्	३।३।८९
[ठ]	
४३१ ठगायस्थानेभ्य	४।३।७५
३६० ठस्येक	७।३।५०
[ड]	
२९९ ड्वित क्त्रि	३।३।८८
[ण]	
६७९ णल् उत्तमो वा	७।१।९१
७७१ णिचश्च	१।३।७४
६११ ण्यासश्रन्थो०	३।३।१०७
२२६ ण्वुल्तृचौ	३।१।१३३
[त]	
६१२ तङानावात्मनेपदम्	१।४।१००
४३० तत आगत	४।३।७४
२५४ तत्पुरुषे कृति०	६।३।१४
१६६ तत्पुरुषस्या०	५।४।८६
१३३ तत्पुरुष	२।१।२२
१५१ तत्पुरुष समाना०	१।२।४२
५७० तत्प्रकृतवचने०	५।४।२१
७७३ तत्प्रयोजको०	१।४।५५
४१९ तत्र जात	४।३।२५
४८४ तत्र तस्येव	५।१।११६
४२४ तत्र भव	४।३।५३
४६७ तत्र साधु	४।४।९८
३७२ तत्रोद्धृतम०	४।२।१४
१६४ तत्रोपपद०	३।१।९२
७ तथायुक्त०	१।४।५०
३८५ तदधीते	४।२।५९
४८० तदर्हति	५।१।६३
३८८ तदस्मिन्नस्तीति	४।२।६७
४९८ तदस्य संजातम्०	५।२।३६

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः	सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
१६ तदस्यास्त्य०	५।२।९४	६२१ तिङ्शित्०	३।४।११३
४३६ तद्गच्छति०	४।३।८५	२८७ तितुत्रतथ०	७।२।९
१२८ तद्धिताः	४।१।७६	६१० तिप्तस्झि०	३।४।९९
१४७ तद्धितार्थोत्तर०	२।१।५१	५०८ ति विंशते०	६।४।१४२
१४९ तद्धितेष्वचामादेः	७।२।११७	७७७ तिष्ठतेरित्	७।४।५
३६४ तद्राजस्य०	२।४।६२	७६१ तुदादिभ्यः शः	३।१।७७
४६३ तद्वहति०	४।४।७६	५१ तुमर्थाच्च०	२।३।१५
७६३ तनादिकृञ्भ्य उः	३।१।७९	२९१ तुमुन्ण्वुलौ०	३।३।१०
७६४ तनादिभ्यस्तथासोः	२।४।७९	९८ तुल्यार्थैर०	२।३।७२
८३० तनोतेर्यकि	६।४।४४	६४७ तुह्योस्तातङ्०	७।१।३५
८३१ तपोनुतापे च	३।१।६५	१३६ तृतीया तत्०	२।१।३०
४५१ तरति	४।४।५	१८ तृतीयार्थे	१।४।८५
२१२ तयोरेव कृत्य०	३।४।७०	१२५ तृतीयासप्त०	२।४।८४
५५१ तरप्तमपौ घः	१।१।२२	२७९ तृन्	३।२।१३५
४१३ तवकममका०	४।३।३	७२८ तृफलभज०	६।४।१२२
२१३ तव्यत्तव्या०	३।१।९६	३६३ ते तद्राजाः	४।१।७४
५१७ तसौ मत्वर्थे	१।४।१९	४७६ तेन क्रीतम्	५।१।३७
६८९ तस्थस्थमिपां०	३।४।१०१	४८३ तेन तुल्यं	५।१।११५
१५९ तस्मान्नुडचि	६।३।७४	४४९ तेन दीव्यति	४।४।२
४१२ तस्मिन्नणि च	४।३।२	४८२ तेन निर्वृत्तम्	५।१।७८
४७१ तस्मै हितम्	५।१।५	४८९ तेन निर्वृत्तम्	४।२।६८
३९० तस्य निवासः	४।२।६९	४४० तेन प्रोक्तम्	४।३।१०१
५०६ तस्य पूरणे डट्	५।२।४८	३६६ तेन रक्तं०	४।२।१
४८५ तस्य भावस्त्व०	५।१।११९	२७६ तौ सत्	३।२।१२७
४४२ तस्य विकारः	४।३।१३४	४०८ त्यदादीनि च	१।१।७४
३७९ तस्य समूहः	४।२।३७	१७२ त्रेस्त्रयः	६।३।४८
३३७ तस्यापत्यम्	४।१।९२	५११ त्रेः सम्प्रसारणं च	५।२।५५
४४१ तस्येदम्	४।३।१२०	[थ]	
४७७ तस्येश्वरः	५।१।४२	७११ थासः से	३।४।८०
६१७ तान्येकवचन	१।४।१०२	[द]	
६४१ तासस्त्योर्लोपः	७।४।५०	४०४ दक्षिणापश्चात्	४।२।९८
६१६ तिङस्त्रीणि०	१।४।१०१	४८१ दण्डादिभ्यो यत्	५।१।६६
५५० तिङश्च	५।३।५६	७५७ दधस्तथोश्च	८।२।३८

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का	सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
२६८ दधातेर्हि	७।४।४२	[ध]	
५२० दन्त उन्नत०	५।२।१०६	४४७ धर्मं चरति	४।४।४१
८१५ दाणश्च सा चेत्०	१।३।५५	२०८ धातो	३।१।९१
७५५ दाधाध्वदाप्	१।१।२०	७८५ धातोरेकाचो०	३।१।२२
२८६ दाम्नीशस०	३।२।१८२	७७९ धातोः कर्मणः	३।१।७
१४८ दिक्पूर्वपदाद०	४।२।१०७	४९५ धान्यानां भवने०	५।२।१
१४६ दिक्सख्ये०	२।१।५०	४२ धारेरुत्तमर्णः	१।४।३५
४२५ दिगादिभ्यो यत्	४।३।५४	७१६ घि च	८।२।२५
३३२ दित्यदित्या०	४।१।८५	४६४ धुरो यड्ढकौ	४।४।८७
३१ दिव कर्म च	४।१।४३	५५ ध्रुवमपाये०	१।४।२४
८८ दिवस्तदर्थस्य	२।३।५८	[न]	
७५८ दिवादिभ्यः श्यन्	३।१।६९	२२ न क्त्वा सेट्	१।२।१८
७८८ दीर्घोऽकित	७।४।८३	५९७ न क्रोडादि०	४।१।५६
७४ दूरान्तिकार्थेभ्य०	२।३।३५	३६७ नक्षत्रेण युक्तः	४।२।३
८० दूरान्तिकार्थै०	२।३।३४	१११ नक्षत्रे च लुपि	२।३।४५
२६७ दृढ स्थूल०	७।२।२०	५९८ नखमुखात्०	४।१।५०
२५० दृशेः क्वनिप्	३।२।९४	८०६ न गतिहिंसा०	४।३।१५
३६६ दृष्टं साम	४।२।७	१५७ नञ्	२।२।६
२६९ दो दद्घोः	७।४।४६	३९८ नडशादाड्०	४।१।८८
४०२ द्युप्रागपा०	४।२।१०१	१२७ नदीभिश्च	२।१।२०
२०२ द्वन्द्वश्च प्राणि०	२।४।२	४०३ नद्यादिभ्यो ढक्	४।१।९७
२०३ द्वन्द्वाच्चुदष०	५।४।१०६	२८८ नन्दिग्रहि०	३।१।१३४
१६८ द्वन्द्वे घि०	२।२।३२	१३१ नपुंसकाद०	५।४।१०९
१५३ द्विगुरेक०	२।४।१	३१२ नपुंसके भावे०	३।३।११४
१३४ द्विगुश्च	२।१।२३	२०७ न पूजनात्	५।४।६९
५८८ द्विगोः	४।१।२१	७६६ न भकुर्छुराम्	८।२।७९
१३५ द्वितीया श्रिता०	२।१।२४	५२ नमः स्वस्ति०	२।३।१६
५०४ द्वित्रिभ्यां तयस्या०	५।२।४३	६७४ न माङ्योगे	६।४।७४
१८६ द्वित्रिभ्यां षः	५।४।११५	८३७ न यदि	३।२।११३
६८९ द्विर्वचनेऽचि	१।१।५९	३८६ न य्वाभ्याम्०	७।३।३
५५३ द्विवचनविभ०	५।३।५७	९६ न लोकाव्यय०	२।३।६९
५१० द्वेस्तीय	५।२।५४	१५८ न लोपो नञः	६।३।७३
१७१ द्वैयष्ट्न०	६।३।४७	७२७ न हृद्भ्यश्चतुर्भ्यः	७।२।५९

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः	सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
१३० नस्तद्धिते	६।४।१४४	३७१ परिवृतो रथः	४।२।१०
५०३ नान्तादसंख्या०	५।२।४९	८०८ परिव्यवेभ्यः	१।३।१८
१२४ नाव्ययीभावा०	२।२।८३	८२३ परेर्मृषः	१।३।८२
४६१ निकटे वसति	४।४।७३	६२६ परोक्षे लिट्	३।२।११५
७६७ नित्यं करोतेः	६।४।१०८	५३४ पर्यभिभ्यां च	५।३।९
७८७ नित्यं कौटिल्ये०	३।१।२३	६९४ पाघ्राध्मा०	७।३।७८
६५४ नित्यं ङितः	३।४।९९	१८५ पादस्य लोप०	५।४।१३८
६२८ नित्यवीप्सयोः	८।१।४	२०१ पिता मात्रा	१।२।७०
४४५ नित्यं वृद्ध०	४।३।१४४	३७८ (क) पितृव्य०	४।२।३६
२९६ निवासचिति०	३।३।४१	५९२ पुंयोगादाख्या०	४।१।४८
१९४ निष्ठा	२।२।३६	२८९ पुवः संज्ञायाम्	३।२।१८५
२५७ निष्ठा	३।२।१०२	७०८ पुषादि०	३।१।५५
२६६ निष्ठायां सेटि	६।४।५२	३१४ पुंसि संज्ञा०	३।३।११८
६७६ नेर्गदनद०	८।४।१४	१८८ पूर्णाद्विभाषा	५।४।११९
६९२ नेटि	७।२।४	५९९ पूर्वपदात्संज्ञायाम्०	८।४।३
२४२ नेड्वशि कृति	७।२।८	८१६ पूर्ववत् सनः	१।३।६२
८०७ नेर्विशः	१।३।१७	५१३ पूर्वादिनिः	५।२।८६
४६६ नौवयोधर्म०	४।४।९१	१४३ पूर्वापराधरोत्तर०	२।२।१
७९७ नः क्ये	१।४।१५	६३० पूर्वोऽभ्यासः	६।१।४
[प]		७२ पृथग्विना०	२।३।३२
४७९ पङ्क्तिविंशति०	५।१।५९	४८७ पृथ्वादिभ्यः०	५।१।१२२
६०३ पङ्गोश्च	४।१।६८	२१७ पोरदुपधात्	३।१।९८
२६४ पचो वः	८।२।५२	५४६ प्रकारवचने थाल्	५।३।२३
१३९ पञ्चमी भयेन	२।१।३७	५५५ प्रकृत्यैकाच्	६।४।६३
१०८ पञ्चमी विभक्ते	२।३।४२	५७१ प्रज्ञादिभ्यश्च	५।४।३८
६७ पञ्चम्यपाङ्०	२।३।१०	६८ प्रतिः प्रति०	१।४।९२
५३० पञ्चम्यास्तसिल्	५।३।७	६९ प्रतिनिधि०	२।३।११
१४१ पञ्चम्याः स्तोका०	६।३।२	५९३ प्रत्ययस्थात्०	७।३।४४
१९४ पत्यन्तपुरो०	५।१।१२८	४१४ प्रत्ययोत्तर०	७।२।९८
१७३ परवल्लिङ्गम्०	२।४।२६	४७ प्रत्याङ्भ्यां श्रुवं०	१।४।४०
६२७ परस्मैपदानां	३।४।८२	१२१ प्रथमानिर्दिष्टम्०	१।२।४४
५८ पराजेरसोढः	१।४।२६	४३५ प्रभवति	४।३।८३
४९ परिक्रयणे०	१।४।४४	४९९ प्रमाणे द्वय०	५।२।३७

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का	सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
५५४ प्रशस्यस्य श्र	५।३।६०	७५४ भियोऽन्यतरस्याम्	६।४।११५
११० प्रसितोत्सुकाभ्या०	२।३।४४	५७ भीत्रार्थाना०	१।४।२५
४५८ प्रहरणम्	४।४।५७	७५२ भीह्रीभृहुवां०	३।१।३९
११७ प्राक्कडारात्०	२।१।३	८१९ भुजोऽनवने	१।३।६६
४६६ प्राक्क्रीताच्छ	५।१।१	६३ भुव प्रभव	१।४।३१
५६३ प्रागिवात्क	५।३।७०	६७८ भुवो वुग्	६।४।८८
४६२ प्राग्घिताद्यत्	४।४।७५	६७३ भूसुवोस्तिङि	७।३।८८
५२८ प्राग्दिशो०	५।३।१	२२५ भोज्य भक्ष्ये०	७।३।६९
४७५ प्राग्वतेष्ठञ्	५।१।१८	२८३ भ्राजभास०	३।२।१७७
४४८ प्राग्वहतेष्ठक्	४।४।१	[म]	
५८५ प्राचा ष्फ स्तद्धित	४।१।१७	४१५ मध्यान्म	४।३।८
५१८ प्राणिस्थादा०	५।२।९६	२४६ मन	३।२।८२
१ प्रातिपदिकार्थ०	२।३।४६	५६ मन्यकर्मण्य०	२।३।१७
८२२ प्राद्वह	१।३।८१	४३४ मयट् च	४।३।८२
१७४ प्राप्तापन्ने च०	२।२।४	४४४ ममङ्वैतयो ०	४।३।१४१
२२१ प्रायभव	४।३।३९	६६८ माङि लुङ्	३।३।१७५
४१७ प्रावृष एण्य	४।३।१७	३५२ मातुरुत्सङ्ख्या०	४।१।११५
४२० प्रावृषष्ठप्	४।३।२६	३९७ मादुपधायाश्च०	८।२।९
२४० प्रियवशे०	३।२।६१	७७८ मितां ह्रस्व	६।४।९२
९० प्रेष्यब्रुवो०	२।२।६१	२२१ मृजेर्विभाषा	३।१।११३
[ब]		२२४ मृजेर्वृद्धि	७।१।११४
१८२ बहुव्रीहौ०	५।४।११३	६५२ मनि	३।४।८९
५५८ बहोर्लोपो०	६।४।१५८	२७२ म्वोश्च	८।२।६५
५७२ बह्वल्पार्था०	५।४।४२	[य]	
५९१ बह्वादिभ्यश्च	४।१।४५	७९२ यङोऽचि च	२।४।७४
३४८ बाह्वादिभ्यश्च	४।१।९६	७९३ यङो वा	७।३।९४
[भ]		३०२ यजयाच०	३।३।९०
८३३ भञ्जेश्च चिणि	६।४।३३	५८३ यञश्च	४।१।१६
६३३ भवतेर	७।४।७३	३४२ यञञोश्च	२।४।६४
८२९ भावकर्मणो	१।३।१३	३४५ यञिञोश्च	४।१।१०१
२९३ भावे	३।३।१८	१०७ यतश्च निर्धारणम्	२।३।४१
३८० भिक्षादिभ्योऽण्	४।२।३८	५०० यत्तदेतेभ्य ०	५।२।३९
२३५ भिक्षासेना०	३।२।१७	११४ यस्मादधिक०	२।३।९

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः	सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
१०३ यस्य च भावेन०	२।३।३७	२७३ लटः शतृ०	३।२।१२४
७८६ यस्य हलः	६।४।४६	८३८ लट् स्मे	३।२।११८
६५६ यासुट्०	३।४।१०२	६०८ लः कर्मणि च०	३।४।६६
२२७ युवोरनाकौ	७।१।१	६११ लः परस्मैपदम्	१।४।६६
४११ युष्मदस्मदोरन्य०	४।३।१	६६४ लिङ् आशिषि	३।४।११६
६१८ युष्मद्युपपदे०	१।४।१०५	६७५ लिङ् निमित्ते लृङ्०	३।३।३
३०७ यूनस्तिः	४।१।७७	६६० लिङः सलोपो०	७।२।७६
७६८ ये च	६।४।१०६	७२१ लिङः सीयुट्	३।४।१०२
३५६ ये चाभाव०	६।४।१६८	७१४ लिटस्तझयो०	३।४।८१
३४ येनाङ्गविकारः	२।३।२०	६२६ लिटि धातोर०	६।१।८
[र]		२७० लिटः कानज्वा	३।२।१०६
४८८ र ऋतो०	६।३।१६१	६३५ लिट् च	३।४।११५
४५५ रक्षति	४।४।३३	७३० लिटयन्यतरस्याम्	२।४।४०
२५८ रदाभ्यां०	८।२।४२	६५६ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः	६।४।७१
३२३ रलो व्युप०	१।२।२६	६६७ लुङ्	३।२।११०
१६७ राजदन्तादिषु०	२।२।३१	७३५ लुङ्सनोर्घस्लृ	२।४।३७
२५१ राजनि युधि०	३।२।६५	६४० लुटः प्रथमस्य	२।४।८५
३५५ राजश्वशुराद्यत्	४।१।१३७	३६३ लुपि युक्त०	१।२।५१
१६६ राजाहः सखि०	५।४।६१	३३८ लुबविशेषे	४।२।४
१६८ रात्राह्नाहाः०	२।४।२६	२७७ लृटः सद्वा	३।३।१४
४५ राधीक्ष्यो०	१।४।३६	६४३ लृट् शेषे च	३।३।१३
२८४ राल्लोपः	६।४।२१	६४४ लोट् च	३।३।१६२
४०१ राष्ट्रावार०	४।२।६३	६४८ लोटो लङ्वत्	३।४।८५
६४२ रि च	७।४।५१	७०३ लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः	६।४।१०७
७६० रीगृदुपधस्य च	७।४।६०	६६२ लोपो व्योर्वलि	६।१।६६
३७८ रीङ् ऋतः	७।४।२७	५१६ लोमादि०	५।२।१००
४० रुच्यर्थानां०	१।४।३३	३१३ ल्युट् च	३।३।११५
८४ रुजार्थानां०	२।३।५४	२६० ल्वादिभ्यः	८।२।४४
७६२ रुधादिभ्यः श्नम्	३।१।७८	[व]	
३५६ रेवत्यादिभ्य०	४।१।१४६	६८१ वदव्रज०	७।२।३
[ल]		४८७ वयसि प्रथमे	४।१।२०
२१ लक्षणेत्थं	१।४।६०	३६४ वरणादिभ्यश्च	४।२।८२

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद सूत्राङ्का	सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद सूत्राङ्का
४२६ वर्गान्ताच्च	४।३।६३	[श]	
४६० वर्णदृढादिभ्य०	५।१।१२३	४५६ शब्ददर्दुरं०	४।४।३४
५८६ वर्णादनुदात्तात्०	४।१।३८	८०३ शब्दवैरकलहा०	३।१।१७
८३६ वर्तमानसामीप्ये	३।३।१३१	४२६ शरीरावयवाच्च	४।३।५५
६०६ वर्तमाने लट्	३।२।१२३	४७२ शरीरावयवा०	५।१।६
५२५ वाचो ग्मिनिः	५।२।१२४	९०६ शार्ङ्गरवा०	४।१।७३
५६८ वा बहूनां	५।३।३६	२२० शास इदङ्०	६।४।३४
१६० वामदेवाड्ड्य०	४।२।९	७३१ शासिवसि०	८।३।६०
३७७ वाय्वृतु०	४।२।३१	३९८ शिखाया वलच्	४।२।८९
५९ वारणार्थानामी०	१।४।२७	४५८ शिल्पम्	४।४।५५
२०६ वाऽसरूपो०	३।१।९४	३५० शिवादिभ्योऽण्	४।१।११२
२४३ विड्वनोरनु०	६।४।४१	७४७ शीङः सार्व०	७।४।२१
२७५ विदेः शतु	७।१।३६	७४८ शीङो रुट्	७।१।७
४३२ विद्यायोनि०	४।३।७७	४६० शीलम्	४।४।६१
६५८ विधिनिमन्त्रणा०	३।३।१३१	३७१ शुभ्रादिभ्यश्च	४।२।२६ /
५६० विमतोर्लुक्	५।३।६५	२६३ शुषः कः	८।२।५१ /
८०६ विपराभ्यां जेः	१।३।१९	६१५ शेषात्कर्तरि०	१।३।७९
११५ विभाषा कृञि	१।४।९८	१६५ शेषाद्विभाषा	५।४।१५४
८३४ विभाषा चिण्णमुलोः	७।१।६९	४०० शेषे	४।२।९२
७१ विभाषा गुणे०	२।३।२५	६२० शेषः प्रथमः	१।४।१०८
८९ विभाषोपसर्गे	२।३।५९	१७६ शेषो बहुव्रीहिः	२।२।२३
५७५ विभाषा साति०	५।४।५२	७०० श्रुवः शृ च	३।१।७४
५६२ विभाषा सुपो०	५।३।६८	७४३ श्नसोरल्लोपः	६।४।१११
१५५ विशेषणं विशे०	२।१।५७	५१२ श्रोत्रियच्छ०	५।२।८४
४०६ वृद्धाच्छः	४।२।११४	४१ श्लाघह्नुङ्०	१।४।३४
४०७ वृद्धिर्यस्या०	१।१।७३	७५० श्लौ	६।१।१०
७२६ वृद्धस्य स्वसृनो	।।३।५२	[ष]	
५९० वोतो गुण०	४।१।४४	५०९ षट्कति०	५।२।५१
८७ व्यवहृपणोः०	२।३ ५७	१४२ षष्ठी	२।२।८
८२४ व्याङ्परिभ्यो०	१।३।८३	१०४ षष्ठी चानादरे	२।३।३८
४९६ व्रीहिशाल्योर्ढक्	५।२।२	७५ षष्ठी शेषे	२।३।५०
५२३ व्रीह्यादिभ्यश्च	५।२।११६	७६ षष्ठी हेतुप्रयोगे	२।३।२६

सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः	सूत्राङ्कः सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्काः
७८ षष्ठ्यतसर्थं०	२।३।३०	५७६ सात्पदाद्योः	८।३।१११
२८३ षः प्रत्ययस्य	१।३।६	२९ साधकतमं	१।४।४२
५८६ षिद्गौरादिभ्यश्च	४।१।४१	१०९ साधुनिपुणा०	२।३।४३
[स]		४१८ सायंचिरं०	४।३।२३
४९२ सख्युर्यः	५।१।१२७	७०१ सार्वधातुकमपित्	१।२।४
१५४ स नपुंसकम्	२।४।१७	६२३ सार्वधातुकार्ध०	७।३।८४
७७० सत्यापपाश०	६।१।२५	८२७ सार्वधातुके यक	३।१।६७
६८३ सनाद्यन्ता धातवः	३।१।३२	७४ साऽस्य देवता	४।२।२३
२८२ सनाशंस०	३।१।१६८	७२४ सुट् तिथोः	३।४।१०७
७८४ सनि ग्रहगुहोश्च	७।२।१२	७९४ सुप आत्मन०	३।१।८
७८० सन्यङोः	६।१।९	७९५ सुपो धातु०	२।४।७१
५१४ सपूर्वाच्च	५।२।८७	२४५ सुप्यजातौ०	३।२।७८
११२ सप्तमीपञ्चम्यौ०	२।३।७	२४ सुः पूजायाम्	१।४।९४
१७८ सप्तमीविशे०	२।२।३५	१८९ सुहृद्दुर्हृदौ०	५।४।१५०
१४५ सप्तमी शौण्डैः	२।१।४०	१९१ सोऽपदादौ	८।३।३८
१०२ सप्तम्यधिकरणे च	२।३।३६	३७६ सोमाट्ट्यण्	४।२।३०
५३५ सप्तम्यास्त्रल्	५।३।१०	४३९ सोऽस्य निवासः	४।३।८९
२५३ सप्तम्यां जनेर्डः	३।२।९७	६०५ संहितशफलक्षण०	४।१।७०
४६८ सभायाः यः	४।४।१०५	७८१ सः स्यार्धधातुके	७।४।४९
११६ समर्थः पदविधिः	२।१।१	१५२ सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः	२।१।५१
३३० समर्थानां प्रथमा०	४।१।८२	५०३ संख्याया अ०	५।२।४२
८१० समवप्रविभ्यः	१।३।२२	१८६ संख्यासुपूर्वस्य	५।६।१४
८१४ समस्तृतीया०	१।३।५४	३६ संज्ञोत्यन्तर०	२।३।२२
१२१ समानकर्तृक०	३।४।२१	२ सम्बोधने च	२।३।४७
३२६ समासेऽनञ्०	७।१।३७	४२२ सम्भूते	४।३।४१
७७ सर्वनाम्नस्तृतीया च	२।३।२७	२५९ संयोगादेरातो०	८।२।४३
५४१ सर्वस्य सो०	५।३।६	४५३ संस्सृष्टे	४।४।२२
५४० सर्वैकान्य०	५।३।१५	४५० संस्कृतम्	४।३।३
७१९ सवाभ्यां वाऽमौ	३।४।९१	३७३ संस्कृतं भक्षाः	४।२।१६
३३ सहयुक्तेऽप्रधाने	२।१।१९	६५० सेह्यपिच्च	३।४।८७
११८ सह सुपा	२।१।४	७६० स्तुसुधूञ्भ्यः०	७।२।७२
२५२ सहे च	३।२।९६	१४० स्तोकान्तिक०	२।१।३९

सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का	सूत्राङ्क सूत्राणि	अध्यायपाद-सूत्राङ्का
५७६ स्त्रियाम्	४।१।३	७४१ हनो वध०	२।४।४२
३०५ स्त्रियां क्तिन्	३।३।९४	७३८ हन्तेर्जः	६।४।३६
१८० स्त्रिया पुंवद्०	६।३।३३	८१७ हलन्ताच्च	१।२।१०
३३६ स्त्रीपुंसाभ्याम्०	४।१।८७	३१७ हलश्च	३।३।१२१
३५३ स्त्रीभ्यो ढक्	४।१।१२०	५८४ हलस्तद्धितस्य	६।४।१५०
७५६ स्थाघ्वोरिच्च	१।२।१७	६३१ हलादि शेष	७।४।६०
४३ स्पृहेरीप्सित	१।४।३६	३३३ हनो यमा०	८।४।६४
६६६ स्मोत्तरे लङ् च	३।३।१७६	२६१ हु	३।४।२
६२८ स्यतासी०	३।१।३३	१६ ह्रौ	१।४।८६
८२८ स्यसिच्०	६।४।६२	७३३ हुझल्भ्यो हेधि	६।४।१०१
२८ स्वतन्त्र कर्ता (७७२)	१।४।५४	७०२ हुश्नुवो सार्वधातुके	६।४।८७
३०३ स्वपो नन्	३।३।९१	१० हृक्रोरन्यतरस्याम्	१।४।५३
६६१ स्वरतिसूति०	७।२।४४	६३२ ह्रस्व	७।४।५६
६१४ स्वरितञित ०	१।३।७२	७७४ हेतुमति च	३।१।२६
५६६ स्वाङ्गाच्चोप०	४।१।५४	४३३ हेतुमनुष्ये०	४।३।८१
७५६ स्वादिभ्य श्नुः	३।१।७३	८४० हेतुहेतुमतोर्लिङ्	३।३।१५६
१६५ स्वामीश्वरा०	२।३।३६	२७ हेतौ	२।३।२३
[ह]		४६७ हैयङ्गवीन०	५।२।२३
७१७ ह एति	७।४।५२	११६ ह्रस्वस्य पिति०	६।१।७१



अथ समासप्रकरणम्

अथ (केवल) समासः ॥१॥

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तर-

---

अथ समासप्रकरणम्। समास इति—समास पाँच प्रकार का होता है।

तत्रेति—समसन[1] (संक्षेप) अर्थात् वहुत से पदों का मिलकर एक पद वन जाना समास कहलाता है।

जव अनेक पदों को एक साथ मिलाकर एक पद के समान वना लिया जाता है तो यह मिला हुआ पद समस्त (Compound) पद कहलाता है तथा यह पदों के मिलने की प्रक्रिया समसन या समास। समास के निम्नलिखित ५ प्रकार हैं—

(१) स चेति—विशेष संज्ञा से रहित 'केवल समास' नाम का प्रथम समास (का प्रकार) है। अर्थात् जिस समास का कोई अन्य नाम नहीं, वह केवल समास कहलाता है, जैसे—'भूतपूर्वः' यह किसी विशेष समास के प्रकरण में नहीं आता, अतः यह केवल समास है।

(२) प्रायेणेति—प्रायः जिसमें पूर्वपद[2] का अर्थ प्रधान होता है वह अव्ययीभाव समास कहलाता है, यह द्वितीय समास (का प्रकार) है जैसे—'उपगङ्गं वाराणसी' (गङ्गा के समीप वाराणसी है)—यहाँ 'उप' शब्द का अर्थ (समीप) प्रधान है, क्योंकि इसका ही वाराणसी से साक्षात् अन्वय होता है।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रधान नहीं भी होता, जैसे—उन्मत्तगङ्गम् (उन्मत्ता गङ्गा यत्र-जहाँ गङ्गा उन्मत्त है) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है। (सि० कौ०)

(३) प्रायेणोत्तरेति—जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है वह तत्पुरुष समास कहलाता है, यह समास का तीसरा प्रकार है, जैसे—'राजपुरुषम् आनय (राजा के पुरुष को लाओ) यहाँ आनयन (लाना) क्रिया से 'पुरुष' का अन्वय होता है, अतः यहाँ पुरुष (उत्तरपद) का अर्थ ही प्रधान है। यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान नहीं होता, जैसे "अतिमालः" (मालाम् अतिक्रान्तः) यहाँ पूर्वपद 'अति' का अर्थ प्रधान है। (सि० कौ०)

---

१. सम् 'पूर्वक अस् (एक साथ रखना) धातु से समास शब्द बनता है।

२. समस्त पद के पहले पद को पूर्वपद तथा अन्तिम पद को उत्तरपद कहते है।